सुमित्रानंदन पंत ग्रंथावली

खण्ड एक

हार वीणा ग्रन्थि
पल्लव गुंजन ज्योत्स्ना

राजकमल प्रकाशन
नयी दिल्ली पटना

यह ग्रथावली

युग को वाणी देने के क्रम मे युग युग का मौन भग कर जानेवाले युगातर कारी कवि सुमित्रानदन पत की कृतियो मे आधुनिक हिन्दी कविता का एक सुदीर्घ और सम्पूर्ण युग प्रतिबिम्बित है। कविता के प्रागण मे उनकी सजनशील प्रतिभा लगातार छ दशको तक नवीन आलोक-रश्मियाँ बिखेरती रही। प्रकृति और मानव अन्तर की सारी सौन्दयमयता उनकी रचनाओ मे जैसे जीवन्त हो उठी है। जीवन के प्रति जो उनका सहज दष्टिकोण था, मानव के उज्ज्वलतर भविष्य के प्रति जो उनकी अगाध आस्था थी उसकी झलक अन्यत्र दुलभ है। इसी विशिष्टता ने उनके काव्य को शाश्वत जीवन्तता और जीवन को मोहक काव्यात्मकता प्रदान की, तथा इसी के चलते उनकी काव्य-साधना के प्रत्येक चरण को ऐतिहासिक अथवत्ता और गरिमा प्राप्त हुई। उनका समस्त रचनात्मक साहित्य चिर आह्लादक अनुभूतियाँ जगाने म समथ है तथा वतमान ही नही आगामी पीढियो के लिए भी सजन प्रेरणा का अक्षय स्रोत है।

पतजी का रचना ससार गुण और परिमाण, दोनो दृष्टियो से विस्तृत है। यह समय की माग थी कि उनके सम्पूण कतित्व को एक साथ प्रस्तुत करने के लिए 'पत ग्रथावली' की परिकल्पना की जाती। ग्रथावली योजना उसी का परिणाम है। पाठको को यह जानकर सुखद विस्मय होगा कि इस योजना की पूरी रूपरेखा अपने जीवनकाल मे स्वय पतजी ने तैयार की थी। आरम्भ से ही वे इसमे गहरी रुचि ले रहे थे और प्रेस मे देने के लिए अधिकाश पुस्तको का पुनसशोधन भी उन्होने कर डाला था। जिन पुस्तको का सशोधन वे नही कर पाये थे, उनका सशोधित रूप सुश्री शान्ति जोशी ने तैयार किया। उन्होंने जिस तत्परता के साथ इस ग्रथावली के मुद्रण प्रस्तुतीकरण मे सहयोग दिया है, उसके लिए धन्यवाद के शब्द हमारे पास नही हैं। हम यही कह सकते हैं कि इस ग्रथावली के वतमान रूप मे प्रस्तुतीकरण का पूरा श्रेय शान्ताजी को है, और पूरी सावधानी वरतते हुए भी अगर उसमे कही कोई दोष रह गये हो तो उनका उत्तरदायित्व हमारे ऊपर है।

इस ग्रथावली की मुद्रण प्रस्तुति मे इस बात का पूरा ध्यान रखा गया है कि पतजी की प्रत्येक पुस्तक का स्वतन्त्र अस्तित्व यथावत बना रहे, प्रथम प्रकाशन वष तक का यथास्थान उल्लेख कर दिया गया है। कुछ ऐसी सामग्री भी इसमे समाविष्ट है जो पुस्तक के रूप म पहले प्रकाश म नही आयी थी।

ग्रंथावली के सातों खण्डों का एक साथ प्रकाशन अपने आपमें एक महत् आयोजन था जिसे सम्पूर्णता प्रदान करने के लिए पर्याप्त श्रम और समय की अपेक्षा थी। यही कारण है कि पन्तजी योजना फलीभूत तो हुई, किन्तु योजना के जनक ही हमारे बीच नहीं रहे। स्वर्गीय पंतजी की यह तीसरी पुण्यतिथि है, जब इस ग्रंथावली के प्रकाशन द्वारा हम उन्हें अपनी श्रद्धांजलि अर्पित कर रहे हैं।

प्रकाशक

अनुक्रम

हार

[प्रथम प्रकाशन तिथि २० मई, १६६०]

मेरी सर्व-प्रथम रचना

रचना उसे कहते हैं जिसमे किसी प्रकार का विधान, सयमन अथवा तारतम्य हो। इस दृष्टि से मेरी सवप्रथम रचना कविता न होकर उपन्यास ही थी। वैसे मैं छोटी छोटी तुकबन्दियां बहुत पहले से कर लेता था, पर उन्हे रचना कहने का साहस नही होता। मेरे बडे भाई जब बी० ए० की परीक्षा देकर गर्मियो मे घर लौटे तो वह हिन्दी, उर्दू, सस्कृत के अनेक काव्यग्रन्थ, हिन्दी के मासिक पत्र आदि, तरह-तरह की रस सामग्री अपने साथ ले आये थे। मैं तब १० ११ साल का रहा हूँगा, मुझे ठीक याद नही पडता। भाई साहब कभी कभी बडी भाभी को मेघदूत अथवा शकुन्तला सुनाते, तो कभी सूर-तुलसी अथवा रीतिकालीन कवियो से मधुर पद सवये और कवित्त, और कभी सरस्वती पत्रिका से आधुनिक खडी बोली की कविताएँ। भाई साहब का कण्ठस्वर बडा भावपूर्ण होता और वह बहुत तन्मय होकर मन्द मधुर लय मे अपनी मुग्धा पत्नी के मनोरजन के लिए प्राय सन्ध्या समय कविता पाठ किया करते थे। बाहर हिमालय के ऊँचे स्वच्छ शिखरो पर तथा चीड और देवदारु की हरी भरी घनी वनानियो मे छायी हुई मौन मनोरम पहाडी साझ अपने सुनहली छायाओ के निष्कम्प पख सिमटाये हुए अवाक् होकर, जैसे उस एकान्त कविता पाठ को मेरे मन की अज्ञात गहराइयो मे उडेलती रहती थी और मैं तल्लीन एव आत्मविस्मत होकर किवाडो की आड मे खडा उस प्रणय निवेदन से भरी मधुर छन्द ध्वनि का पान किया करता था। धीरे धीरे मैं भी जैसे उन्ही छन्द ध्वनियो की आत्माओ से प्रेरित होकर शब्दो की मालाए पिरोने लगा और कभी कभी गजल की धुन पर लडखडाती हुई कुछ पक्तियां भी जोड लेता। किन्तु सवप्रथम रचना के, उस समय के लिए व्यवस्थित रूप मे, मेरी लखनी से पहले उपन्यास ही का प्रणयन हुआ, जिसकी चर्चा मैं सक्षेप मे पहले भी कर चुका हूँ।

मुझे बहुत अच्छी तरह याद है, मैं तब अल्मोडे के गवनमेट हाई स्कूल मे आठवी कक्षा मे पढता था और जाडो की लम्बी दो ढाई महीनो की छुट्टियो मे अपने पिताजी के पास कौसानी गया हुआ था। कौसानी तो सौन्दय का स्वग है ही। मेरे पिता सरकारी मकान मे रहते थे। मकान बहुत बडा नही था, सब मिला कर सात आठ कमरे रहे होगे। उत्तर की ओर चहारदिवारी से घिरा हुआ आगन था जहा से अन्तरिक्ष मे दूध के समुद्र की तरह उफनाई ऊँची ऊँची हिमालय की चोटिया दिखाई पडती थी। आगन मे एक पत्थर का चबूतरा बना था जो सन्ध्या

के एकान्त मे मुझे किसी अदृश्य ऋषि के ध्यान मौन आसन की तरह पावन एव विचार मग्न लगता था। आगन के भीतरी बरामदे मे खूब चहल पहल रहती थी और परिवार के सभी लोग सवेरे शाम प्राय वही जुटा करते थे। तीन चार कमरे पार करने पर पश्चिम की ओर एक छोटा सा बरामदा था जो सडक की ओर खुलता था। सडक पर उतरने को तीन चार पत्थर की सीढियाँ थी। सामने पहाडी पेडो का ममर करता हुआ हँसमुख क्षितिज दिन रात कुछ न कुछ गुन गुनाता रहता था। यह बरामदा ही मेरा छुटपन का सृजन-कक्ष था। उसमे एक कोने पर पिताजी की आफिस की मेज रहती थी और दूसरी ओर मेरी छोटी सी डेस्क। पिताजी दिन भर आफिस मे रहते थे, इसलिए उस छोटे से एकाकी बरामदे का मैं ही एकछत्र अधिकारी था। यही बैठकर मैंने अपनी सवप्रथम रचना का सूत्रपात किया था। जाडे की अलस मधुर दुपहरी मे उस चढावदार सॅकरी पहाडी सडक पर न जाने नीचे की किन हरी भरी तलहटियो और मख-मली घाटियो स निकलकर उस छोटे स उप यास के लिए म द म थर गति से आगे बढते हुए नायक नायिका और करीब आधे दजन पात्र पत्रिया मेरी अध खुली स्वप्न भरी आँखो के सामने कैशोर प्रेम की मुग्धता ममता तथा त मयता से भरा उस कथानक का सौ दय पट बुन गये, मुझे अब ठीक ठीक स्मरण नही। सम्भवत अपने किशोर मन की कुछ अस्फुट भावनाओ एव अस्पष्ट विचारो का कथा के रूप म गूथन के लिए ही मैंन उस लघु उप यास की कागज की नाव को साहित्य के सि धु म प्रथम प्रयास के रूप म छोडने का दु साहस किया हो। उस कागज की नाव पर बैठकर आधे दजन लोग बिना मानव मन की गहराइयो को छुए, बिना शिल्प की पतवार घुमाये या अनुभव के डाड चलाये किस प्रकार ऊपर ही ऊपर भावो के फेन को चीरते हुए पार हो सके, मैं आज भी इस बात को सोचकर आश्चय म डूब जाता हूँ। खैर, किशोर मन ढीठ नही तो दु साहसी तो होता ही है।

सौभाग्य से या दुर्भाग्य स उस उप यास की पाण्डुलिपि इस समय मेरे पास नही है, वह मेरे एक स्नेही मित्र की आलमारी या स दूकची म दूसरे नगर मे सुरक्षित रक्खी है—सम्भवत मेरे बाल चापल्य के उदाहरण के रूप मे। पर अपन उस बाल प्रयास के बारे मे मुझे जो कुछ स्मरण है उसे आपके मनोरजन के लिए निवेदन करता हूँ। उप यास का नाम मैंन रखा था हार। हार का अथ पराजय तथा माला—दोनो ही उस उप यास के कथ्य से साथक हो जाते थे। इस प्रकार हार' शब्द म एक प्रकार का श्लेष था जो मुझे तब बडा यजना-पूण प्रतीत होता था। कथानक छोटा ही था पर लिखने का ढग अथवा अभि व्यक्ति अलकार पूण होने के कारण—जोकि उस अवस्था के लिए स्वाभाविक ही था—उप यास मानव चरित्र एव मनोविज्ञान से अधिक मेरे शाब्दिक ज्ञान का ही परिचय देता था। उसकी पृष्ठ सख्या सम्भवत २०० के लगभग होगी। कथानक कुछ इस प्रकार था एक भावुक युवक एक नवयुवती के रूप से आकृष्ट होकर उस बिना अपना प्रणय निवदन किये चुपचाप अपने हृदय के आसन पर बिठा लेता है। युवती अपने माँ बाप के साथ ग्रीष्म ऋतु म एक दो महीनो के

लिए किसी पहाडी प्रान्त म घूमने फिरने के लिये आयी हुई है। प्राकृतिक सौन्दय के उस मनोरम प्रदेश म अबोध युवक और युवती प्रतिदिन परस्पर के सम्पक में आकर भद्रता और शील का अभिनय करते हुए अज्ञात रूप से एक दूसरे की ओर अधिकाधिक आकृष्ट होते जाते हैं। किन्तु युवती को वस्तुस्थिति का बोध पहले हो जाने के कारण वह धीरे धीरे सतक हो जाती है और युवक को प्रणय निवेदन का अवसर न देकर, उसके हृदय म प्रेम की अतृप्ति का नैराश्य एवं विषादपूर्ण अंधकार भरकर, एक दिन बिना उसे पूव-सूचना दिये अपने माता पिता के साथ उस पवत-प्रदेश को छोडकर चली जाती है। युवक इस अप्रत्याशित मूक विछोह से क्षुब्ध होकर विरक्त हो उठता है और उसे मानव-जीवन का समस्त व्यापार तथा व्यवहार खोखला एवं शून्यापूर्ण लगने लगता है। वह प्रेम की मृग मरीचिका से अपने को मुक्त करने का प्रयत्न कर मानव जीवन के उचित ध्येय की खोज करता है और अपने अध्ययन तथा चिन्तन से इस परिणाम पर पहुचता है कि निष्काम रहकर लोक-सेवा करने से ही आनन्द तथा आत्म कल्याण की उपलब्धि सम्भव हो सकती है। वह अपने कुछ नवयुवक साथियों को लेकर नैतिक जीवन बिताने के लिए शायद एक आश्रम की स्थापना करता है। मानव-जीवन का गहरा अनुभव न होने के कारण मैंने तब 'हार' और 'ग्रन्थि' दोनों गद्य-पद्य कथाओं के नायकों को प्रेम-सन्यास दिलाकर, विरक्त बनाकर छोड दिया है।

जब मैं अपनी उन दिनों की मनोदशा का विश्लेषण करता हूँ तो मुझे स्मरण आता है कि 'हार' लिखने के समय मैं अपने भाई से सुनी हुई रीति-कालीन कवियों की शृगार भावना, शकुन्तला की प्रेमकथा तथा मेघदूत की वियोग-व्यथा से ज्ञात अज्ञात रूप से काफी हद तक प्रभावित था। मैंने भाई साहब की पुस्तकों में से बिहारी सतसई तथा तिलक की गीता का भी तब अपनी किशोर बुद्धि के अनुसार अध्ययन अवश्य कर लिया था, क्योंकि 'हार' में यत्र तत्र एकान्त प्रणय निवेदन अथवा रूप वणन के रूप में बिहारी के नाविक के तीरों का यथेष्ट प्रयोग हुआ है और प्रेम वंचित हृदय को सान्त्वना देने के लिए मैंने लोकमान्य की गीता के कमयोगी भाष्य का भी प्रचुर मात्रा में उपयोग किया है। उन दिनों अल्मोडे में स्वामी सत्यदेव आदि बडे लोगों के जो भाषण होते थे, उनमें देश-भक्ति एवं लोक सेवा का ही स्वर मुख्य रहता था। उन सब परिस्थितियों एवं बौद्धिक वातावरण से लाभ उठाकर मैंने अपने विचारों तथा भावनाओं को व्यवस्थित वाणी देने के अभिप्राय से ही सम्भवत हार नामक उपन्यास की रचना की होगी, क्योंकि छन्द में तब अपनी गति उतनी न होने के कारण, अपने चंचल किशोर मन को नित्य बढती हुई भाव राशि के बोझ से मुक्त करने के लिए, मुझे गद्य का ही माध्यम अपनाना पडा होगा। सम्भवत, मुझे अब स्मरण नहीं पडता, मैंने भाई साहब के पुस्तकालय से दो एक उपन्यास भी तब छिपाकर अवश्य ही पढ लिये होंगे, क्योंकि तब, मुझे याद है, हम बच्चे ही समझे जाते थे और हमें उपन्यास कहानी आदि पढना मना था। भाई साहब के कभी घर से बाहर घूमने फिरने के लिए निकलने पर मैं जिस क्षुधा एवं उत्साह से

साथ उनकी पुस्तकों की आलमारियों पर टूटकर कविता, कहानी, उपन्यास की पुस्तकों को जल्दी जल्दी उलट पलटकर पढ़ा करता था, वह मुझे याद है। और कभी कभी अपनी एक आध पुस्तक भाई साहब को मेरे सिरहाने तकिये के नीचे दबी हुई भी मिल जाती और तब उनकी लाड प्यार की भर्त्सना को सहना मेरे लिए बड़ा कठिन हो जाता था। मैं कई दिन तक उन्हें मुंह दिखाने में शरमाता था।

मैंने अपने ऐसे ही किशोर स्वभाव तथा घर-बाहर की परिस्थितियों के वातावरण से प्रेरणा तथा बल पाकर अपना खिलौना उपन्यास 'हार' लिखा था—जो मेरी सर्वप्रथम रचना कही जा सकती है।

१९५९ सुमित्रानंदन पंत

तथा पश्चिम की ओर विस्तार मे अधिक है। इसके तट मे बैठने के लिए स्वच्छ शिलाएँ रक्खी हैं। इस सरोवर के कारण आराम की शोभा और भी बढ गयी है।

विजया आज श्री दुर्गादेवीजी के दर्शन के लिए आयी है। उसके एक हाथ मे अर्चन के उपकरण से सज्जित चाँदी का एक स्वच्छ थाल है। 'भद्र कमल माल है द्वितीय कमल-कोमल कर मे'। विजया के साथ एक बालिका भी आयी है। बालिका की अवस्था प्राय सात वर्ष की होगी। वह विजया से विविध प्रसूनो के नाम पूछती जाती है। विजया उन फूलो के नाम बताती हुई तरलग के किनारे-किनारे दुर्गादेवीजी के मन्दिर मे पहुची।

हे पौर पर टँका घण्ट चित्र चर्चित अर्चित
जो शान्ति शान्ति कह बजा आगमन जतलाने।
तब श्रीदेवी के गले कमल की माल डाल
वह हाथ जोडकर मूर्ति सी रही मूर्ति निकट।
फिर लता सी लिपट गयी चरण-द्वय मे शिर धर
है भक्ति शक्ति का मेल अपूर्व अमोल अहा!

विजया ने श्रीचरणो का चरणामृत लिया तथा श्रीदेवीजी के पद पद्मो से एक पद्म उठाकर बालिका के शिर मे रक्खा। विजया ने एक फूल उसके हाथ मे भी दे दिया। बालिका इस फूल को लेकर अत्यन्त प्रसन्न हो गयी। विजया घण्टा बजाकर मन्दिर से बाहर आ गयी। बाहर आने पर बालिका उससे विविध प्रकार के प्रसून तोडने के लिए अनुरोध करने लगी। विजया इधर उधर से विविध पुष्प चयन कर उसे देने लगी।

'आओ आशु, तुम्हारे लिए मैं अच्छे से प्रसून तोड दूगा''— कहता हुआ भविष्य भी दौडकर आशा तथा विजया के पास आया। आशा उसे देखकर बडी प्रसन्न हुई। भविष्य की अवस्था भी छोटी थी। वह तथा आशा सदा इस बन मे खेलने को आया करते थे। भविष्य आशा से कुछ बडा होने के कारण तथा पुरुष होने के सबब भी वक्षो मे चढकर फूल तोड के आशा के लिए विविध प्रकार के सुन्दर सुन्दर गहन गूथ देता था। इसीलिए आशा का भी उससे अच्छा स्नेह हो गया था। आशा बोली—भविष्य, हमारे लिए पारिजात के फूलो का एक सुन्दर हार गूथ दो।

भविष्य पेड पर चढकर पारिजात के पुष्पों का एक सुन्दर हार गूथ लाया और उसने वह बडे चाव से आशा के गले मे डाल दिया। आशा बडी प्रफुल्लित हो गयी। पारिजात के फूलो के बीच मे उसके मुख की सुन्दरता और भी बढ गयी। विजया को भी आशा का यह शृगार अत्यन्त सुन्दर लगा। वह भविष्य से बोली—भविष्य, आशा भी तुम्हें भविष्य मे हार पहनावेगी।

आशा इसका कुछ भी तात्पर्य न समझ सकी किन्तु भविष्य समझ गया। वह आशा के मुख की ओर देखकर हँसने लगा।

तदुपरान्त विजया गृह-कार्य की चिन्ता से घर को चली गयी। उसका विवाह हो गया था। उसकी अवस्था सोलह वर्ष की होगी। आशा भविष्य के साथ इसी

वन मे रही। उन दोना मे बहुत काल तक खेल होते रहे। भविष्य ने आशा के लिए और भी फूलो के गहन वना दिये। आशा बाल वन दवी-सी प्रतीत होने लगी। भविष्य न अपने लिए भी एक लम्बी माला वना ली।

दोना मे अपार मित्रता थी। दोना स्नेह के सुखमय सूत्र म गुथे हुए थे। दोना खिलाडी थे।

द्वितीय पुष्प

तिरस्कार

ससार म सौन्दय कहाँ कम है ? कोई वस्तु तो दृष्टि पथ म सौन्दय हीन विचरती ही नही। इन नयनो का न जाने कैसा स्वभाव है ! ये कभी वालुका राशि म विलीन हो जाते हैं कभी वृक्ष छाया म छिप जाते हैं, कभी जल की तुतली तरगो के साथ उछलत हैं, कभी जल के तुतले बिम्ब के साथ विहार करते हैं, और कभी ओस के निमल बिन्दुओ मे ही डूब जाते हैं। इनका न जाने कैसा विश्व है ! कैसा आनन्द है ! मैं इन्हे निकालनी निकालती रह जाती हूँ, सुलझाती-सुलझाती थक जाती हूँ, समझाती समझाती ऊब जाती हूँ, किन्तु ये फिर उलझ जात हैं। मरा समझाना सब व्यथ जाता है।

मा ! तुम्हारा विश्व इतना सुखद क्यो है, तुम्हारी कृति इतनी रमणीय क्या है, तुम्हारी आभा इतनी आनन्ददायिनी क्यो है, तुम्हारी विधि इतनी नवीन क्यो है, तुम्हारा श्रृगार इतना सुन्दर क्या है ?—तुमने यह कभी नही बतलाया। कभी नही समझाया।

मैं नित्य तुम्हारे पास बैठती हूँ, आँखें मूद लेती हूँ, हाथ जोडती हूँ। तुम्हे आह्वान देती हूँ विजन स्थान म बैठकर बुलाती हूँ, मन ही मन पुकारती हूँ— आओ मा ! इन नयनो के सम्मुख ! आओ, अम्ब ! मन्द मुसकाती हुई ! वीणा बजाती हुई ! मधुर गाती हुई !

तुमस विनय करती हू—आओ, मात ! मुझे मेरी बातो का उत्तर दो, मुझे अपनी लीला समझाओ। किन्तु तुम कभी नही बोलती हो ! कभी नही आती हो ! मैं तुम्हारा ध्यान करती हूँ, तुम्हारे अगा को दृष्टि के सम्मुख निर्माती हूँ। सुन्दर मुख बनाती हूँ दिव्य मणि मण्डित मुकुट पहनाती हूँ, श्वेत वस्त्र पहनाती हूँ, गले म श्वेत मुक्ताओ की माला डालती हूँ, मसण-मृणाल सी बाँहा म वीणा दती हूँ तुम्ह हस के ऊपर बैठाती हूँ। फिर प्यार के साथ तुम्ह पुकारती हूँ—मा ! जननि ! अम्ब ! —पर तुम कुछ भी उत्तर नही देती हो !

मैं तुम्हारे गीतो को गाती हूँ–'जगमग मणि मोतिन सुमुकुट शिर चारु चार कर वर हारन छबि, हारव तारक तारक पति द्युति, तारक तारक कर जग जाना'—गा गाकर तुम्ह रिझाती हूँ, किन्तु तुम फिर भी नही बोलती हो। बतलाओ मा ! तुम्हारी सृष्टि इतनी सुन्दर क्यो लगती है ? तुम्हारा स्मरण

इतना सुखद क्या प्रतीत होता है ? तुम्हारा ध्यान इतना अभिराम क्यो लगता है ? जिस समय मैं अत्यन्त विकल हो जाती हू, उस समय तुम्हारा ध्यान आते ही मेरी आकुलता क्यो नष्ट हो जाती है ? कहो मा ! आज मुझसे अपनी सब बातें कहो। आज मुझे मेरे प्रश्नो का उत्तर दो। बतलाओ मा ! क्या तुम इसी सौन्दर्य मे हो ? क्या तुम इसी आनन्द मे हो ? इसी सुख में हो ? क्या—

"यो मा पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति,
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति।"

—का यही अर्थ है ? कहो मा, तुम कहाँ छिपी हो ? क्या तुम मेरी पूजा की दीपावलि के मजुल मेल मे हो ?—आज मुझे अपनी सब बातें बतलाओ।

सुफला अपनी खिडकी के पास बैठी इसी प्रकार ध्यानमग्ना थी। उसकी खिडकी से आराम का एक भाग अच्छी प्रकार दिखायी देता था। आराम अस्तासन्न रवि की अन्तिम किरणो से स्वर्ण-वर्ण हो रहा था। सुफला कहने लगी—अहा ! श्रेष्ठ पुरुष अन्तिम समय तक परोपकार का महामन्त्र नही भूलते !

इतने मे सुफला ने देखा कि आराम का मृग उसकी खिडकी के पास ही हरी हरी दूब चर रहा है। मृग के बदन मे भी रवि की सुनहली किरणें पड रही थी। उसने अपनी सुन्दर सुन्दर आँखें एक बार सुफला की ओर डालीं। सुफला कुछ भयभीत होकर साथ ही हँस पडी। उसे मारीचि का स्मरण हो आया। वह कहने लगी—यह कनक मृग कौन ?

सुफला को समस्त मृग वाली बातें याद आ गयी। उसे सोचते सोचते प्रतिभा के मृग शावको की स्मृति आयी। एक बार प्रतिभा ने उन्हे बुलाया था, वे उसके पास नही गये थे। सुफला को मीना की याद आयी। उसकी मधुर गाने की ध्वनि एक बार प्रतिभा के कानो म पडी थी। मीना ने एक बार प्रतिभा से कहा था—'बाई, तुम तो बडे घर की बेटी हो, तुम पहाडो म कैसे चढ सकोगी ? हमारा तो वही घर है।—यह याद आते ही सुफला की आँखें सजल हो आयी। वह कहने लगी—हाय ! मा, यह तुम्हारा कैसा न्याय है ? क्या मेरी प्यारी मीना को पहाडो पर चढने म कष्ट न होता होगा ? क्या उसके पाँव नही दुखते होंगे ? मीना ! तुम्हारे इन बचनो म कितनी सूक्ष्म सरलता भरी है ? कितना महान औदार्य अन्तर्हित है ? बहिन, तुम अपने पाँवो को प्रतिभा के पाँवो से इतना कठोर क्यो समझती हो ? "हमारा तो वही घर है' कहने म तुम्हारे हृदय को किस अपार आनन्द ने छुआ ? मेरे मन की मीना ! तुम अपने को इतनी दीना क्यो समझती हो ?

सुफला के हृदय म धीरे धीरे मीना के सरल हृदय का चित्र खिच गया। वह उसके उस अलभ्य स्वतन्त्र जीवन की आलोचना करने लगी, सुफला का हृदय आनन्द से गद्गद हो गया। उसके ध्यान म आया— मीना का वंशी-सा मीठा गाना ! वंशी-सा सीधा जीवन !

इतने म ही उसके कमरे म माता आ पहुची। माता के हाथ म 'प्रतिभा' थी। सुफला का मानो उसका अभीष्ट प्राप्त हुआ। वह माता के हाथ से पुस्तक

सवर इस प्रकार पढने लगी—"राजकुमार प्रतिभा का हाथ पकडे पवत शिखर पर जा रहे थे। किन्तु प्रतिभा को अत्यन्त कष्ट होन लगा तथा उसन अपना हाथ छुडा लिया।' सुफला रुक गयी और आशा स कहने लगी—क्या सखी, प्रतिभा को कैसा कष्ट हुआ होगा ? क्या उसके कोमल करो से राजकुमार के हाथ अत्यन्त कठोर थ ?

आशा अपनी सखी के मुख स ऐसी बेतुकी बातें सुनकर जोर स हँसने लगी। और सुफला को कितनी ही स्नेह भरी गालियाँ देने लगी। सुफला फिर पढने लगी— 'राजकुमार प्रतिभा के इस व्यवहार स कुछ असन्तुष्ट होकर बोले—क्यो प्रतिभा। क्या मैं तुम्हारे हाथ पकडने के योग्य नहीं हूँ ? प्रतिभा ने इसका उत्तर कुछ भी न दिया।'—सुफला फिर ठहर गयी तथा अपनी सखी स बोली—क्यो आशु क्या कुमार को प्रतिभा के इस व्यवहार स असन्तुष्टि प्रकाशित करनी थी ? पुरुषो का हृदय भी न जाने किस द्रव्य का बना होता है। वे एक साधारण सी बात को न समझकर अपनी स्त्रियो के ऊपर रोष प्रकाशित करते हैं। स्त्रियाँ लज्जावश कई बार अपने स्वामियो की आज्ञा पालन करने म सक्षम नही हो सकती हैं। किन्तु वे इस नहीं समझते। और देखो सखी, प्रतिभा कितनी सलज्जा है ? वह कुमार को इसका उत्तर तक न दे सकी।

आशा—सखी, तू प्रतिभा होती तो क्या कहती ?

सुफला—यही कहती कि आपके छूने स मेरे हाथो से लज्जा का कंकण गिरा जा रहा है। मेरे हाथ बिना इस अलंकार के केवल आप ही की दृष्टि म शोभाहीन जचेंगे।

आशा—क्या प्रतिभा का मौन रहना ही यह प्रकट नहीं करता ?

सुफला ने इसके उत्तर म केवल हँस दिया। वह फिर 'प्रतिभा' के पन्ने लौटाती हुई इस प्रकार पढने लगी—"उमा के दोनो कपोलो पर एकाएक ललाई झलक आयी, ऐसा जान पडता था कि वह ललाई कुमार की कौतूहल पूर्ण किन्तु शीलता रहित दृष्टि का तिरस्कार कर रही है। बालिका का वक्ष स्थल जोर से धडकने लगा मानो कुमार के वहाँ ठहरने का प्रतिवाद करने लगा।"

सुफला इतना पढकर हँसने लगी। आशा के दोनो कपोलो पर भी ललाई झलक आयी थी। सुफला इसका रहस्य न जान सकी। आशा के गोरे तथा गुलाब से मुख म अस्ताचल गामी सूर्य की किरणें पड रही थीं। देखने से प्रतीत होता था मानो कमलो म ऐसा सौन्दर्य न पाकर रवि की किरणें इस पद्मिनी के मुख की श्री सुषमा देख इसी के मुख म अटक रही थीं।

सुफला ने आशा के मुख का अरुण वर्ण देखकर हँसते हँसते पूछा—क्यो आशु तेरे मुख की अरुणिमा किसका तिरस्कार कर रही है ?

आशा ने भी हँसते हुए उत्तर दिया—उस सुवर्ण कान्ति सूर्य का।

आशा के मुख से ऐसा नवीन उत्तर पाकर सुफला जोर से हँस पडी। उसके पीछे स आवाज आयी—झूठ भविष्य का।

सुफला ने विजया की आवाज पहिचान ली। वह पीछे को फिरकर कहने लगी—क्या दिद्दी, तू यहा कब से हमारी बातें सुन रही है ? आशा की अरुणिमा

हार /

किस भविष्य का तिरस्कार कर रही है ?

विजया—स्मृति पट पर अंकित भविष्य का, दृष्टि-सम्मुख अदृश्य भविष्य का—उस आशामय भविष्य का ! और किसका ? क्या तू—

आशा ने विजया का मुख अपने हाथ से बन्द कर दिया। और तरह-तरह की बातें कह उसका सस्नेह खूब तिरस्कार किया। सुफला हसने लगी। जब आशा ने विजया का मुख छोड दिया तो सुफला फिर पूछने लगी—क्यो सखी, तूने यह कैसे जाना ? आशा भविष्य दद्दा का तिरस्कार क्योंकर करने लगी ?

विजया—कल तूने ही तो पढकर सुनाया था कि हृदय की भाषा तथा मुख की भाषा भिन्न नही होती है। मुख हृदय के भावा का दपण है। देखती क्या नही, आजकल बिचारी का किसी काय मे चित्त नही लगता।

सुफला—भविष्य दद्दा ने क्या किया जो यह उनका यह तिरस्कार करती है ?

विजया—ये तो वे या यह जानें। मैं तो इनकी भाव भगी से ही यह सब अनुमान करती हूँ। सुन, आज नौ वष की बात है कि—तब यह आशा छोटी सात वष की थी—मैं इसे लेकर बसन्त पचमी के दिवस आराम मे पूजा करने के लिए गयी थी। वहाँ कुछ काल बाद भविष्य भी आ पहुचा था। उस दिन भविष्य ने इसको पारिजात के पुष्पो का हार गूथकर पहनाया था। मैंने उससे कहा था कि आशा भी भविष्य मे तुझे हार पहनावेगी। किन्तु उस तब से यह बात याद है। अब उसका स्नेह इसके लिए और भी बढ गया है। और आजकल मैं देखती हूँ कि यह उससे बोलने मे भी सकुचाती है। तभी तो मैंने कहा कि आशा की अरुणिमा भविष्य का तिरस्कार कर रही है।

आशा यह सुनकर अत्यन्त लज्जित हो गयी। और वहा स जाने को उद्यत हुई। किन्तु सुफला ने यह जानकर तुरन्त उसका पक्ष ले लिया। वह कहने लगी—दिद्दी, इसका अथ यह भी तो हो सकता है कि आशा उस भविष्य का तिरस्कार कर रही है जिसमे यह भविष्य दद्दा का हार पहनाती। वह अब बडी हो गयी है इसीलिए भविष्य दद्दा से नही बोलती होगी।

आशा ने सुफला के हाथ को धीरे धीरे दबाया। सुफला चुप हो गयी। उसे मन ही मन बडा आनन्द हुआ कि आशा भविष्य को चाहती है। वह फिर 'प्रतिभा' के पृष्ठ लौटाकर इस प्रकार पढने लगी— प्रतिभा राजकुमार के साथ बडी सावधानी, लज्जा, विनय तथा सम्मानपूवक बातें किया करती थी। अब उसम बालकपन के समान चपलता, सरल हसी, और सकोच रहित व्यापार न रहा था। अब वह कुमार से साक्षात न करती थी। प्राय अस्वस्थता का बहाना बता देती। —सुफला इतना पढकर आशा की ओर देखकर हँसने लगी। आशा ने मुह फिरा लिया। सुफला फिर पढने लगी— राजकुमार प्रतिभा का यह व्यापार समझ कर भी नही समझे ! उसके इस व्यवहार से उनका प्रेम प्रतिभा की ओर बढने के बदले उलटा कम होने लगा।' सुफला ने पुस्तक बन्द कर दी। आशा से वहाँ और न रहा गया। उसने सुफला के हाथ से पुस्तक ले ली और वह किसी काय का मिस बतलाकर चली गयी।

आशा के हृदय में प्रतिमा के उक्त अन्तिम वाक्य से क्या प्रभाव पड़ा, वह यथासमय मालूम हो जायगा।

आशा के चले जाने के बाद विजया भी दीपक-बाती का समय निकट जान कर चली गयी। सुफला फिर एकाकी रह गयी। भास्कर भगवान अब डूब गये थे। सुफला भी धीरे धीरे अपने विचारों में डूब गयी। वह आशा तथा भविष्य के सम्बन्ध की आलोचना करने लगी। वह सोचने लगी कि—आशा तथा भविष्य का पहिले ही से सम्बन्ध है। आशा सदा भविष्य में ही लीन रहती है तथा वह भविष्य की ही होती है। भविष्य ही आशा का जीवन है। आशाहीन भविष्य भी शुष्क तथा निष्प्रभ लगता है। आशा ही अदृश्य भविष्य की पथ-प्रदर्शिका समुज्ज्वल दीपशिखा है। वही अन्धकारमय भविष्य के हृदय में सुन्दर आलोक है—सुफला इसी प्रकार कई बातें सोचने लगी। वह मानो भविष्य और आशा की भविष्य तथा आशा से तुलना करने लगी। अन्त में वह यह विचारने लगी कि आशा तथा भविष्य का सम्बन्ध सदा सुखमय ही नहीं होता। आशा अत्यन्त आकर्षणीया है सही किन्तु भविष्य के हृदय-मरु में सलिल-स्रोतस्विनी-सी है जो मोह की प्यासी आंखों को प्रलोभन दे जीवन को जीवन दिखला, अन्त में निर्जीव कर देती है। सुफला के हृदय में सहसा इस प्रकार का भावोदय न जाने कैसे हो गया। उसने फिर इस विषय में कुछ नहीं सोचा। वह खिड़की से अनन्त आकाश की ओर देखने लगी। उस एक टिमटिमाता हुआ तारक दिखलायी दिया। वह सोचने लगी, सगुन बुरा है। उसे सहसा 'एक तारो मया दृष्ट'' याद आया। वह कहने लगी—अनन्त विस्तृत नभ-मण्डल में केवल एक क्षुद्र दीपक ? इतने बड़े भारतवर्ष में केवल एक नेता ? इसीलिए एक तारक को देखने में दोष मान रखा है। इतने विस्तृत व्योम के लिए एक तारक को धारण करना भी अपमान-कारक है। इसीलिए इसको देखना अनिष्टकारी बतला रखा है। सुफला बार-बार नारदादि ऋषियों को प्रणाम करने लगी। वह फिर सोचने लगी कि तारक से भारत-नेता की उपमा देना ठीक नहीं। उसका उपमान चन्द्र है। उसे याद आया—

"कुलहि प्रकासै एक सुत, नहिं अनेक सुत निन्द
एक चन्द्र सब तम हरै, नहिं उडगण के वृन्द।'

सुफला उस क्षुद्र तारक का और भी तिरस्कार करने लगी। वह कहने लगी, मेरे दृग-तारक तक दो हैं। एक नहीं। और मेरे हृदय-तारक तो तारकों से भी असंख्य हैं। मैं एक ही तारक को क्यों अपनाऊँगी ? मा की सारी सृष्टि मेरी ही तारक है। एक तो मुझे मा ने अपने से स्वयं भिन्न कर रक्खा है। तिस पर भी मैं अपना हृदय-तारक किसी एक को बनाकर मा की सुन्दर सृष्टि से क्यों भिन्न हूँगी ? अहा ! यह संसार कितना सुन्दर है। एक केवल संसार-तारक ही है। उसी सब शक्ति की अनन्यता शोभा देती है।

इतने ही में दासी हाथ में दीपक लिये हुए सुफला के कमरे में आयी। सुफला को दीपक देखकर भी अत्यन्त आश्चर्य होता था। उसे दीपक को देखते ही याद आ जाती थी—' तले अँधेरो दीप।'' सुफला की दृष्टि दीपक के तले

हार /

अन्धकार म ही विलीन हो जाती थी। उसकी जिज्ञासा, उसकी उत्कण्ठा माना उस अन्धकार म किसी को ढूढती थी। उसकी अन्वेषण भरी कातर दृष्टि के प्रभाव से दीप की शिखा भी चचल हो जाती थी। सुफ्ला कभी उस अन्धकार से पूछती थी—तम! क्या तुम मेरी अनन्त शान्तिदायिनी मा के पदो की छाया हो? तिमिरवर! एक बार मुझे अपना अदृश्य अचल टटोलने दो! क्या मेरी मा के पद तुम्हारे ऊपर अनन्त छत्र की तरह छाया करते हैं? क्या तुम्हारी गोद से शीश उठाते ही मुझे मा के दशन हो जावेंगे? क्या मैं खडी होते ही मा के पद पदमो के पास पहुच जाऊँगी? किन्तु तिमिरबन्धु! कही तब मैं उसके पदो की छाया से भी हाथ न धो दू! कही मैं तुम्हारे लिए कृतज्ञता प्रकट करना भी न भूल जाऊ!

आओ प्रिय! एक बार मैं तुम्हारे अचल को स्वच्छ कर दू। तुम्हारे मलिन दुकूल को मा के स्नेहाश्रुओ स धो दू! एक बार मैं उस स्वच्छता की ज्योति मे अपनी मा के पद पदमो को देख लू! यह कहते कहते सुफ्ला कभी रोने भी लगती थी। और फिर कभी सोचती थी कि मेरा बन्धु इस दीपक के तले क्यो छिपा रहता है! क्या अँधेरे के पास ही आलोक भी रहता है? क्या मुझम और मेरी मा मे थोडी सी ही दूरी है? अल्प ही अन्तर है? हाय! यह प्रदीप अपन प्रकाश का तो गव नही करता? और इसीलिए क्या यह तम को पाँवो तल कुचलता है! ऐसा सोचत ही वह कभी प्रकाश का तिरस्कार करन लगती थी। उसे धिक्कारती थी कि अरे क्षुद्र दीप! तुझे अपने इस क्षीण प्रकाश का गव है? तू अपना हृदय उज्ज्वल समझकर तिमिर को अपने परो कुचलता है? किन्तु दुष्ट! तेरा हृदय कृष्णता से भी कृष्ण है! तू प्रेम का मिस ले दीन प्रेमी पतगो को स्वाहा कर अपनी तामसी तपा तप्त करता है? निमल पय पीकर कज्जल कूट प्रसूत करता है? मूख! इसस अधिक कालापन तुझमे क्या हो सकता है? इससे घोर कालिमा और क्या हो सकती है? तू चाहता है कि अन्धकार प्रकाश का स्वच्छ जामा न पहने! दुबल सशक्त न हो! नीच न उठने पावे! अदूरदर्शी! तू भारत के इस घोर पतन को देखकर भी शिक्षा ग्रहण न कर सका! भारत ने भी अपनी अछत जातियो से उनसे उच्च जातिया की सेवा कराकर उन्हे कुचलना चाहा था! उनकी शिक्षा तथा उनकी उन्नति की ओर ध्यान नही दिया था! इसी से भारत की उच्च जातिया भी गिर पडी। जब नीव ही वसन्त की मलय वायु मे खडखडाती हुई हिलती हो तो प्रासाद की दीवारें दुर्विपाक की आधी मे कहाँ टिक सकती हैं? सुफ्ला दीप की शिखा को चचल देखकर समझती थी कि वह मेरी धुत्कार से काप रही है। जब कभी कभी प्रदीप शिखा कुछ क्षीण हो जाती तो वह समझती थी कि दीपक अपन अपराधो के लिए पश्चात्ताप कर रहा है। पर जब सुफ्ला की दृष्टि प्रदीप के तले पर पडती थी और जब वह तम को वही पाती तो वह दीपक को फिर धमकाती थी कि—अधम! तेरे पैर भी तेरे ही अग हैं। उन्हे भी उज्ज्वल कर उन्हे अछूत समझकर अटल अन्धकार म न डाल दे! किन्तु सुफ्ला दीप की शिखा को फिर उज्ज्वल होती देखकर समझती थी कि दीपक मुझे उत्तर द रहा है। मुझसे निभय हाकर कह रहा है कि मैं दोषी नही

हूँ। मैं निरपराध हूँ। मुझे वृथा तुच्छ न समझो। मैं अन्धकार का अतीत से कृतज्ञ हूँ। अन्धकार ही मे मुझे सदा आदर मिलता है। इसी की गोद मे मुझे सम्मान प्राप्त होता है। दिन मे मुझे आलोकित करने तक का कोई कष्ट नही करता है। मैं जानता हूँ कि अन्धकार रात्रि दवी का श्यामल शरीर है। और रात्रि शीत रश्मि की सहचरी है। इसीलिए मैं तम को शीतलता का इच्छुक जानकर अपने शीतल तले म सादर स्थान देता हूँ। मैं कज्जल कूट अवश्य प्रसूत करता हूँ। किन्तु क्या वह यथाथ मे काला है? नहीं, वह कालिमा नहीं है। उसमे एक दिव्य द्युति अन्तहित है। वह जब आँखो मे लगाया जाता है तो उन्हे नवीन ज्योति देता है। उसमे प्रकाश भरा है। ससार मे प्रकाशवान सदा अदश्य ही रहते हैं। गुणवाले अपने को छिपाना चाहते हैं। अपने गुणो को अव्यक्त रखते हैं। सूय की रश्मि स्वय तो अदृश्य रहती ह किन्तु क्षुद्र रज-कणो को प्रकाशित कर उन्हे जीवन प्रदान करती है। मैं मूख नही हूँ। मैं एक मजुल मेल हूँ! अत्यन्त पवित्र मेल हूँ। मैं तुम्ह बतलाता हूँ—घोर अन्धकार मे भी शिक्षा देता हूँ—कि ऐक्य मे कैसा सुखमय आलोक है! एक क्षुद्र तूल-वातिका का पय के साथ ऐक्य होन से कैसी सुन्दर प्रभा प्रकट होती है। मैं तुम्ह अपन क्षीण ज्योति मे भी अनुपम शिक्षा का अति उज्ज्वल आलोक दिखलाता हूँ!

सुफला मन ही मन "तले अँधेरो दीप" के लिए तक वितक किया करती थी। दासी प्रदीप को दीप-दान मे रखकर चली गयी। सुफला 'जीवन प्रभात' पढने लगी।

तृतीय पुष्प

तरलग-तट

प्रात काल का मनोहर समय है। सारा आराम स्वण वस्त्र विभूषित दिखलायी देता है। वसन्तु ऋतु का अनुपम विभव, आराम की मन्द मन्द सुरभि सिंचित अनिल, अलि दल की मृदुल गुजन, विहगो की कल कण्ठ ध्वनि—सभी हृदय हर रहे हैं।

भविष्य तरलग के तट मे एक स्वच्छ शिला के ऊपर अकेले बैठे है। आज नौ वष व्यतीत हो चुके हैं जब हम एक बार पहिले भी इस वन मे आये थे। अब भविष्य भी युवा हो चुके हैं। अब आशा उनके साथ खेलने को नही आया करती। अब भविष्य उसे पुष्पालकारो स विकसित कर बनदवी सी नही बनाते। अब वह क्रीडा कौतूहलमयी तथा मनोहर बाल्यावस्था बीच चुकी है। अब वह निष्काम-स्नेह, वे अकपट विचार, वह निर्भीक हृदय, वह सरल चितवन वह मादक बोली आदि सभी बाल्यावस्था के अनुगामी हो चले गये हैं। अब आशा का स्नेह भविष्य के हृदय मे अधिक प्रबल हो प्रणय म परिणत हो गया है। क्यो न होता? बाल्यावस्था यौवन की मादक सुरा चढा चुकी थी, सौ दर्योपासना का नशा क्ब न वृद्धि पाता? शैशव युवावस्था का चटकीला जामा पहन चुका था, स्नेह का रग अधिक

चटकीला क्यों नहीं दिखलायी देता ? जीवन का स्रोत यौवन के जीवन से परिपूर्ण हो चुका था। प्रणय के दृढ़ बाँध की क्या आवश्यकता न थी ? आशा के स्नेह ने भी भविष्य के हृदय में प्रणय का पुरट पट पहिन लिया था। प्रेम का पवित्र पट परिधान कर लिया था।

आज भविष्य ने प्रायः एक मास से आशा को नहीं देखा था। उसका मृदुल स्वर नहीं सुना था। अब आशा भविष्य से बातें करने में सकुचाती थी। भविष्य के दृग खजना ने जब से आशा के रुधिर रूप सरोवर में यौवन का प्रिय पद्म प्रफुल्लित देखा तब से वे उसी कमल में बैठ गये थे। भविष्य इस सगुन के सुफल की आशा में ही दिवस व्यतीत कर रहे थे। उनके दृग मीन आशा के लीला सलिल के लिए सदा तड़फते थे। श्रवण चातक आशा के वचन स्वाति के लिए उत्कण्ठित रहते थे। उनकी आकांक्षाचकोरी आशा के स्नेह-सुधानिधि को निर्निमेष ताकती रहती थी। उनकी व्याकुलता उसके दर्शनों के लिए दिन पर दिन बढ़ती जाती थी। उन्हें आशा ही का ध्यान सुख देता था। वे आज आराम के विविध सुन्दर प्रसूनों से आशा के रम्य रूप की तुलना कर चुके थे, किन्तु उन्हें उस रूप का उपमान कहीं नहीं मिला था। उनको वह सजीवता कहीं नहीं दिखलायी दी थी। भविष्य अन्त में थककर तरलंग के तट पर बैठ गये थे। तरलंग का जल ऊषा के आलोक में अरुण दिखलायी देता था। उसके हृदय में पवन के वेग से लोल तरंगें उठ रही थीं। भविष्य तरलंग का यह सजीव सौन्दर्य देख मुग्ध हो गये। वह कहने लगे—संसार में सौन्दर्य किसे मुग्ध नहीं करता ? तरलंग ! तुम भी आज प्राची से मुसकाती हुई ऊषा की अनुराग भरी अध-खुली आँखों के अरुण राग में अपने को रंजित किये हो। आज तुम भी अपने निर्मल हृदय में अध विकसित कमल-दल की दिव्य अंजलि सज्जित कर उस चरम सौन्दर्य का सम्मान कर रहे हो। आज तुम्हारा मानस सा विमल मानस भी उस रम्य रूप से मिलने के लिए चंचल हो रहा है। तुम्हारा सरल हृदय वायु के अदृश्य करों को ग्रहण कर उस अपूर्व सौन्दर्य की ओर बढ़ रहा है। तुम मानो फेन रूपी मुक्ता-हार लिये अपने तरंग रूपी अगणित पतले पतले करों को उस परम सुषमा की ओर बढ़ा रहे हो। तुम मानो दन्तद्युति युक्त अगणित सस्मित मुखों से 'कल कल' रव कर उस रूप राशि के गुण गा रहे हो। उसकी अलभ्य छवि में मुग्ध हो तरंगोत्थित कल्लोल कर 'टुल टुल कुल कुल' शब्दों में कविता रच उसकी सुषमा को सजीव कर रहे हो।

तरलंग ! मैंने तुम्हारे विशद हृदय का ऐसा रुचिर चित्र पहिले कभी नहीं देखा। तुम्हारे हृदय में—इस शीतल मांस में भी—यह वाडवाग्नि कब से अगोचर थी—यह अनुराग की—विशुद्ध अनुराग की—अरुण ज्वाला कब से तिरोहित थी यह मैं नहीं जानता था। आज मैंने इसे स्वीय दृगों से ही देख लिया है।

कौन जाने, इसी प्रकार कितने हृदय अपने में इसी विशुद्ध परीक्षक अग्नि को छिपाये हुए हैं ? उन्हीं में से—

'भविष्य !'

भविष्य ने तुरन्त मुँह फेरकर देखा तो निमेष।

भविष्य—क्यों दद्दा, आज इतने प्रात यहाँ कैसे आ गये ? क्या भाभी ने

रात मे कुछ तकरार हुआ जो उठत ही भाग आये ?

निमेष तथा भविष्य बाल सहचर थे। निमेष अवस्था मे भविष्य से बहुत बडे थे। इसीलिए भविष्य उन्हे दद्दा कहकर पुकारते थे। निमेष का भी भविष्य से अच्छा स्नेह था। वे सदा भविष्य के ही ध्यान मे रहते थे। उन्होंने भविष्य के मुख से ऐसे परिहास प्लावित वचन सुनकर हँसते हुए कहा—हाँ भवि, भाभी को छोडकर भाग आया था किन्तु भविष्य ने फिर पकड लिया।

भविष्य—तुम्हे ही क्या, दद्दा, भविष्य सभी को पकड लेता है। प्राय सभी भावी मे लीन होकर कष्ट पाते हैं। तुम्ह भी भावी ने बुरा पकडा।

निमेष—किन्तु मुझे तो इस समय वतमान ही ने पकड लिया है।

भविष्य तथा निमेष मे इसी प्रकार बातें ही रही थी कि इतने म सुफला तथा आशा भविष्य के पास आ पहुँचे। आशा आज अनुरोध कर सुफला को देवी दशन के लिए ले आयी थी। वे इस समय दशन कर घर को लौट रहे थे। किन्तु सुफला आशा को बाध्य कर भविष्य के पास ले आयी थी। यथाथ मे आशा आज देवी दशन का मिस कर भविष्य को ही देखने के लिए यहा आयी थी। वह भविष्य की आदतो से परिचित थी। उसे विश्वास था कि भविष्य निश्चय तरलग के तट मे बैठे हुए मिलेंगे। आशा के हृदय मे प्रतिभा के अन्तिम वाक्य ने कल पूरा प्रभाव डाला था। इसलिए अति सकोच होने पर भी आज उसने भविष्य से मिलना निश्चय कर लिया था।

भविष्य को इस प्रात अचानक चन्द्रोदय सा प्रतीत हुआ। उसके नयन-चकोर सकोच का जाल तोडकर आशा के चन्द्रानन पर अड ही गये।

"लाज लगाम न मानही, नैना मो बस नाहिं,
ये मुहजोर तुरग ला ऐंचत हूँ चलि जाहिं।"

भविष्य का दाहिना दग खजन आशा के मुख कमल मे वास करने को मानो फडफडाने लगा। आज उसे कितने ही महीना से अपना परिचित पुष्प मिला। हृदय चातक को स्वाति सलिल मिला। भविष्य को आज अपने दग खजन का आशा के यौवन पद्म मे बैठने के सगुन का फल मिला। उसकी आशा आज सुफला हुई।

भविष्य ने एक बार बडे कष्ट से आशा के मुख से दृष्टि हटाकर तरलग की ओर डाली। उसे प्रतीत हुआ मानो तरलग का हृदय भी चन्द्रानन को देख समधिक चपल हो आया है। उसने एक बार तरलग की तरल व पतली पतली तरगो से आशा के सुकुमार व कोमल अगो को मिलाया, किन्तु भविष्य को वह सौन्दय ढूढने पर भी उनमे न मिला। उसे तरलग के निर्जीव अग आशा के सुन्दर अगो के सामन बिलकुल ही कान्तिहीन तथा नीरस लगे। भविष्य का मुख आन्तरिक भावोच्छवास से सहसा खिल उठा। मानो कि वह उसके मनोगत भाव आशा को जतलाने के लिए ही प्रफुल्लित हुआ हो।

इन सब बातो को लिखने मे इतना समय लगा, किन्तु यह काम अत्यन्त अल्पकाल का था।

आशा की भी यही दशा हुई। किन्तु वह लज्जाधिक्य से भविष्य के मुख कमल पर अपने लोचन भृग न अडा सकी।

"छुटी न लाज न लालचौं, प्यो लखि नेह गिरेह,
सटपटात लोचन खरे, भर सँकोच सनेह।'

आशा पृथ्वी की ओर दृष्टि डालकर अपने कोमल पद नखों से मिट्टी खुरचने लगी। वह मानो मन ही मन कह रही थी—

"इन दुखिया अखियान को, सुख ही सिरज्यो नाहिं
देखें बने न दखिबो, बिन देखें अकुलाहिं।"

आशा की मुख की अरुणिमा इस समय सचमुच भविष्य की अशिष्ट-दृष्टि का तिरस्कार कर रही थी। किन्तु सुफला यह सब न देख सकी। उसकी आँखें न जाने विधि ने किस द्रव्य से बनायी थी कि वे प्रत्येक पदार्थ में सौन्दर्य-ही-सौन्दर्य अनुभव करती थीं। उसके लिए सारा संसार ही सौन्दर्यमय था। वह जब से यहाँ आयी थी तब से तरलग ही की ओर टकटकी लगाकर खड़ी थी। उसके हृदय को तरलग ने मानो अपने किसी अदृश्य गुण से बाँध लिया था। वह अधिक समय तक चुप न रह सकी और भविष्य से बोली—

देखो दद्दा, तरलग की तरल-तरग क्रीड़ा आज कितनी अपूर्व तथा सुन्दर प्रतीत हो रही है। इसके हृदय में जो लोल-तरंगें उठ-उठकर विलीन हो रही हैं वे मेरे हृदय में बड़ा आन्दोलन मचा रही हैं। एक प्रकार से तो मैं आनन्दित हो रही हूँ कि ये तरंगें आज तरलग ही के हृदय में समुत्थित होकर विलीन नहीं हो जा रही हैं प्रत्युत मेरे निर्निमेष नयनों में विश्राम ले रही हैं। मुझे प्रतीत हो रहा है मानो ये मेरी आँखों को भी अपने ही साथ डुबा ले जा रही हैं। इनका सौन्दर्य व्यर्थ नष्ट न होकर मेरे हृदय को भी अपने अदृश्य सूत्र में गूँथ ले रहा है।

किन्तु मुझे यह सोचकर बड़ा कष्ट हो रहा है कि प्रत्येक तरंग इतने अल्प-काल में ही दुर्बल होकर क्यों सुषुप्त हो जा रही है। हर एक तरंग मानो वायु से कह रही है—"गिरी जाती हूँ बालम पकड़ मेरा हाथ।" किन्तु पवन उसकी प्रार्थना स्वीकार नहीं कर रहा है। और वह तरंग निराश होकर निज सुषुप्तिमय भविष्य की चिर विश्राम दायिनी क्रोड़ में अनन्त काल के लिए सो जा रही है। दूसरी तरंग उसे देखकर भी शान्त नहीं हो रही है। वह भी रजत पट-परिधानित भविष्य के हृदय मरु में मायाविनी आशा की मृग मरीचिका के प्रलोभन में पड़ एक बार कुटिल नियति का कृश सूत्र ग्रहण कर उठना चाहती है और वायु से मृदु स्वरों में कहना चाहती है कि—

'गिरी जाती हूँ बालम पकड़ मेरा हाथ!'

किन्तु उसके उठते ही कुटिल नियति का कृश सूत्र छिन्न हो जा रहा है। और वह भग्न हृदया भी अपनी पूर्व आशाहता सखी की अनुगामिनी बन उसी निर्दिष्ट स्थान में—अन्धकारमय भविष्य की अदृश्य गोद में—तप्त निःश्वास से फेन उठाती हुई सदा के लिए सो जा रही है।

प्रिय दद्दा! मुझे कभी ऐसा प्रतीत हो रहा है कि मानो यह प्रत्येक तरंग एक एक आकांक्षा है, जो कि तरलग के हृदय में उठते ही नष्ट हो जा रही है। अहा! इस तरलग का हृदय सचमुच विशद है। इसका मानस गीता की उपदेश

सुधा से सरसित है। यह भलीभाँति जानता है कि—

"यदा विनियत चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते,
निस्पृह सवकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा।"

ग्रोर इसीलिए यह इच्छाग्रो को उठते ही नष्ट कर दे रहा है।

ऐसा कहते कहते सुफला के लोचनो से एक दो ग्रश्रु-बिन्दु टपककर तरलग के निमल जल मे लुप्त हो गये। उसके हृदय मे तरलग के ग्रसामान्य चरित्र से ग्रत्यन्त गहन प्रभाव पडा।

सुफला ने जब देखा कि मैंने जिन ग्रश्रुबिन्दुग्रो के साथ ग्रपने मानस की दुबलता तिरस्कार के साथ बहा दी थी, उन्ही ग्रश्रुबिन्दुग्रो को तरलग के उदार हृदय ने ग्रपने मे मिला लिया है ग्रौर जब उसे ग्रन्वेषण करने पर भी नही मिले कि मेरे ग्रश्रु-बिन्दु तरलग के द्रवित हृदय मे किस स्थान पर गिरे थे, तब उसकी दशा ग्रौर भी विचित्र हो गयी। वह सहसा कह उठी—

तरलग! तुम्हारा हृदय धन्य है। तुम धन्य हो! प्रत्येक वायु के ग्रदृश्य स्पश का भी तुम्हारा हृदय इतनी उत्सुकता से स्वागत कर रहा है! तुम सहृदयता के सरोवर हो! तुम विशद हो। तुम्हारे निमल हृदय मे ग्रपने बडे होने के ग्रभिमान का कही पर एक काला छीटा भी नही है। तुमने मेरे तिरस्कार के साथ फेंके ग्रश्रुबिन्दुग्रो को भी इतना सम्मान दिया। इतने बडे हो जाने पर भी नही भूले कि मेरा हृदय इन्ही क्षुद्र बिन्दुग्रो से बना है।

निमेप ग्रभी तक निर्निमेप नयनो से सुफला के मुख को देख रहे थे। वह सुफला के इन वाक्यो को सुनकर ग्रपने को न सभाल सके। ग्रौर सहसा "वाह! वाह!" कह उठे। किन्तु वे साथ ही ग्रपनी इस ग्रशिष्टता पर ग्रत्यन्त लज्जित हुए। सरला सुफला ने इस ग्रोर कुछ भी ध्यान नही दिया। उसकी दृष्टि इस समय तक भ्रमण करती हुई तरलग के दूसरे भाग म जा पहुची। उसने देखा कि तरलग के हृदय से चचल पीतप्रभा निकल रही है। सुफला को प्रतीत हुग्रा मानो स्वय कमलालया कमला कमल दल से उतरकर तरलग के निमल जल म स्नान कर रही है, जिसके शरीर की काचन-कान्ति जल के गभ मे ग्रत्यन्त सुन्दर जान पडती है। किन्तु वह इतने मे समझ गयी कि यह देवीजी के द्वार के दीप शिखा का प्रतिबिम्ब है। सुफला ही इस दीपक को वहाँ जला ग्रायी थी। उसे सहसा याद ग्रा गया—

"परगुणपरमाणून्पवतीकृत्य नित्य—
निजहृदि विकसन्त सन्ति सन्त कियन्त।"

सुफला कहने लगी—तरलग! तू भी ऐसे "सन्त कियन्त" मे से एक है, तेरे गुणग्राही हृदय मे उस क्षुद्र शिखा का बिम्ब इतना वृहत् दिखलायी दे रहा है मानो "बालाक कोटि प्रभा" स्नान कर रही हो।

निमेप की रही सही सुधि भी इन बातो को सुनकर जाती रही। उनका हृदय सुफला के "छुटी न शिशुता की भलक, भलक्यो यौवन ग्रग' की 'दीपति देह दुहून मिलि' मे फिसल गया। बिचारी विजया का प्रेम उनके मन से सुफला के "दिपति ताफ्ना रग" की शिखा मे कर्पूर के सदृश उड गया, बिचारी का चिर-

सिंचित स्नेह का बाँध उस रूप राशि की प्रबल धारा के सामने न ठहर सका ! टूट ही गया ! निमेष सुफला के रग मे निमेष निमेष म घुलने लगे, उन्हें सुफला तरलग से भी एक सुदर सरी प्रतीत होने लगी—

"यौवन महासर मे रूप को सलिल भरो,
तरल तरग हाव भावन को भाव है।"

निमेष के "ग्रग ग्रग सब भौंर म भयो भौंर की नाव।" उनके नयन निर्निमेष हो गये। ग्रौर स्वतन्त्र हो सुफला के मुखकमल पर ग्रबोध "ग्रलि-छौना" के सदृश बँध गये। उड न सके। निमेष का कोई बल न चला।

इतने ही मे ग्राशा ने सुफला की ग्रँगुली दबायी। सुफला इस सकेत से समझ गयी कि ग्राशा की इच्छा घर जाने की है। वह ग्राशा से कहने लगी—

क्यो ग्राशु, तू ग्राज ग्रलग खडी होकर ग्रपने पद-नखो को क्या गिन रही है ? भविष्य दद्दा से ग्राजकल क्यो नही बोलती ?

ग्राशा मन ही मन न जाने सुफला को कितनी गालियाँ देने लगी। उसके ग्राँखो की सुफला तथा लज्जा के बीच मे— 'इचें खिचें इत उत फिरें" यह दशा हो रही थी। किंतु उसे ग्रपने को सुफला के व्यग बाणो से बचाने के लिए लाज की बेडी तोडनी ही पडी। वह ग्रपने निगुण भ्रू-धनुपो को खीचकर सुफला की ग्रोर देखने लगी। ग्रौर ग्रत्यन्त दबे स्वर मे बोली—

मैं कहाँ नही बोलती ?

रँगीले नारगी सदृश रसीले ग्रधरो के भीतर मुस्कान की मधुरिमा के बीच मे उसके सित दन्त बीजों से छिपे दिखलायी दिये। तरलग का जल वायु के एक तीव्र झोके के साथ उछल पडा। मानो प्रकृति ने ईर्ष्या से भविष्य के हृदय के ग्रानन्द की ग्रनन्यता भग करने ही के लिए यह नवीन उपमान प्रस्तुत किया ! तरलग सित फेन के कणो से भर गया। भविष्य को प्रतीत हुग्रा कि तरलग के हृदय मे मानो चपला स्नान कर रही है। उन्ह जान पडा मानो तरलग के ऊषा-रंजित ग्ररुण हृदय म श्वेत कमलावलि हँस रही है। भविष्य को ज्ञात हुग्रा कि मानो तरलग के भीतर श्वेत वस्त्रविभूषिता सरस्वती ग्रपनी मधुर वीणा बजा रही है। उन्होन उस तरगोत्थित श्वेत फेन कणावलि को ग्राशा की दन्तावलि का प्रतिबिम्ब समझा ! वे सोचने लगे कि तरलग का हृदय ग्राशा की ग्रधर ग्ररुणिमा के प्रतिबिम्बित होने ही से ग्ररुण हो रहा है।

ग्राशा सुफला स बार बार गृह को लौटने के लिए ग्रनुरोध करने लगी। ग्राशा की लता सी कोमल दह लाज के बाझ से दबती जा रही थी। सुफला उसका ग्रनुरोध न टाल सकी। दोनो सखियाँ गृह को चली गयी।

निमेष भी उनके चले जान पर वहाँ नही ठहरे। ग्रौर भविष्य को किसी काय का मिस बतलाकर चलते बने। भविष्य वहाँ ग्रकेले ही रह गये। निमेष ग्राज 'तरलग सरोवर' के तट मे ग्रपना 'मानस खो गये।

ग्राशा ने जात समय भविष्य की ग्रोर एक दष्टि डाली थी। भविष्य के हृदय म ग्रभी तक उसी का घाव लगा था। वे उस मधुर वेदना स फडफडाते हुए मन ही मन कहत थे—

आशे ! तुम्हारा स्वरूप सचमुच अत्यन्त सुन्दर तथा सुखद है। तुम मेरे जीवन रूपी मरु मे शीतल-जल-परिप्लुता अनन्त वाहिनी तरगिणी हो ! तुम मेरे कुहू रूपी हृदय मे सदा रहने वाली एक अचचल दीप-शिखा हो। तुम्हारा ध्यान सोम रस से भी मादक तथा सोम-रस स भी शक्तिमय है। तुम्हारे ध्यान मे वष पल के सदश व्यतीत होते हैं। तुम्हारा ध्यान मेरे मत शरीर को पुन जीवन प्रदान करता है। तुम्हारी आकृति सदा दृष्टि के स मुख रहने पर भी नवीन तथा मधुर प्रतीत होती है। उसकी मनोरमता से मन नही भरता। तुम्हारी आकृति अयस्कान्त मणि से भी शक्तिमती है। अयस्कान्त मणि सार ही को खीचती है किन्तु यह असार विचार तथा निस्सार स्वप्ना को भी अपनी ओर आकर्षित कर लेती है। धन्य आशे ! तुम्हारी अनन्त महिमा है !

तुम्हारा आभास अनन्त तारक राशि के झिलमिल मे, तुम्हारी लीला जल की तुतली तरगा म, तुम्हारा बोलना अलिदल के मदु गुजन मे, तुम्हारी छवि "शरदन्दु" मे, तुम्हारी मनोरमता वसन्त के बाल विकास मे, तथा तुम्हारा गाना कोकिल के कल कण्ठ मे क्रीडा सा करता है ! सुमुखि ! तुम त्रिभुवन-विजया हो। मेरी अमित कल्पनाओ की कल्पलता हो !

भविष्य इसी प्रकार सोच रह थ कि इतने म आराम का मग ग्रीवा मटकाता हुआ भविष्य के सामने आकर खडा हो गया। मानो वह भविष्य से कहने आया हो कि—

भविष्य, अवश्य, आशा मायामयी मृग मरीचिका होने पर भी अत्यन्त पवित्र है। मृग, मगनयनी तथा मृग मरीचिका दखने मे सुन्दर दिखलायी देती हैं तथा आशा-जनक प्रतीत होती हैं किन्तु इनसे सुख की प्राप्ति कठिन है ! इनके ऊपर अधिकार जमाना असम्भव है !

मृग चला गया। भविष्य भी अपने घर को चले गय।

चतुथ पुष्प

विरहिणी

आज विजया सब प्रकार पराजिता है। हाय ! मैं विरह व्याकुला होकर इतनी रोती हूँ, किन्तु सब अरण्य-रोदन के सदृश है। मेरी कोई नही सुनता ! मेरी वियोग की रात !—हाय ! मेरी वियोग की रात बडी विलक्षण है। इसका प्रबन्ध स्वय जगद्धात्री प्रकृति के यहाँ से भी नही हुआ है। यह कितनी बडी है, इस यामिनी मे कितने याम है,—इसका अनुमान कौन कर सकता है ?

"युग सम घटिकाएँ बार की बीतती हैं,
सखि ! दिवस हमारे हाय ! कैसे कटेंगे ?"

राधे ! तुम्हारे दिवस तो अब कट ही गये हैं, तुम्हारे बार तो अब किसी न किसी प्रकार बीत ही चुके हैं, किन्तु तुम यह कहना मेरे लिए छोड गयी हो !

अब इसे मैं रटती हूँ—

"युग सम घटिकाएँ बार की बीतती हैं,
सजनि ! रजनि मेरी हाय ! कैसे कटेगी ?"

ओह ! इस जड प्रकृति की कठोरता का क्या ठिकाना है ? कितनी ही बार मैं इसकी नीरवता को भग कर उच्च स्वर मे पुकार चुकी हूँ—"विरह रजनि मेरी हाय ! कैसे कटेगी।" किन्तु यह शून्य हृदया कुछ भी उत्तर नही देती। इसके अदृश्य उदर मे मेरा सब रुदन स्वर विलीन हो जा रहा है। मेरी विरह ज्वाल मे यह दीपा पतगिनी के सदश नही जल जाती, मेरा अविरल अश्रुपात इस काल भुजगिनी का विष बहाने मे सक्षम नही होता। मेरा दीर्घ रुदन स्वर भीषण वज्र नाद की तरह इस करालिनी की कठोरता को कँपा नही सकता। मेरी प्रत्येक वाछा, प्रत्येक उत्कण्ठा इस अहिनी के मणिस्वरूप चन्द्र की उत्तप्त किरणो को छूत ही एक विषम वेदना बन जाती है। आज मैं सब प्रकार असहाया हूँ।

पाश्ववर्ती निर्झर का प्रपात !—मेरे हृदय की आग ! किन्तु वह इसे क्यो बुझायेगा ? वह आहुति है। हाय ! ठीक कहा है—

'दिन दख नही सकते सविशेष—
किसी जन का सुखभोग कभी ॥"

वेदने ! क्या तू ब्रह्मा से अक्षय वर पा चुकी है ? यदि तू इस निर्झर प्रपात से प्रसूत विद्युत के सदश मेरी दष्टि सम्मुख प्रकट हो जाती तो मेरी अश्रु जल धार तुझे बहा देने मे अवश्य कृतकार्य हो जाती ! विद्युत एक कठोर दिल की आग है तू मेरे इस दुबल दिल की। विद्युत किसी दो पदार्थों के मेल तथा सघषण से उत्पन्न होती है, और मेल की वह्नि किसी प्रकार सही भी जा सकती है किन्तु तू दुष्टा तो विश्लेष तथा वियोग से पैदा होती है। तू किस प्रकार सहन की जा सकती है ? विद्युत की विभा केवल चक्षुओ को ही चकाचौध करती है किन्तु तू तो सारे शरीर को दुखदाई है ! तेरी ज्वाला तो सारी देह भस्म कर डालती है।

हाय ! इस पचशर के पचशरो की पचाग्नि सहते-सहते इस पचभूत शरीर को आज पाच मास हो गये हैं। कितनी प्रबल पचाग्नि है। हाय ! क्या इस कठोर तपस्या का परिणाम केवल जल-जलकर भस्म होना होगा ? जब से प्राणनाथ विमुख हुए तब से मेरे लिए सारा ससार ही विमुख हो गया है।

'तडित तरर, त्यो इम्मरद भरर
घनघोर की घरर झनकार झिंगुरन की।
पौन की लहक त्यो कदम्ब की महक लागी,
दाहक दहन लै ल सीमा उरगन की।"

हाय ! आज मेरे ऊपर इस वर्षा ऋतु को भी दया नही आ रही है। "धूम से धुवारे कहु काजर से कारे ये निपट विकरारे घन मेरे प्राणो के ग्राहक बन बठे हैं।"गरज गरज अह ! तरज तरज मेरे दिल को सता रहे हैं। "दामिनी दमकनतें भिल्ली की झमकनतें दादुर भमकनतें" कलेजा काँप उठता है। 'मोरन

को सोर सुनि पिव की पुकार सुनि चातक चकोर सुनि, हृदय फट जाता है।

हा जीवनेश ! इस दासी से क्या अपराध हुआ जो आप इसकी सुधि नहीं लेते हैं ? आपने मुझ दीना की कुटी मे आना भी छोड दिया है। इस सेविका को न भूलो नाथ ! इस पद-परिचारिका का अपराध क्षमा करो।

विजया को इसी प्रकार प्रलाप करते करते रात्रि बीत गयी। उसे आज चार मास से नीद नही आती थी। जब से निमेष अपने हृदय को सुफला के हाथो का खिलौना बना चुके थे, जब से वे अपना 'मानस' 'सरोवर' के तट मे खो आये थे, तब से वे विजया के कमरे मे एक बार झाकने भी नही गये थे। बिचारी विजया इस बात का कुछ भी कारण नही जानती थी। वह इसमे अपना ही अपराध समझती थी। वह दिन प्रतिदिन क्षीण होती जाती थी। उसके देह की सब कान्ति उड गयी थी। हाथ पाव सूखकर काटे-से हो गये थे। विजया कई बार अपने स्वामी से क्षमा माग चुकी थी किन्तु निमेष उसे धत्कार बताते थे। अपने पास तक न फटकने देते थे।

हाय ! आसक्ति भी कैसी बुरी वस्तु है। इसके पाश मे फँसकर किसका नाश नही हुआ ? इसके राज्य मे नीति, न्याय शान्ति तथा सुख किसे मिला ? किसने अपना सवस्व इस राक्षसी के उदर मे नही डाला ? कुन्दनन्दनी राह राह भटकी, द्वार द्वार की भिखारिणी बनी। विलास कुमारी ने अपना सब विलास त्यागकर भस्म रमाया। मालती ने अपना सवस्व खोया। यहाँ तक कि अपने प्राण तक इस दुष्ट दैत्यिनी को समपण कर दिये। चचलकुमारी ने राजसिह तथा औरगजेब बादशाह के बीच उतना बडा सग्राम खडा किया। गुलाब अविवाहिता रही। विहारी ने इस मायाविनी के उद्यान मे विहार कर तथा कुज के कटक से विद्ध हो करुणा के लिए आजन्म अपना विवाह नही किया ! कश्यप के आश्रम मे पवित्र जल सिक्त कुन्तला शकुन्तला ने इस पिशाचिनी के हाथ पड उतना कष्ट सहा। कहा तक कही जाय, इस दुरन्त दानवी की महिमा अपार है ! ईश्वर इसके हाथो किसी का प्राण धन न सौंपें ! यह सब अनर्थों की मूल है।

विजया अपने शोक के वेग मे यह भी नही जानती थी कि रात बीत गयी है। वह पलँग मे सोयी सोयी करवटें लेती रही। किन्तु कुटिल नियति को यह भी स्वीकार न हुआ। विजया की चचेरी सास विजया के उठने मे विलम्ब देख-कर द्वार से बाघिनी की तरह गरजी—क्यो री मुहजली, क्या अब सोयी ही रहेगी ? तेरे करम मे सोना ही बदा है, चोट्टी को दस-दस बजे तक सोने मे लाज भी नही आती। मैं क्या अब चाय बना सकती हूँ ? उठ, निमी को चाय बना के दे। उसके घमने का समय आ गया है।

विजया चटपट पलँग से उठकर खडी हो गयी। वह लज्जा के मारे मर गयी। उसे अपने ऊपर अत्यन्त घृणा हुई। वह शीघ्रता से स्नानादि कर चाय बना के निमेष के कमरे में गयी। उसन आज अपने मन मे दढ सकल्प कर लिया था कि एक बार अपने स्वामी से और क्षमा के लिए प्राथना करूँगी। उसने चाय का प्याला मेज पर रख दिया, और वह साहस के साथ एक कोने मे खडी हो गयी। उसने चाय पीने के पूर्व कुछ कहना उचित न समझा। जब निमेष ने

चाय का प्याला मेज पर रख दिया, विजया सब बोना या प्रागार बूझन लगा। पर उसका मुख लाज तथा भय के मारे नहीं खुला। उसने कई बार साहस किया कि मुह खोलूं किन्तु उसके मुह स एक भी शब्द नही निकल सका। होठ पत्ता की तरह खडखडान लगे।

अन्त म विजया सब भाँति पराजिता हो निमष के चरणों म पडकर बड़े कष्ट स रोते रोते कहने लगी—

नाथ, इस दासी को क्षमा करो। इस न बिसाग्रो। यह आपके सिवाय और किसी की होकर नही रह सकती। इसका दूसरा इस ससार म और कोई नहीं है। यह अन्य को नही जानती। नाथ! इस न भुलाग्रो। आज चार मास हो गय आपने इस दासी के कमरे को अपने पादारविन्दा स पवित्र नहीं किया। एक बार प्रसन्न मुख से इससे बोले भी नहीं। इसस दो बातें भी नहीं कीं। प्राण! इस दासी स ऐसा कौन अपराध हुआ जिसन आपको इतना कष्ट दिया? यह दासी अभी तक उस अपराध स अपरिचिता क्यो रखी गयी? क्षमा करो नाथ! इसे क्षमा करो। यह भिखारिणी आपस भिक्षा माँगती है। इस विमुख न करो।

विजया के इस रुदन को सुनकर प्रस्तर भी रो उठत। कुलिश भी शीतल हो जाता। मणि भी द्रवित हो जाती! किन्तु निमष का हृदय नही पिघला। वे मानो हृदयहीन थे। उन्हें विजया की कातरता स कुछ भी असर नहीं हुआ। उस निर्दोषा पर लेश भी दया नही आयी। उन्होंने झटका देकर अपन पाँव छुडा लिये और झल्लाकर बोले—जाग्रो, मुझे व्यथ तग न करो। मेरा स्वास्थ्य आज कल ठीक नही है। अपना काम करो।

विजया छिन्न मूल लतिका की तरह फिर उनके पाँवा मे पडकर रोने लगी। उसने आज निमेष के चरण अपने अश्रुग्रो से 'फिर' धो डाले। किन्तु हाय! उसे प्रेम-पुरस्कार कुछ भी न मिला। विजया गिडगिडाकर कहने लगी—नाथ, आपकी आज्ञा उल्लघन करन का साहस इस दासी को नही है। किन्तु जीवनेश! आपकी अस्वस्थता मे आपकी सवा स अधिक आवश्यक काय इस दासी का और क्या हो सकता है? इस सेविका स अपनी बीमारी का हाल क्यो नही कहते? इसका जन्म ही किसलिए है? यह पद परिचारिका आपकी सेवा करेगी। नाथ! स्त्रियो के लिए पति-सवा से अधिक बढकर और सुख ही क्या है? उनका यही धम है। इससे बढकर उनके लिए और कोई काम नही हो सकता।

निमेष—मैं कह चुका हूँ, जाग्रो, अपना काम करो। तुम मुझे धम का उपदेश देने नही आयी हो। मेरी आज्ञा पालन करना ही तुम्हारा धम है। तुम मेरी कुछ सेवा नही कर सकती।

विजया—किन्तु नाथ! स्वामी की अस्वस्थता मे उनकी सवा न करना क्या पाप नही है? आप कुछ बतलायें भी तो ऐसी आपको कौन सी बीमारी है जिसम यह दासी आपकी सेवा नही कर सकती? इस दासी की धष्टता क्षमा करें, यह आपका विश्लेष अधिक नही सह सकती। आप इसे अपन चरणो से न हटावें। वह स्थान आप इसे पहिले दे चुके है। स्त्री जाति का पति के सिवा

ससार मे अन्य नही है। वह अपने पति का मलीन मुख नही देख सकती। पति का प्रफुल्लित मुख ही उसके सब सुखो का सार है। पति के ही सुख मे उसका सुख है। उसके ही दुख से वह भी दुखी है।

निमेष—मैं पहिले ही कह चुका हूँ कि तुम मेरे योग्य नही हो। मैं सती का धम तुमसे अधिक समझ सकता हूँ। पति की आज्ञा उल्लघन कर चिडचिडाना स्त्री का धम नही है। वेश्याओ की तरह पति से लडना सती का धम नही है।

विजया के शिर मे मानो अनभ्र वज्रपात हुआ। उसके तले मे धरती खिसक गयी। उसके प्रम का आकाश फट गया। उसके सुख-सूय को केतु ने ग्रस लिया। वह निराधारा वेलि की तरह निमेष के चरणो मे गिर पडी। बिचारी का दारुण दुख कुछ काल के लिए विस्मृति के गहन गम मे विलीन हो गया। विजया मृत्यु की सहचरी मूर्छा की विरामदा गोद म सो गयी।

किन्तु उसके भाग्य म यह सुख कहा था? वह कुछ काल के बाद फिर उठ गयी। उसकी मूर्छा भग हो गयी। उसकी आखें क्रोध से लाल हो रही थी। मानो सती सीता ने काली जी का रूप धारण कर रक्खा हो। विजया का शरीर काँप रहा था। उसने इधर-उधर देखा किन्तु निमेष को न पाया। वे घूमने को चले गये थे। विजया आवेग के वश फिर मूर्छित हो गयी। एक तो बिचारी विषम वियोग से दुखी थी, द्वितीय निद्रा न आने से दुबला हो गयी थी, तिस पर यह अघोर लाछन वह न सह सकी।

"ग्रह ग्रहीत पुनि बात बस, ता पर बीछी मार।
ताहि पिलाई वारुणी, कहहु कौन उपचार?"

जब विजया को चेत हुआ तो वह अपने क्रोध को न रोक सकी। वह यह नारकी लाछन, यह कठोर कलक न सह सकी। उसे उचित अनुचित का ज्ञान नही रहा। समय असमय का विचार न रहा। उसके होठ कापने लग। वह अत्यन्त आवेग के साथ कहने लगी—हाय! मुझे वेश्या बतलाने मे तुम्हारी जीभ कट न गयी। मेरे लिए ऐसा अघोर शब्द प्रयोग करने मे तुम्हारा मुह बन्द नही हो गया! मेरे लिए ऐसा कठोर व्यवहार करने मे तुम्हारा हृदय फट न गया! तुम सती धम को जाननवाले बन और मैं वेश्या? तुम मुझे उपदेश दोगे? मैं कुछ नही हूँ तो स्त्री अवश्य ही हूँ, इसमे ब्रह्मा भी दूसरी जबान नही कर सकता। मैं अपने धम को—स्त्री के धम को, सती के कतव्य को अच्छी प्रकार जानती हूँ। तुम इसे बतलानवाले कोई नही हो। तुम इसे नही जान सकते। तुममे इसका कुछ सम्बन्ध नही। तुम इसके साधन मे निमित्त-मात्र हो। मैं तुम्हे नही पूजती, तुमम सती धम को पूजती हूँ। मैं तुम्हारे योग्य न सही, किन्तु मैं अपने धम म सच्ची हूँ। अग्नि शिखा सी पावन हूँ। मैं अपने धम पालन करने के लिए पूरी-पूरी उपयुक्त हूँ।

विजया का क्रोध बकते-बकते कम हो गया। उसका ज्ञान लौट आया। सुधि ने उसके हृदय मे फिर पदापण कर लिया सत असत के विवेक ने उसका अचल पकड लिया। विजया मानो सोते से जगी। वह डर म ठिठुर गयी। उसका कलेवर

कदम्ब का सा कुसुम हो गया। वह बार बार ईश्वर से क्षमा प्राथना करने लगी। अपने कहे पर अत्यन्त पछताने लगी। उसकी आँखो मे आँसू न रुक सके। वह फूट फूटकर रोने लगी। बार बार अपने पतिदेव का स्मरण करने लगी। वह मन ही मन सोचने लगी—हाय! मैंने यह क्या किया? मेरी जीभ अपने पति के लिए ऐसे कठोर वचन निकालने मे शतधा क्यो न हो गयी! मेरे शरीर म त्रिशूल क्यो नही चुभे! मेरा पाषाण का हृदय चूर चूर क्यो नही हो गया! धम क्यो नही रो उठा! हाय! हाय! मैंने घोर पाप किया। मेरे लिए नरक म भी स्थान नही रहा! मैंने अपने स्वामी की अशुभ चिन्तना की। उनका तिरस्कार किया। अपने शुभ सतीत्व पर कालिमा की कुच्ची फेरी। अपने धम की हत्या की। हाय! इस घोर पाप का प्रायश्चित्त क्या हो सकता है? इसके सामने सहस्र गोदान भी कम हैं। ढेरो रत्न लुटा देना भी कुछ नही है। शत लक्ष वर्तिका व्रत भी कम है। यह अघोर अघ है! अक्षम है! इसका माजन नही हो सकता। हाय! आज स्वग मे सतियाँ रो रही होगी। पुण्य चेतना रहित हो गया होगा। शुभकम दुख से व्याकुल हो रहे होगे। कतव्य काँप रहा होगा!

भगवन! मुझ अबोध बाला का अपराध क्षमा करो। मैं तब अपनी चेतना मे नही थी। भले बुरे का ज्ञान मेरा साथ छोडकर चला गया था। स्मृति ने मेरी ओर आँखें मूद ली थी। सुधि ने मेरी सुधि नही ली थी। मैं तब अज्ञानावस्था मे थी। नाथ! मुझे क्षमा करो। हाय! इसका दण्ड मृत्यु से भी कठिन है। हे विधि! तू मेरे लिए एक नया दण्डविधान कर दे जिससे कि मेरे माथे से यह कलक का टीका हट जाये!

अहा! दण्ड भी कसी सुन्दर वस्तु है! कितना दिव्य द्रव्य है! कितना पवित्र तथा निमल है! इस सा निरपेक्ष ससार मे कौन है? इस सा पवित्र करने वाला अन्य कौन है? हे दण्ड! तुम धन्य हो। तुम स्वय ईश्वर की शास्ति हो। हाय! मैं तुम्हारा व्यथ भय करती थी, तुमसे वृथा डरती थी। तुम सा शिक्षक ईश्वर की सष्टि मे कोई नही है। तुम सा सवव्यापी, हितैषी, अभयदान देनेवाला, तथा तुम सा सदगुरु अन्य कोई नही है। हे निठुर! आज मेरे इस अपराध को माजन करो। मेरे कलक को मिटाओ!

विजया इसी प्रकार अनुताप के अश्रुओ से अपना कलकित वक्ष धो रही थी। उसकी चचेरी सास उसे ढूढती हुई आ पहुची। उसने फिर अपनी काली की सी हुकार छोडी—क्यो री नकटी, तुझे बार बार कहने पर भी लाज नही आती? लाज खो आयी है लुच्ची! अभी तक सोयी सायी खुराटें भर रही थी। अब उठी तो यहाँ बैठी है। चाय बना के दे आ कहा तो मेरे ललुये को न जाने क्या क्या खरी खोटी सुनायी। वह बिचारा तमतमाता हुआ चला गया। मैंने उसका मुख जाती समय देख लिया था मुहझौंसी! मैं तुझे जानती थोडी नही हूँ! आज-कल मेरा ललुआ न किसी से बोलता है, न चालता है, न खाता है, न पीता ही है न जाने चोट्टी उसे क्या-क्या सुनाती है! कहती होगी मेरे लिए चन्द्रहार बनाओ, ऐसा लाओ वैसा लाओ। वह बिचारा कहाँ स लावे! उसकी तलब तो तुझी डायिन का पेट भरने को चाहिए। आजकल छुट्टियो मे घर आ

रहा है। चोट्टी उसे सुख से नही रहने देती। जा, उठ, दाल चावल सुधार। काम करने के लिए कोई तेरी अम्मा थोडी आयी है जो तू बैठ बैठ के खाये। मेरे घर मे बहू नही चाण्डालिन आयी है।

विजया कुछ न बोली। करुणा रोने लगी। वह मानो विजया से कहने लगी —देवि, तू धन्य है, तेरी सहनशीलता को धन्य है। तू सती है।

विजया की सास चली गयी। विजया भी अत्यन्त लज्जित होकर अपने काम को चली गयी। आज उसकी आखो के आगे अधकार छा रहा था। उसके स्वामी ने वह अपने अयोग्य बतला दी थी। स्त्री के लिए इससे अधिक दुख और क्या हो सकता है? विजया को यह बात रह-रह के याद आ जाती थी। उसका कलेजा शोक से जजर हो रहा था। उसका तरुण मुख कमल मुरझा गया था। वह मन ही मन कहने लगी—हाय! आज मैंने उठते ही किसका मुह देखा!

विजया अन्नागार मे जाकर चावल सुधार रही थी। उसके आखो से अविरल अश्रुधार बह रही थी। उसकी सास बापी मे नहाने को चली गयी थी। इतने ही मे बाहर से आवाज आयी— दिद्दी! विजया ने सुफला की सरस आवाज पहिचान ली। उसने आवाज दी—आओ बहिन, मैं अन्नागार मे हूँ।

सुफला अन्नागार मे आ पहुची। विजया उसे पाकर बडी प्रसन्न हुई। उसका दुख कुछ घट गया। सुफला उसकी बडी प्यारी सखी थी। यद्यपि वह वय मे विजया से बहुत छोटी थी तथापि वह गुण तथा बुद्धि-बल मे उससे कम नही थी। सुफला आते ही अपनी सखी से कातर स्वर मे पूछने लगी—क्या बहिन, तेरा अचल आज भीगा क्यो है? मैं देखती हू कि आजकल तू दिन पर दिन कृश तथा दुबल होती जाती है। तुझे ऐसा क्या दुख है? मैं कितने ही दिनो से सोचती थी कि तुझसे तेरी क्षीणता का कारण पूछू, किन्तु उचित अवसर न मिलने से आज तक नही पूछ सकी। सखी, तेरे हाथ-पाँव सूख-से गये हैं। मुख का रग उड गया है। हाय! तुझे यह क्या हो गया?

विजया—बहिन, मेरे दुख की क्यो पूछती है। मुझे ऐसा कोई दुख नही है। जब अपना ही भाग खोटा है तो दुख करके क्या होता है?

सुफला—दुख तो ससार मे लगा ही है। यहाँ सुखी कौन है? हम समझते हैं कि राजाओ को दुख नही होता। किन्तु सारी प्रजा का भार उन्ही के सिर मे रहता है। रिआया दुखी हुई तो उन्हें और भी दुख होता है। सखी, ससार का नियम ही ऐसा है, जो ससार मे आता है उसे समझ लेना चाहिए कि दुख ही भोगने के लिए मेरा जन्म हुआ है। 'सुखादबहुतर दुख जीवित नास्ति सशय।" मनुष्य को यदि परिकर होवें सब दुखो का सामना करना चाहिए। किन्तु दिद्दी, अपनो से कहके दुख कम होता है।

विजया—बहिन, तुझसे अपना दुख क्या छिपाऊँ? तुझ-सी सखी का मिलना मेरे किसी भारी पुण्य का ही फल होगा। सुन सखी, स्त्रियों के लिए पति से वियुक्त रहने से बढकर और क्या दुख हो सकता है? तिस पर भी यदि पति रुष्ट होकर अपनी स्त्री से न बोले तो स्त्री इस आपत्ति को कैसे ठेल सकती है? स्वामी ही सती का सवस्व है। जब पति ने ही त्याग दिया हो तब स्त्री का रहा

ही कौन ? वह किस आशा से बच सकती है ?

तुझे इस बात का अनुभव नही है बहिन, तू मेरे दुःख को नही समझ सकती। मेरे हृदय की शत शत वृश्चिका-दशन की सी पीडा तू नही जान सकती। मेरे शरीर मे खर त्रिशूला के आघात की वेदना तू नही अनुभव कर सकती। हाय ! किसी का क्या दोष ?

सुफला—तेरा कहना सत्य है दिद्दी, मैं यहा पर अनुभव शून्या अवश्य हूँ। किन्तु इस वेदना को अच्छी प्रकार समझ सकती हू। मेरे शरीर मे यह पीडा न हो ता न सही किन्तु मेरा हृदय इसको अच्छी तरह अनुभव कर सकता है। जब कसाई हत्या करता है, खड्ग उठाकर निबल पशु पर वार करता है तो दर्शक का कलेजा क्या काप उठता है ? जब कोई रोता है तो सुननेवाले का हृदय क्यो पिघल जाता है ? उसके हृदय मे क्रन्दन करनेवाले का करुण स्वर आघात क्या पहुचाता है ? उसके चित्त मे चोट क्यो लगने लगती है ? मन मे मम भरी वेदना क्यो होती है। सखी, जीव की व्यथा जीव भली भाँति जानता है ! हृदय की भाषा हृदय पहिचान लेता है, हम उसे नही सुन पाते। तू कहेगी फिर एक मनुष्य दूसरे पर अत्याचार क्या करता है ? दूसरे को सताने मे सुखी क्यो होता है ? तो इसका कारण यह नही कि उस अत्याचारी मनुष्य को परवेदना अनुभव न होती हो। प्रत्युत उस मनुष्य मे एक राक्षसी शक्ति होती है, एक तामसी तृषा रहती है, उसके हृदय मे एक कुटिल विष की अग्नि रहती है, द्वेष की दावा होती है जो कि प्रबल हो जाने पर यह अत्याचार कराती है, जो कि परपीडन से शान्त होती है। यदि मनुष्य दूसरे के दुःख से दुःखी होना सीख जाते तो ससार सुखागार हो जाता। यहा दुःख न रहता। बहिन, मैं तेरे कष्ट को खूब समझ सकती हूँ। जिसके हृदय म करुणा नही हो, जिसका चित्त चीते के चमडे का बना हो, जो कल्पना शून्य हो, जो किसी के रोने म न रोता हो, जिसकी सूखी आँखो से कभी आँसू न आते हों, वही दूसरे के दुःख का नही जान सकता। किन्तु उसे जीव नही कहते, पाषाण प्रतिमा कहते हैं।

मैंने कल आशा के मुख से सुन लिया था कि आजकल जीजाजी तेरे लिए रुष्ट हैं, किन्तु इसमे तेरा क्या दोष बहिन, वे ही वस हैं। तुझ जैसी लक्ष्मी को दुःख देते हैं।

विजया—नही बहिन, ऐसा न कहो ! मैं उनकी बुराई नही सुन सकती। उनका इसम कुछ दोष नही मेरा ही भाग फूटा है। मैं ही नियति के कर से वचिता हूँ। मैं ही अपराधिनी हूँ बहिन, मैं ही दोषी हूँ। हाय ! यदि हम पति का मनोरजन ही न कर सकी तो हमारा स्त्री जाति मे होना वृथा है। तब हमारा जीवन ही किस काम का रहा ? हमारा होना न हो—

विजया अधिक न बोल सकी। वह अपने अचल मे मुह छिपाकर रोने लगी। उसके आँसू रुकन पर भी न रुके। शोक की बाढ मे साहस तथा धैर्य के उभय-तट टूट गए ! दुःख का सलिल आँखो से छलछलाकर बहने लगा। विजया अपने को न सँभाल सकी। उसकी यह दशा देखकर सुफला को अत्यन्त दुःख हुआ। वह भी अपनी सखी के अचल मे मुह छिपाकर रोने लगी। रोते रोते

दोनो के दु ख का वेग कुछ कम हो गया। शोक की बाढ का जल नयन नहरो से बह निकला। पीडा का प्रवाह कम हो गया। सुफला अपनी सखी से बोली— सखी, तुम अपने जीवन से इतनी निराश क्यो होती हो! दु ख सुख अनित्य हैं। ससार मे किसी का समय सदा एक सा नही रहता।

"है निशि दिवा सी घूमती सवत्र विपदा सम्पदा।'

तुम्हारी यह विपत्ति शीघ्र ही नष्ट हो जावेगी। तुम्हारे सुख के दिन द्रुत लौट आवेंगे—

"कस्यैकान्त सुखमुपनत दु खमेकान्ततो वा।
नीचैगच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण ॥"

धीरज धरो बहिन, तुम-जैसी सती के पास दु ख कहा फटक सकता है। विपत्ति मे धैय रखना ही मनुष्य का कत्तव्य है। दु ख का समय परीक्षा काल है! ईश्वर अपने लाडिलों को सदा कष्ट ही देता है। ईश्वर को कष्ट ही प्यारा है। सती शिरोमणि सीताजी को भी अपने स्वामी से वचिता हो दानवपति रावण की लका मे रहना पडा। ईश्वर अपने प्रेमियो को कष्ट सहिष्णु बनाता है। उन्हे अनुभवी करता है। उन्हे सिखलाता है कि दु ख को किस प्रकार पराजित करते हैं। विपत्ति मे भी अपना कत्तव्य किस प्रकार पालना चाहिए। सकट मे भी धम की रक्षा किस भाँति होनी चाहिए।

अहा! सखी, दु ख भी कैसा सच्चा सुहृद है! हम इसे वृथा घणा की दृष्टि से देखते है। इस-सा शुद्ध परीक्षक और कोई नही है। इस सा सहिष्णुता सिखलाने वाला और कोई नही है। अगर यह नही होता तो मनुष्य कोई भी काम नही करता। दया, क्षमा, उदारता आदि सात्विक गुण सभी इसी दु ख से जीवित हैं। यदि दु ख नही होता तो मनुष्य अपने को इन गुणो से अलकृत करने का कष्ट भी नही उठाता। उस अपने स्वाथ के लिए ही इन गुणो से अपने को विभूषित करना पडता है। वह सोचता है कि कभी मुझ पर भी विपत्ति पड जावेगी तो अन्य भी मेरी सहायता इसी प्रकार करेगा। मेरे ऊपर दया करेगा। मेरे अपराधो को क्षमा करेगा। दु ख ही से वास्तविक सुख की प्राप्ति होती है। "नहि सुख दु खैर्विना लभ्यते।" यही मनुष्य को सतक रखता है। नही तो मनुष्य आलसी बनकर अपने भोग विलास ही मे लिप्त रहता। यह ससार कभी डूब जाता। दु ख ही कच्छप रूप बन इसे डूबने से बचाता है। कच्छप सा कठोर बन मनुष्यो को अपना धम पालन करने के लिए वाध्य करता है। दुख ही से सारे प्रयत्न प्रसूत होते है। इसके बिना मनुष्य निश्चेष्ट हो जाता। अहा! दु ख ही सत्य है! सुख नही। इस क्षणिक सुख मे मनुष्य दूसरे की ओर तक नही देखता। अपने ही विभव विलास-भवनो मे सडकर अपना सत्यानाश करता है। सुख कितना ही हो किन्तु तृप्ति नही होती। सदा अधिकाधिक का लालच बना ही रहता है। अत दु ख ही तृप्तिकारक है! यह सुख भारी छल है! गहन प्रवचना है!

हाय! सखी, ससार भी कैसा विचित्र है! इसमे दु ख का अपमान होता है, और क्षणिक सुख का सम्मान! सत्य का निरादर, असत्य का आदर! ससार

मे सत्य सदा वक्र दृष्टि से देखा जाता है। सच्चे मनुष्य को अनेक कष्ट सहने पडते हैं। उसके निष्कपट व्यवहार से कोई सन्तुष्ट नही रहता। सच्चा व्यवहार सदा तीखा लगता है। जो 'पेट कपटी मुख मीठे" होते है, जो 'विषकुम पयो मुखम्" होते है, जो "विषरस भरे कनक घट" होते हैं इस कपटी ससार मे उन्ही की चलती है। उन्ही के गले मे दिखलावटी विजय हार पडता है। वे ही सबके प्यारे होते हैं। सच्चे मनुष्यो का इस "माया कानन" मे ठिकाना नही। उन्हें कोई भी नही पूछता।

धन्य मा! तेरी कसी विचित्र सष्टि है। कपट, छल, मोह, मद, द्रोह, क्रोध, काम, झूठ आदि को तूने अत्यन्त सुन्दर रूप दिया। उन्हे देखते ही मनुष्य इनके ऊपर मोहित हो जाता है। इनको तूने अमित आकषण शक्ति प्रदान की।

सुखद सुरभि दी जिनको तूने सखि! जिनको छवि दी सुन्दर,
मैं उनके ढिग गयी व्यग्र हो तुझे ढूढने को सत्वर।
भवरी बन उनके ढिग मैंने गाये तेरे गुण गुरुतर—
अह! मैंने अपने को तुझसे अधिक दूर सखि, पाया पर!

तूने इन सबके अदृश्य 'निर्गुण' जाल मे मनुष्य को डालकर उसे क्षमा, दया, शौच, उदारता, सयम, सत्प्रेम, सत्य, धर्मादि से अमूल्य रत्न रक्षा करने को दिये! और उन रत्नो को मणियो सा कठोर, अमूल-सा अनाकर्षणीय, तथा कर्त्तव्यपालन सा कुरूप बनाया। तेरी महिमा अनन्त है। तेरी परीक्षा अत्यन्त कठिन है। तूने सत्य को कठोर किन्तु असत्य को कोमल बनाया! सदगुणो को कुरूप तथा निराकषणीय दुर्गुणो को 'खूबसूरत' और महाकषक बनाया। 'कठोर प्रस्तर अपने हृदय म स्थान देता है, किन्तु द्रवित सलिल पाँव रखते ही डुबा दता है।' तूने भले-बुरे की पहिचान बडी कठिन रखी!

दिद्दी, ससार ऐसा विचित्र है! किन्तु तेरा कोई बाल भी बाँका नही कर सकता! तेरा धम पावक-सा उज्ज्वल तथा पवित्र है! तेरा शृगार सत्य सा अटल है! अब जीजाजी का क्रोध शीघ्र शान्त हो जावेगा। वे तुम्हें अवश्य क्षमा करेंगे।

रसोइ बनाने का समय आ गया था। विजया का दुख भी सुफला की बातो को सुनकर कम हो गया। वह रसोई बनान को चली गयी। सुफला भी अपने घर को चली गयी।

ससार मे मित्रता भी एक दुलभ द्रव्य है। समवेदना भी अपूव शक्तिमती है। धय भी एक अनुपम अलकार है। दुख भी बडा परीक्षक है!

पचम पुष्प

शरद-शशि

सायकाल का सुहावना समय है। शरद ऋतु का आकाश अत्यन्त निमल हो रहा है। आराम म अस्तागत रवि किरणो ने कनक-जाल सा डाल रखा है। न

जाने भास्कर भगवान आज किसे फँसाने को यह जाल डाले हुए है। आराम की "अरुणिमा विनिमज्जित" वक्ष राशि मे बैठा विहग वृन्द गेरुए पट पहने ब्रह्मचारियो के दल की तरह श्री दुर्गादेवीजी के गुण गा रहा है। आराम का निमल सुरभि सिंचित अनिल अपने मदु कर-तलो से ताली बजाता हुआ इधर-उधर घूम रहा है।

तरलग आजकल जल से लबालब भरा है। उसके कूल मे खिला कमल दल एकाग्र दृष्टि से अस्तासन्न रवि को देख रहा है। भविष्य भी एक शिलोपरि बैठे एकटक एक ओर को देख रहे है। उन्हे यह सायकालीन शोभा कुछ भी आनन्द नही दे रही है। सच है, "विपदि हन्त सुधापि विपायते!" उन्हे आशा के विरह ने विकल कर रखा है। वे मन ही मन प्रलाप कर रहे हैं—आज आशा को देखे एक मास हो गया है। वह आजकल अपनी सखी के साथ नौका विहार करने भी नही आती है। हाय! एक ही वष बीता है कि मैं और वह पहिले से इन दिनो मे सदा नौका रोहण कर शरद ज्योत्स्ना मे तरलग की अपूव शोभा देखते थे। मैं चन्द्र-कमल तोडकर आशा के जूडे मे बाँध देता था। उसकी फणि उठायी नागिन सी वेणी मे वह कमल मणि सा अत्यन्त सुन्दर दिखलायी देता था। पर अब वे दिन स्वप्नवत हो गये हैं। हा! ससार मे किसी के दिन सदा एक से नही रहते हैं!

"जिन दिन देखे वे कुसुम बीती चली बहार।
अब अलि रही गुलाब की अपत कटीली डार॥"

जिस दिन से आशा ने मेरे मानस मे विहार करना आरम्भ किया, जिस दिन से मैंने उसके जूडे मे अपना प्रणय-पदम गूथ दिया, उस दिवस से वह तरलग-सरोवर मे घूमने नही आती है। जिस दिन से वह मेरे अनुराग की नाव मे बैठी उस दिन से उसने नौकारोहण करना छोड दिया है।

आशु! क्या तुम भी मुझे इतना ही प्यार करती हो? क्या तुम भी मेरे लिए इतनी ही उत्कण्ठिता रहती हो? क्या तुम भी मुझे अपने प्रणय के सूत्र मे गूथ चुकी हो? अपना हृदय मेरे ऊपर न्योछावर कर चुकी हो? प्रिये! क्या तुम भी मेरा ध्यान करती हो? क्या तुम्हें भी मेरी स्मति चचल कर डालती है, मेरी याद उत्कण्ठा के पाश मे बाँध देती है? क्या तुम्हारे दग स मुख भी स्वणमय भविष्य मुसकाता है? वह भविष्य—जिसमे मुरझे कमल खिल उठते हैं, अलि मधुर वीणा बजाते हैं, विहग सुन्दर गाने लगते हैं, कोक शोकमुक्त हो जाते हैं, पथ भूले दृग माग पकड लेते हैं तम का मुख उज्ज्वल हो जाता है, ससार आलोकित हो उठता है, आशा मन्द मन्द मुसकाती है, भविष्य उसका मुख चूमता है और सुख निर्निमेष उनकी ओर देखता है?

कहते हैं कि प्रेम परस्पर होता है। प्रेयसि, यह क्या सत्य है? क्या तुम भी मुझे चाहती हो? मेरे हृदय की उत्सुकता से अभिन्न हो? मेरे प्रेम से परिचिता हो?

अहा! एक दिन जब हम ऐसे ही समय तरलग मे नौका विहार कर रहे थे तब तुमसे सुफला ने पूछा था कि तुम किस वरोगी? प्रिये! तुम नहीं समझी

थी। तब तुम्हारी सखी ने तुम्हे समझाया था कि तुम किसके साथ विवाह करोगी? किसके गले मे हार डालोगी? प्राण, तब तुमने अपनी पतली अँगुली मेरी ओर उठायी थी। तुम पीछे सकुचाई थी कि कही मैंने तुम्हारा यह सकेत न देख लिया हो। पर यह बहुत वर्षों की बात है, तुम्हें इसकी स्मृति नही होगी।

हाय! अब तुम उसी प्रकार आकर निमय मेरे पास क्यो नही बैठती? मुझसे अपने लिए हार क्यो नही गुथवाती? अब तो मैं उन दिनो से अच्छा हार बनाने लग गया हूँ। "मेरी साडी काँटो मे उलझ गयी है"— कहकर अब तुम मुझे क्यो नही पुकारती? जब कभी तुम्हारा जूडा खुल जाता था तो मैं उसे फिर बाँध देता था। प्रिये, अब मैं बहुत अच्छा जूडा बाध सकता हूँ—अब तुम मेरे पास क्यो नही आती? क्या तुम मुझे अब प्यार नही करती? नही, सचमुच नही करती हो। नही तो तुम मेरे पास क्या नही आती? ठीक है, मुझमे ऐसा कौन सा गुण है जो तुम्हे बाँध सके! तुम्हे मुझसे अच्छे जूडे बाँधनेवाले मिल सकते हैं मुझसे अच्छे साडी सुलझानेवाले मिल सकते है, कि तु मुझे—मुझे तुम सा मन बाँधनेवाला कोई नही मिल सकता। तुम सा ग्रथि सुलझानेवाला कोई नही प्राप्त हो सकता।

प्रियतमे! तुम्हे मुझ सा सुमन शृगार करनेवाले अनेको मिल सकते हैं, तुम्हारे लिए मुझसे खेलनवालो का भी अभाव नही है। किन्तु सुमुखि! मेरे लिए तुम्हारी जैसी सुमना का पाना कठिन है! तुम जैसी खिलौने की प्राप्ति असम्भव है।

पर हाय! तुम मेरी चिन्ता क्यो करोगी? मुझमे क्या है? "नहि पराग, नहि मधुर मधु नहि विकास।" न गुण, न रूप न विद्या-बल! किन्तु मैं तुम्हारी उस मादक छवि को नही भूल सकता! तुम्हारी "वह चितौनि औरे कछू' नही भूल सकता! तुम्हारी "दीप-शिखा सी देह" के लिए मेरा मन पतग सदा भटकता रहता है। मैं तुम्हारे चन्द्रानन को अपने हृदय से नही हटा सकता! जब जब वायु के झोको से तरलग का जल अधिक चपल हो उठता है तब तब मैं अपने चारो ओर देखता हूँ कि कही से मेरी चन्द्रानना तो नही आ रही है। मैं दिन मे भी चाँद ढूढता हूँ, किन्तु तुम कभी नही आती हो!

हाय! क्या मेरी आशा निराशा मात्र है? क्या मैं अभी तक विधि विधान के मरु म व्यथ भटक रहा हूँ? क्या मैं मग मरीचिका के लिए उत्कण्ठित हो रहा हूँ? क्या मेरी आशा कल्पित है? नही ऐसा नही हो सकता।

"जाको जापर सत्य सनेहू सो तहि मिलत न कछु सन्देहू।"

मेरे हृदय की आशा कलि अवश्य फूटेगी! मेरा चाहा धन मुझे अवश्य प्राप्त होगा। वह छवि के बन की रसाल रूप मजरी मेरी अवश्य कहलावेगी।

मैं दिन दिन विह्वल होता जाता हूँ, किन्तु मुझे उस विह्वलता क बीच अपनी प्रियतमा की मूर्ति मिलती है। प्रस्तर के भीतर जल छिपा मिलता है। मिट्टी के मन्दिर म अनन्त शक्तिमती की प्रतिमा स्थापित दृष्टिगत होती है। "श्याम घन मण्डल म दामिनी की धारा' दिखलायी देती है। किन्तु हाय! यह आशा फिर भी साथ नही छोडती है।

प्रेम, क्या तुम्हारी लीला इतनी विचित्र है ? क्या तुम्हारे यहाँ दुःख ही दुःख मिलता है ? क्या तुम जान-बूझकर किसी को लुटाने ही मे आनन्दित होते हो ? क्या तुम्हें अचल को चचल करने मे ही सुख मिलता है ? क्या तुम दोनो को लडाना ही अपना कर्तव्य समझते हो ? किन्तु तिस पर भी तुम सबके आराध्य क्यो हो गये हो ? तुम्हारे यहाँ दुःख ही मे सुख क्यो मिलता है ? लुटने ही से जुटाव क्यो होता है ? चचलता ही मे शान्ति क्यो मिलती है ? लडने ही से मेल क्यो अधिक होता है ?

"दृग उरझत टूटत कुटम जुरत चतुर चित प्रीति,
गाँठ परत दुरजन हिए दई ! नयी यह रीति !"

प्रेम ! तुम्हारी रीति इतनी न्यारी क्यो है ?

"कानन चारी नैन मृग नागर-नरन शिकार"—

तुम्हारे यहाँ यह कैसा आखेट खेला जाता है ? हे शक्तिमन ! तुम दुबलो पर ही अपना वार क्यो करते हो ? क्या तुम मेरी प्रेयसी के भ्रू भगो से भय खाते हो ? उन निर्गुण धनुषो के बाणो से डरते हो ? जो तुम "यतस्तन्नेत्र सचार सूचितेषु प्रवतते ।" जाओ, प्रेम, एक बार अपने कुसुम शर से मेरी प्रियतमा का हृदय भी छिन्न कर आओ ! यदि तुम उसके "उपलेन चेत" से भय खाते हो तो एक बार अपनी मधुर मुरली बजाकर उसके मृग दृगो को इधर फेर दो। प्रेम, मेरा इतना उपकार कर दो ।

"पीडा खो के प्रणत जन की पुण्य होता बडा है ।"

भविष्य इसी प्रकार विचार मग्न थे । इसी समय निमेष भी मन बहलाने के लिए यहाँ आ पहुचे । भविष्य निमेष की आन्तरिक दशा से परिचित न थे । वे अपने मन के भाव छिपाकर निमेष मे परिहास करने लगे। किन्तु निमेष उनकी दशा को भली भाँति जानते थे । वे भविष्य स पूछने लगे—क्यो, आज उदास से क्यो हो रहे हो ?

भविष्य—दद्दा, उदासी कुछ नही है । शिर पीडा हो रही है इसी से मुख मलीन हो रहा है ।

निमेष—हाँ, 'शर पीडा' अवश्य सताती है ।

भविष्य के सुनने मे निमेष का व्यग भरा 'शर' नही आया। वे निमेष की अधिक छेडछाड से बचने के लिए उनसे गाना सुनाने के लिए अनुरोध करने लगे। निमेष सगीत शास्त्र मे बडे निपुण थे । उनका स्वर भी बडा मधुर था, किन्तु अब वे और दिनो के से निमेष नही रह गये थे । वे अत्यन्त दुबल हो गये थे । उनका स्वर भी क्षीण हो गया था । उन्हे तो आज सोये पूरे चार मास हो गये थे । वे भविष्य स बोले—गान के लिए तो आज स्वर ठीक नही है, किन्तु तुम कहते हो तो एक दो गत वशी मे बजाऊँ ।

भविष्य—वाह ! यह तो गाने से भी अच्छा हुआ। तुम्हारी वशी के लिए कान अकुला रहे हैं ।

निमेष—क्या मेरी वशी की सी मीठी आवाज और किसी की नही ?

निमेष इतना सुनाकर जेब से वशी निकालकर बजाने लगे । उनके वशी

की ध्वनि वायु मे मिलकर सारे आराम म फैल गयी। भविष्य एक बार अपने सब दुख भूल गये। निमेष ने वशी बजाना मन्द कर दिया। भविष्य फिर अनुराध करने लगे। निमेष इसी प्रकार कितनी ही गत बजा चुके थे किन्तु भविष्य का मन नही भरता था।

भविष्य के हृदय का दुख उडकर हवा मे मिल गया। ससार म एक मलीन कालिमा छा गयी। भविष्य के हृदय म परिवतन देख प्रकृति ने भी अपना पट बदल लिया। किन्तु भविष्य उस सुनहले सायकाल को नही भूले थे। वह वायु की मन्द मन्द गमन ध्वनि, वह विहग-बालाओ का कलरव ! वह तरलग का तरगोत्थित कल्लोल, वह निमेष की मुरलिका का मधुर सुर ! —भविष्य ने और सुनी थी इन सबकी मिश्रित मृदु प्रतिध्वनि ! भविष्य सोचन लगे, सगीत का कैसा मधुर मेल हो रहा था !

निमेष बजाते-बजाते थक गये थे। इसीलिए वे कुछ विश्राम लेने को रुक गये। भविष्य कहने लगे—अहा ! सन्ध्या का समय भी कैसा अपूर्व मेल है ! कैसा मजुल ऐक्य है !—दुख का, सुख का ! कमलिनी कुम्हलाने लगती है, कुमुदिनी खिलने लगती है। सारे दिवस के काय-कष्ट नष्ट होने लगत हैं, तथा निद्रा की विरामप्रदा क्रोड मे सोने की आशा उत्पन्न होने लगती है।—कैसा अनुपम मेल है ! आतप का, शीतलता का। चण्डकर के प्रचण्ड-कर धार अस्त हो जाते हैं। तथा शीत रश्मि के स्वागत का शुभ सम्वाद मन्द मारुत दने लगता है।—कैसा नवीन मेल है ! आकाश का, तम का ! कैसा अपूव ऐक्य है ! द्युति व तिमिर एक नव्य रूप धारण कर लेते हैं ! कैसा सुन्दर स्वरूप है ! कैसा सुखद स्वण वण है। 'कनक' सा द्युतिमय, 'कनक' ही सा मादक ! किन्तु अब यह निशा ने अपने काले अचल मे छिपा लिया है।

मानो भविष्य की इस सुन्दर उक्ति का प्रतिबिम्ब अनन्त नभ मे पडा ! तारक राशि धीरे-धीरे झलमलाने लगी। निमेष ने वशी हाथ मे लेकर फिर 'यमन कल्याण' की गत छेडी। सारा आराम गूज उठा। भविष्य सगीत-सरोवर मे तैरन लगे। तरलग का जल चचल हो आया। दुर्गादेवीजी के मन्दिर का प्रदीप जल उठा। भविष्य ने देखा पूव मे दिव्य पीत आलोक कोटिदीप की शिखाओ सा समुज्ज्वल ! वह आलोक धीरे धीरे दिशाओ मे फैलने लगा। मानो रम्या रमणी का विवाह हो रहा हो और वह अपने श्यामल शरीर मे हरिद्रा लगा रही हो ! तारक दल मानो अभ्यागतो का सघ हो ! भविष्य ने देखा एक उज्ज्वल काचन कान्ति पूव दिशा मे हँस रही है। भविष्य सोचने लगे मानो कनक-कान्तिमती दुर्गादेवीजी अपनी सहचरी शक्ति को लेकर मन्दिर की सीढियो से तरलग के निमल जल मे विहार करने को उतर रही हैं। भविष्य ने देखा धीरे धीरे प्रकाश बढ रहा है। भविष्य ने देखा पूव दिशा मे शरद ऋतु का राकापति अपने सहचर पीयूष के साथ मुसकरा रहा है। भविष्य को याद आया—

"ये पूव यवसूचिसूत्रसुहृदो ये केतकाग्रच्छद—
च्छायासाम्यमतो मृणाललतिका लावण्यभोजोऽभये

ये धाराम्बुविडम्बिन क्षणमथो ये तारहारश्रिय—
स्तेऽमी स्फटिकदण्डमम्बरचितो जातासुधाशो करा ।"

भविष्य ने देखा तरलग मे धीरे धीरे पूव से एक नाव आ रही है, भविष्य को यही धारणा हुई कि दुर्गादेवीजी अपनी सहचरी शक्ति के साथ तरलग की शोभा देख रही हैं। भविष्य बोल उठा—

धय तरलग ! तू बडा पवित्र है !

निमेष की 'यमन कल्याण' की गत अभी पूरी नही हुई थी। नाव धीरे-धीरे उनके पास ही आ गयी। तरलग के तरल-जल मे अगणित तारको का प्रतिबिम्ब "दुहरे तिहरे चौहरे" पड रहा था। पूण च द्र का प्रकाश था। दोनो चकोरो ने अपने अपने "शरदशशि" पहचान लिये। आशा तथा सुफला ने भी उ हें देख लिया। वे दोनो देवी दशन करके लौटी आ रही थी। निमेष के 'यमन कल्याण' की गत छेडते समय सुफला ने ही देवी द्वार का दीपक प्रज्वलित किया था। भविष्य तथा निमेष को अपार आन द हुआ। एक को दूसरे की सुधि नही रही। दोनो के "पलकन हू परिहरिय निमेषी।" तरलग का जल समधिक चचल हो आया। नाव हिलने लगी। प्रतीत हुआ मानो राकेश्वर की अदृश्य रश्मिराशि ग्रहण कर रूप तथा यौवन तरल तरगो मे झूल रहे हैं। पीयूष तथा प्रभा हिलोरें ले रहे हैं। तारको का बिम्ब तरलग के जल मे चपल हो गया। भविष्य तथा निमेष के दृग-तारक भी चपल हो गये।

सबसे तो अदभुत पर यह था आज चकोरो के दग द्वय
तृप्त नही होते थे सामुख देख चारु त्रय-चन्द्र-उदय !

निमेष अपने को न सँभाल सके। उनके अधरो की वशी अधरो मे ही रह गयी। उ हे आज सुफला का रूप और भी असामा य मालूम पडा ! शरदे दु के आलोक से उसकी छवि का मेल अत्य त मधुर लगा ! सुफला का अचल वायु के झोके के साथ उसके शिर से खिसक पडा। वह अपने जूडे मे देवी प्रसाद का पुष्प लगा आयी थी। निमेष के लोचन मृग मँडराते हुए उस सुमन पर अड गये ! निमेष का हृदय सुफला की नागिन सी वेणी की प्रसून मणि के आस पास पतग-सा भ्रमण करने लगा। उनका मन हाथ मे न रहा ! उ होंने एक आह छोड ही दी !

भविष्य को इस सबकी कुछ खबर नही थी। उनकी भी वही दशा हो रही थी। वे दो ही घण्टे पूव जिससे मिलने के लिए उतने अकुला रहे थे वही उह इस समय मिल गयी थी। वे आशा के अन त रूप-सुधा निधि मे तैरने लगे।

इतने ही मे अनिल मानो गाने लगा ! सुफला आशा से कहने लगी—सखी, अब तो नाव किनारे लग चुकी है।

आशा का ध्यान सहसा भग हुआ। वह भय के मारे ठिठुर गयी। आज वह अनथ कर चुकी थी। शरद शशि का कलक आज उसके च द्राकार भाल पर लग गया था। उसने आज भविष्य का सवस्व लुटा दिया था। आज वह "ह्वै मुरली सुर लीन" अपनी कुल गली तज चुकी थी। आशा आज अपना सर्व-नाश कर चुकी थी। उसने आज स्त्रियो के उज्ज्वल धम को तिलाजलि दे दी थी।"

उसके दृग मगो ने आज निमेष की वशी पर मुग्ध हो आशा मे हृदय को कुसुम बाण से बिंधवा दिया था। वह भविष्य का ध्यान भूल गयी। भविष्य का चिर-सिंचित स्नेह का राग आज उस विषैली वशी की फुफकार से काला पड गया। आज आशा को निमेष की वशी न कील दिया।

आशा बडी लज्जित हुई कि सुफला ने मेरे मन का भाव जान लिया है। उसे बडा भय हुआ। उसे सुफला की बात का कुछ उत्तर न सूझा। सुफला समझी कि आशा की यह दशा भविष्य दद्दा को देखकर हो रही है। वह हँसती हुई बोली—नाव से तो उतर जावें, फिर दद्दा ही के मुख को ताकती रहना।

आशा की जान म जान आयी। वह सकुचाती हुई नाव से उतर गयी। सुफला भी नाव से उतर गयी। नाव किनारे बाँध दी। सुफला आकर भविष्य की दाहिनी ओर खडी हो गयी। आशा भी सकुचाती हुई सुफला के पीछे खडी हो गयी और छिपे छिपे निमेष की ओर प्रहार करने लगी। निमेष भविष्य से तीन हाथ की दूरी पर दूसरी शिला पर बैठे थे। आशा आज भविष्य के लिए अपना सब प्यार खो चुकी थी। हाय! सहसा ऐसा परिवतन ससार मे कहीं नही हुआ! सुफला भविष्य से बातें कर रही थी। किन्तु आशा का ध्यान उस ओर न था। उसके नयन मीन निमेष के असामान्य रूप सागर मे विहार कर रहे थे।

'चख ले चातक स्वाति सलिल छिप छिप के चख ले।"

निमेष की अवस्था २८ वष की थी। वे भविष्य स अधिक सुदर थे। इसी-लिए आशा का अनुराग पल पल मे उनकी ओर बढ रहा था। उसके लालची लोचन पराये धन के लिए तडफ रहे थे। उसने आज लाज तथा सकोच को तिलाजलि दे दी थी। ठीक कहा है—

"विवेकभ्रष्टानां भवति विनिपात शतमुख।"

निमेष को इसकी कुछ भी खबर नही थी। वे अपनी घात सुफला की ओर लगाये थे। धैय पल पल मे उनका साथ छोड रहा था। उन्होंने यहाँ अधिक ठहरना उचित नही समझा। वे भविष्य को किसी आवश्यक काय का बहाना बतला के घर को चले गये। किन्तु निमेष का हृदय उनके साथ गया या नही—कौन जाने?

आशा को बडा दुःख हुआ। उसके दगो को शरदेन्दु का हास फीका लगने लगा। उसके नयन चकोर अपने चाँद के लिए तडफने लगे। उस पल पल व्यतीत करना कठिन हो गया। वह सुफला को घर लौटने के लिए बार बार ठसकाने लगी। सुफला भविष्य की आशा लेकर आशा के साथ घर को चली गयी। आज आशा सुफला के ही यहाँ रही।

भविष्य तथा आशा मे कुछ भी बातें न हुइ। उसके लिए आज यह उक्ति चरिताथ हो रही थी—

'यां चिन्तयामि सतत मयि सा विरक्ता
साप्यन्यमिच्छति जन स जनोऽन्यसक्त।
अस्मत्कृते च परितुष्यति काचिदन्या
धिक्ता च त च मदन च इमा च मा च॥

किसे सुनाऊँगी ? मुझसे सब घृणा करेंगे। मेरे लिए फिर ससार मे ठौर नही रहेगी। मेरे लिए फिर सुख नही रहेगा। शांति नही रहेगी। आमोद-प्रमोद नही रहेंगे। हाय ! तब मैं विजया दिद्दी का सुख कैसे देख सकूगी ? उसका शृगार कैसे सह सकूगी ? उसके बिछुओ की छन छन मुझे बिच्छुओ की तरह काटेगी। उसका सिन्दूर मुझे पावक शिखा सा प्रतीत होगा। मैं पतगिनी सी जल मरूँगी। उसके सुहाग का चिह्न मुझे काले साप की तरह काट खायेगा।

पर ऐसा क्यो होगा ? ऐसा कहाँ सम्भव हो सकता है कि मैं उन्हें चाहूँ और वे मुझे न चाहे। मैं उनके गले मे जयमाल डालू और वे न पहिनें। मैं उनके चरणो मे अपना हृदय अपण करूँ और वे न स्वीकार करें। मैं क्या विजया से कम रूपवती हूँ ? फिर वे मुझे क्यो न अपनावेंगे ? क्या न अपनी बनावेंगे ? किन्तु यह मालूम कैसे हो कि वे मुझे चाहते हैं, मैं कैसे जानू कि वे मुझे अपनावेंगे ?

आशा इसी प्रकार प्रलाप करती अपने कमरे मे बैठी थी। वह दपण हाथ म लेकर अपना रूप देखने लगी। अपने आख, कान, नाक, भौं सबकी सूक्ष्म दष्टि से आलोचना करने लगी। उसकी दष्टि अपने अरुण बिम्बाधरो मे आकर अटक गयी। आशा अपने रूप पर आप ही मुग्ध होने लगी।

इतने ही मे किसी ने पीछे से कहा—

"सूरज मण्डल मे शशि-मण्डल मध्य धसी जनु जात त्रिवेणी।"

आशा ने सहमकर पीछे को देखा तो सुफला।

आशा अपने रूप-सागर मे इतनी मग्न थी कि वह सुफला का आना भी न जान सकी।

सुफला—आज अभी से शृगार हो रहा है। क्या फिर दशन करने की इच्छा है ?

आशा कुछ डर कर बोली—कैसे दशन ?

सुफला—कैसे दशन ? बडी भोली बन बैठी है।

आशा के हृदय मे साँप लोटन लगे। वह एकटक सुफला के मुख की ओर ताकने लगी।

सुफला फिर बोली—देवी-दशन।

आशा की मृतक देह मे फिर प्राण का सचार हुआ। उसे चिन्ता हुई थी कि कहीं सुफला को मेरी सब बातें मालूम न हो गयी हो। उसे सुफला के ऊपर इस प्रकार सूनसान आने के लिए क्रोध भी आया। अपराधी सदा सशकित ही रहता है। उसकी यही दशा होती है। आशा कुछ न बोल सकी।

उसकी अजीब दशा देखकर सुफला को पहिले तो कुछ विस्मय हुआ किन्तु फिर वह समझी कि आशा का स्वास्थ्य कुछ बुरा हो रहा होगा और इसीलिए इसमे यह विकृति आ रही होगी। वह आशा से कहने लगी—सखी, मैं तुझे दिखाने के लिए आज एक चीज लायी हूँ।

यह कहकर उसने अपने अचल से एक पत्र निकालकर आशा के हाथ मे दिया। आशा पत्र पढने लगी। सुफला उसके मुख को ताकने लगी। आशा के

को चाहता नही ?

"शम्बरारि शर सहे कौन है त्रिभुवन भर मे ऐसा वीर ?"

फिर मुझ अबला की क्या सामर्थ्य ? मेरा इसमे क्या वश चलता है ? सभी किसी न किसी को प्यार करते हैं। सभी किसी न किसी को चाहते हैं। मैं भी उन्हे चाहती हूँ, मैं भी उन्हें प्यार करती हूँ। तो मैं पिशाचिनी क्यो ? मुझे पाप किस बात का ? किन्तु हाय ! तब मैंने भविष्य को क्यो प्यार किया था ? पहिले उन्ह अपना मन क्यो दिया था ? उन्ह आशा क्यो दिखायी थी ? मैं अवश्य पिशाचिनी हूँ, अवश्य पापिष्टा हूँ। मैंने बडा दुष्कर्म किया। मैंने पहिले एक को वर कर फिर दूसरे को पाने की अभिलाषा की। मैं भविष्य के सब गुण भूल गयी। उनका सब प्यार भूल गयी। मैं उनकी बाल्य मैत्री तक भूल गयी ! भगवन ! मुझे क्षमा करो !

छि, मैं यह क्या कह रही हूँ ? क्षमा किस बात की, मैंने क्या किया ? मैंने भविष्य से कब कहा था कि मैं तुम्हें वरूँगी ? उनसे कब कहा था कि मैं तुम्हे चाहती हूँ ? उनसे मैं कब बोली थी कि मैं तुम्हें प्यार करती हूँ ? वही मुझे प्यार करते हैं, मुझसे विवाह करना चाहते हैं। किन्तु इसस क्या, जो जिसे चाहता है, वह उसे मिल ही थोडी जाता है। लालची ढेरो सोना चाहता है तो क्या उसे मिलता है ? अन्धा दृष्टि चाहता है, तो वह क्या उस पाता है ? यदि बामन चाँद की इच्छा करे तो इसमे किसी का क्या दोष ? मालती के जीजा तो मालती को उतना चाहते थे, उतना प्यार करते थे, पर वह क्या उन्हे मिली ? उमा तो कुमार को प्रतिभा से भी अधिक चाहती थी पर क्या कुमार ने उसके साथ विवाह किया ? उमा बिचारी को जोगिन होना पडा। और शैवलिनी ने तो प्रताप से उतनी बार प्रार्थना की थी, पर क्या प्रताप ने शैवलिनी को अपनी बनाया ? वे दोनो भी तो बाल सहचर थे। तब फिर मैं अपने चाहे धन को पाने के लिए क्यो चिन्तित न होऊ ? जिसे मैं प्यार करती हूँ, उसकी दासी बनकर क्यो न रहूँ ? भविष्य मेरे कौन लगते हैं ? उनमे क्या रूप गुण है जो मैं उन्ह अपना तन, मन, यौवन अर्पण कर दू ? वे मेरे कोई नही हैं। मैं उन्हें प्यार नही करती। मैं उन्हे जब चाहती थी तब चाहती थी। अब मैं उन्हे नही चाहती। जब तक मनुष्य को कोई उत्तम वस्तु नही मिलती तब तक वह एक सामान्य चीज मे ही सन्तुष्ट रहता है। किन्तु पहिली के प्राप्त होने पर दूसरी का मूल्य घट जाता है। काच मणि के सामने नही ठहर सकता। काक कादम्बरी का उपमान नहो हो सकता। साधारण जल की तुलना गगा वारि से नही हो सकती।

मैं आज तक उन्हे न पहचान सकी थी। उन्हें अच्छी तरह देखने का अवसर मुझे नही मिला था। इसीलिए मैं भविष्य मे भूली थी।

'बक हो नही सकता कही है हस का सानी कभी।'

भविष्य मेरे योग्य नही है। मैं उनकी इच्छा पूरी नही कर सकती। किन्तु यदि वे मुझे प्यार नही करते हो यदि वे मुझे नही चाहते हो, तब मैं क्या करूँगी ? तब मैं किसके पास जाऊगी, किसकी होकर रहूँगी ? अपना यह दुख

किसे सुनाऊँगी ? मुझसे सब घृणा करेंगे। मेरे लिए फिर संसार में ठौर नहीं रहेगी। मेरे लिए फिर सुख नहीं रहेगा। शान्ति नहीं रहेगी। आमोद प्रमोद नहीं रहेंगे। हाय ! तब मैं विजया दिद्दी का सुख कैसे देख सकूँगी ? उसका शृंगार कैसे सह सकूँगी ? उसके बिछुओं की छन छन मुझे बिच्छुओं की तरह काटेगी। उसका सिन्दूर मुझे पावक शिखा सा प्रतीत होगा। मैं पतंगिनी-सी जल मरूँगी। उसके सुहाग का चिह्न मुझे काले साँप की तरह काट खायेगा।

पर ऐसा क्यों होगा ? ऐसा कहाँ सम्भव हो सकता है कि मैं उन्हें चाहूँ और वे मुझे न चाहें। मैं उनके गले में जयमाल डालूँ और वे न पहिनें। मैं उनके चरणों में अपना हृदय अर्पण करूँ और वे न स्वीकार करें। मैं क्या विजया से कम रूपवती हूँ ? फिर वे मुझे क्यों न अपनावेंगे ? क्यों न अपनी बनावेंगे ? किन्तु यह मालूम कैसे हो कि वे मुझे चाहते हैं, मैं कैसे जानूँ कि वे मुझे अपनावेंगे ?

आशा इसी प्रकार प्रलाप करती अपने कमरे में बैठी थी। वह दर्पण हाथ में लेकर अपना रूप देखने लगी। अपने आँख, कान, नाक, भौं, सबकी सूक्ष्म दृष्टि से आलोचना करने लगी। उसकी दृष्टि अपने अरुण बिम्बाधरों में आकर अटक गयी। आशा अपने रूप पर आप ही मुग्ध होने लगी।

इतने ही में किसी ने पीछे से कहा—

"सूरज मण्डल में शशि-मण्डल मध्य धसी जनु जात त्रिवेणी।"

आशा ने सहमकर पीछे को देखा तो सुफला।

आशा अपने रूप सागर में इतनी मग्न थी कि वह सुफला का आना भी न जान सकी।

सुफला—आज अभी से शृंगार हो रहा है। क्या फिर दर्शन करने की इच्छा है ?

आशा कुछ डर कर बोली—कैसे दर्शन ?

सुफला—कैसे दर्शन ? बड़ी भोली बन बैठी है !

आशा के हृदय में साँप लोटने लगे। वह एकटक सुफला के मुख की ओर ताकने लगी।

सुफला फिर बोली—देवी दर्शन।

आशा की मृतक देह में फिर प्राण का संचार हुआ। उसे चिन्ता हुई थी कि कहीं सुफला को मेरी सब बातें मालूम न हो गयी हों। उसे सुफला के ऊपर इस प्रकार सूनसान आने के लिए क्रोध भी आया। अपराधी सदा सशंकित ही रहता है। उसकी यही दशा होती है। आशा कुछ न बोल सकी।

उसकी अजीब दशा देखकर सुफला को पहिले तो कुछ विस्मय हुआ किन्तु फिर वह समझी कि आशा का स्वास्थ्य कुछ बुरा हो रहा होगा और इसीलिए इसमें यह विकृति आ रही होगी। वह आशा से कहने लगी—सखी, मैं तुझे दिखाने के लिए आज एक चीज लायी हूँ।

यह कहकर उसने अपने अंचल से एक पत्र निकालकर आशा के हाथ में दिया। आशा पत्र पढ़ने लगी। सुफला उसके मुख को ताकने लगी। आशा के

मुख मे तरह तरह के भावो के प्रतिबिम्ब पडने लगे।

आशा—यह पत्र किसका है ?

सुफला—तुम्हारे जीजा का।

आशा—कौन दे गया ?

सुफला—अपनी खिडकी मे पडा पाया।

आशा—कब ?

सुफला—आज प्रात।

आशा – नही, यह उनका नही हो सकता। इसमे तो भेजनेवाले का नाम भी नही लिखा है। तुम क्या उन्हे कलक क्यो लगा रही हो ?

सुफला—चुप रह। नाम से क्या होता है ? चोर क्या किसी को अपनी निशानी देता है ? इसे पूरा पढती क्यो नही, स्पष्ट ही तो लिखा है।

निमेष के अपमान की बातें सुनकर आशा को बहुत बुरा लगा। वह पत्र भी न पढ सकी। सुफला का विस्मय आशा के हाव भावो को देखकर और भी बढता ही गया। वह उसके हाथ से पत्र लेकर इस प्रकार पढने लगी —

प्राणेश्वरि, तुम्हे आश्चर्य होगा कि तुम्हारे लिए पत्र लिखकर मैं यहाँ क्यो छोड गया हूँ। किन्तु इसमे विस्मय की कोई बात नही। पत्र पढने पर तुम्हे यह सब ज्ञात हो जावेगा।

आज मैं तुम्हारे लिए पहिले पहल पत्र लिख रहा हूँ। आज तक मैं अपने को किसी प्रकार रोकता ही था, किन्तु अब मुझे अपने हृदय के ऊपर कुछ अधिकार नही रह गया। मैं इसकी प्रेरणा नही रोक सकता। हाय ! मुझे जान नही पडता कि मैं तुम्हें अपनी वेदना किस प्रकार बतलाऊँ। मैंने जिस दिन तुम्हे पहिले तरलग के तट मे देखा था उसी दिन तुम्हें अपना मन समर्पण कर चुका हूँ। उसी दिवस से मैं तुम्हारे प्रेम पाश म बँध चुका हूँ। उसी दिन मैं तुम्हे अपना सर्वस्व द चुका हूँ।

तुम्हारी वह मजुल मूर्ति मेरे मानस मे सदा मरालिनी सी तैरती है। तुम्हारी वह मीठी वाणी अभी तक मेरे श्रवणो मे शकरा सी घोल रही है। तुम्हारा सुखमय ध्यान सदा मेरी स्मृति म सजीव विचरता है। प्रेयसि, तुम्हारी याद मुझे चचल कर डालता है। तुम्हारा स्मरण मुझे बेचैन कर डालता है। मेरी आँखो से नीद चली गयी है। मेरी रातें सदा करवट बदलते-बदलते बीतती हैं।

प्रिये, मेरी दशा पर दया करो। मेरी दुर्बलता को क्षमा करो। आज मैं अपने को नही सम्हाल सकता। अब जो हो चुका वह हो चुका। अब वह लौट नही सकता। मेरा मन तुम्हें देखे बिना व्याकुल हो रहा है। अब तुम मुझे अपनाओ। मुझे अपना बनाओ। मेरी यह प्रार्थना स्वीकार करो। मुझे अपने हृदय म स्थान दो। अब तुम्हारे बिना मेरा हृदय सुखमय नही हो सकता। अब मेरी रक्षा तुम्हारे ही हाथ मे है।

तुम समझोगी कि मैं विवाहित हूँ। मेरी स्त्री है और इसीलिए मेरा सयोग तुम्हारे साथ नही हो सकता। मेरा और तुम्हारा सम्बन्ध सुखमय नही हो सकता। किन्तु प्रेयसि, इसकी कुछ चिन्ता न करो। तुम मेरे हृदय की अनन्य

अधिष्ठात्री होगी। इसीलिए मैंने विजया से बोलना भी छोड दिया है। अब मैं उसके कमरे मे भी नही जाता हूँ। उसका दिया पान का बीडा भी नही चबाता हूँ। शायद तुम्हे यह चिन्ता हो कि मैं फिर विजया के फुसलाने पर आ जाऊँगा और तुम्हे दुख दूगा। किन्तु प्रिये, मैं ऐसा नही करूँगा। मैंने विजया से कह दिया है कि तू मेरे अयोग्य है। वह उस दिन से मुझसे नही बोलती। वह तुम्हारी दासी होकर रहेगी।

प्रियतमे, अब मुझे अपनाना तुम्हारे अधिकार मे है। अब तुम्ही मेरी जीवन-सवस्वा हो। मुझे अपनाओ। मुझे अपना बनाओ। अब मैं तुम्हें नही भूल सकता। मैं तुम्हारे प्रेम का भिखारी हूँ। मुझे प्रेम-भिक्षा दो। तुम्हारे बिना मेरे लिए ससार अन्धकारमय है। तुम मेरे जीवन को प्रकाश देनेवाली नक्षत्र हो।

अब मैं इस पत्र को अधिक नही बढाना चाहता। मुझे भय मालूम होता है, क्योकि मेरी तुम्हारी आज तक कोई बातें भी नही हुई हैं। आज तक मैं तुमसे बोलने का अवसर ढूढता ही था किन्तु आखिरकार तुम्हे पत्र ही लिखना पडा।—तुम्हारा—

पत्रोत्तर लिखकर यही रख देना।

पत्र समाप्त हो गया। आशा कुछ न बोल सकी। उसका मुख सूख गया। हृदय जोर-जोर मे धडकने लगा। उसकी दृष्टि के सम्मुख अन्धकार छा गया। सुफला न आशा की ओर देखा। वह धीरे धीरे आशा की दशा समझने लगी। उसके मन का सशय धीरे धीरे वृद्धि पाता गया।

सुफला—क्या अब भी इसमे सन्देह है कि पत्र किसने भेजा ?

आशा फिर भी कुछ न बोली। उसकी दृष्टि एकटक पत्र की ओर लगी थी। सुफला फिर बोली—

क्यो आशु, आजकल तुझे क्या हो गया है ? तू बोलती तक नही। मैं देखती हूँ कि तू पहिले से कृश भी हो गयी है। आजकल तू मेरे यहाँ भी नही आती। न जाने भीतर ही भीतर सड के क्या सोचा करती है।

आशा यह सुनकर सकबका सी गयी। वह सहसा कह उठी—नही, मैं उन्हे प्यार नही करती, वे मेरे कौन—

सुफला—ऐं, यह क्या कहती है ? किसे प्यार नही करती ?

आशा चुप रही। उसे मन ही मन अपने कहे का बडा पछतावा हुआ। वह सुफला से बहुत डरती थी। सुफला आशा को फिर भी निरुत्तर देखकर अत्यन्त दुखी हुई। वह बोली—

तुझे क्या हो गया आशु ! छि, तू तो बोलती भी नहीं। मैंने तेरी ऐसी दशा पहिले कभी नही देखी थी। न जाने तुझे आजकल कसी बीमारी लग गयी।

आशा ने सिर नीचा कर लिया। सुफला फिर कहने लगी—मैं तो इस विषय म तुझसे परामर्श लेने आयी थी। किन्तु तू बात का उत्तर भी नही देती। हाय ! तुझे विजया दिद्दी के ऊपर भी दया नही आती। परसो उसका फूट फूटकर रोना मुझे अब तक याद है। हाय ! उस बिचारी के लिए कैसा अन्याय हो रहा है।

धिक्कार है ऐसे पुरुषों का जो दूसरी स्त्री पर दृष्टि रखकर अपनी गृह लक्ष्मी को इस प्रकार यातना दिया करते हैं। धिक्कार इनके प्रेम को। ये प्रेम के मिस उसका गला घोटते है। समाज शत्रु इ ही का नाम है।

आशा के हृदय मे इस समय विविध विचारों की तरगें उठ रही थी। वह कभी इधर को बहती थी, कभी उधर को। कभी अपने किये पर पछताती थी, कभी सुफला पर क्रुद्ध होती थी, और कभी उसके भय से कापती थी। वह निमेष की मूर्ति अपने हृदय स हटा नही सकती थी। उनके रूप का नशा आशा की आखो स अभी तक नही उतरा था। उनकी वशी का मादक राग अभी वह नही भूली थी। उसकी एक विचित्र दशा हो रही थी। वह इस समय सुफला का *अतिम वाक्य सुन अपने को न रोक सकी और क्रोध से कहने लगी—*

दूसरे पुरुष को बुरा बतलाने का तुम्ह किसने अधिकार दिया ? वे बुरे हैं तो अपने लिए हैं। तुम्हारा क्या बिगाड देंगे ? बिना समझे बूझे बोलना मुझे अच्छा नही लगता।

सुफला—चुप रह, तुझे ऐसे अत्याचारियो का पक्ष लेने म लज्जा भी नही लगती। वे पर पुरुष थे तो उन्ह मेरे लिए ऐसा पत्र लिखने का क्या अधिकार था ? इसमे किसी का बिगाड नही है तो क्या है ? अपनी स्त्री को कष्ट दे तथा उससे प्रीति हटाकर दूसरी स्त्री से प्रेम रखनेवाला प्रेम का मूल्य क्या समझ सकता है ? यह प्रेम नही आसक्ति है, प्यार नही व्यभिचार है।

मैं आज तेरी दशा अच्छी प्रकार ताड गयी हूँ। तू प्रेम को नही पहचानती। जिस प्रेम से हृदय मे उत्कण्ठा हो, चचलता हो, मन मे व्यग्रता हो, जिस प्रेम से प्रणयी अपनी प्रणयिनी के बिना नही रह सकता—उसे प्रेम कौन कहता है ? यह निरी आसक्ति है। और तो क्या दाम्पत्य भी यथार्थ मे प्रेम नही है। वह वास्तविक प्रेम को बतलानेवाला एक मार्ग मात्र है। उसमे फँसकर मनुष्य पीछे प्रेम का महत्त्व समझ जाता है, प्रेम को पहिचान लेता है। प्रेम किसी स आँख लडाना, किसी के लिए चचल हो उठना तथा किसी के बिना व्याकुल होना नही है। प्रेम किसी के विरह मे प्रलाप करना, किसी के स्वार्थ स प्राण समर्पण करना नही है। प्रेम किसी के सिखलाने से नही आता। वह एक अमूल्य पदार्थ है एक दुर्लभ वस्तु है। वह स्वय पदा हो जाता है। उसे सिखलानेवाला ईश्वर है। वह उसी की देन है। सच्चे प्रेम म दुख नही होता। अशान्ति नही रहती। व्याकुलता पास नही फटकती। वियोग नही सताता। वास्तविक प्रेम एक अलौकिक पदार्थ है। उसे पाने के लिए निष्काम मन चाहिए विमल बुद्धि चाहिए, इन्द्रिय निग्रह चाहिए।

तू अपने को प्रेमिणी कहने का गर्व नही कर सकती। निमेष का पक्ष लेना तेरा एकमात्र स्वार्थ है। मुझे आश्चर्य होता है कि तुझे क्या हो गया है। मुझे अभी तक सशय मात्र था, किन्तु अब निश्चय हो गया है कि तू आजकल निमेष की ओर झुकी है। छि, तेरी बुद्धि न जाने कहाँ लुप्त हो गयी है। तू अपने सुख के कारण विजया को किस घोर आपत्ति मे डाल रही है। उसके सिर म कसी भारी बला डाल रही है। *तुझे विजया के ऊपर लेशमात्र भी दया नही आती।*

"तेऽमी मानवराक्षसा परहित स्वार्थाय निघ्नन्ति ये ।"

परसों मैंने तेरे सामने भविष्य दष्टा के विषय मे एक दो बातें की थी, तू तब चिढ़न लगी थी। मैंन वह तेरा अनुराग का कुढना समझा था, पर मैं आज यथाथ को समझ गयी हूँ।

सुफला इतना बक गयी किन्तु आशा के हृदय मे कुछ चेत नही हुआ। वह इन बातो का नही समझ सकी। सच है, काम मनुष्य को अन्धा कर देता है। कामान्ध को उचित अनुचित का विचार नही रहता, सत असत का ज्ञान नही रहता। उसकी दशा नशा चढाये मनुष्य की सी हो जाती है। जब तक नशा नही उतरता तब तक वह अपने को नही पहचानता। आशा की भी यही दशा हो रही थी। उसने निमेष के रूप की गहरी छान रक्खी थी। उसे निमेष के दोष बुरे नही लगे, उलट अच्छे ही प्रतीत होने लगे। उसने फिर भी सुफला की बातों का कोई उत्तर नही दिया। वह—"माथा घूम रहा है"—कहती पलग मे जाकर सो गयी।

सुफला को आशा का यह व्यवहार देख बडा कष्ट हुआ। किन्तु वह उस पर क्रुद्ध नही हुई। उसे आशा पर दया आयी। वह इस समय आशा से अधिक कहना उचित न समझ वहा से चली गयी।

"आवत ही हर्षे नही नयनन जाके सनेह ।
तुलसी तहाँ न जाइए कचन वर्षे मेह ॥"

सुफला के चले जाने पर आशा की घबडाहट कुछ कम हुई। वह अपने तथा सुफला के बीच समस्त बातो की आलोचना करन लगी। आशा को अपने जीवन के ऊपर घृणा होने लगी। वह कहने लगी—हाय! जिसे मैं इतना प्यार करती हूँ, जिसको मिलन के लिए आठो पहर व्यग्र रहती हू, जिसे पाने के लिए मैं इतने प्रयत्न सोचती हूँ, जिसे मैं अपन प्राण समपण कर चुकी हूँ, जिसे मैं वर चुकी हूँ—वह मुझे प्यार नही करता, वह मुझे नही चाहता!

हाय! मैंने उनके लिए भविष्य को छोडा। अपनी बाल सहचरी सुफला से झगडा किया, अपनी लज्जा को तिलाजलि दी, सती धम का ध्यान न रक्खा, किन्तु अन्त में आज मालूम हुआ कि वे मुझे प्यार न कर किसी अन्य को प्यार करत हैं, किसी अन्य को चाहत हैं।

हा दुर्दैव! आज मुझे अच्छी तरह सोये पूरा महीना भर हो गया। मेरी भूख प्यास चली गयी है। रात दिन उन्ही के नाम की माला जपती हूँ। ईश्वर से यही प्रार्थना करती हूँ कि मैं उनके चरणो की दासी होऊँ। पर आज देखती हूँ कि मरी सब आशाएँ व्यर्थ हैं। मेरी सब प्राथनाएँ निष्फल हुईं। हाय! मुझ जैसी अभागिनी और कौन है? आज आशा निराशा है! असहाया है। हाय! तो क्या सुफला सत्य कहती थी कि मैं प्रेम को नही पहचानती? तो क्या मैं उन्हें यथार्थ में प्यार नही करती? उन्हें नही चाहती? हाय! सचमुच मैं उन्हें प्यार नहीं करता, उन्हें नही चाहती। यदि मैं प्रेम को पहिचानती तो मैं भविष्य को क्यों भूलती? मैं क्यों कहती कि भविष्य मे क्या रूप गुण है? हाय! हाय! मैं क्या धर्म को सचमुच भूली हूँ?

नही, ऐसा क्यो होगा ? मैं उन्हें अवश्य चाहती हूँ। मैंने भविष्य तथा उन्हे मिलाया, उन्हे अच्छा देखा, इसीलिए अपना लिया। सबसे अच्छी वस्तु तो सभी छाटते हैं, इसमे क्या पाप ? ऐसा तो नित्य हुआ करता है। नही तो दुकानो मे तरह तरह के पदार्थों को रखने का क्या अभिप्राय था ? सभी तो सर्वोत्तम वस्तु मोल लेते हैं। तो क्या प्रेम भी एक व्यापार है ?

आशा को यह सोचते सोचते नीद आ गयी। वह तरह-तरह के स्वप्न देखने लगी।

आशे, उठो यह तुम्हारी कैसी नीद है ? यह स्वप्न छोडो।

सप्तम पुष्प

हार

आज आशा को देखे एक मास हो गया है। उसने अब तरलग के तट मे आना भी छोड दिया है। आज कल सुफला भी नही आती। हाय ! आशा बीमार तो नही हो गयी ? अथवा क्या वह मुझे भूल गयी है ? क्या वह नही जानती कि मैं उसके बिना इतना व्याकुल हो रहा हूँ ! क्या वह मेरे प्रेम से अनभिज्ञ है ? नही, ऐसा नही हो सकता। आशा मुझे नही भूल सकती। यदि पद्मिनी सूर्य को भूल जाय, चकोरी चन्द्र को भूल जाय, चातकी स्वाति-जल को भूल जाय, और पतगिनी दीप प्रभा को भूल जाय, तो भी आशा मुझे नही भूल सकती।

"वरु मराल मानस तजै, चन्द्र शीत, रवि घाम" तो भी आशा मुझे नहीं छोड सकती। मैंने तथा उसने बालकाल ही से एक साथ खेला है ! वह मुझे प्यार करती आयी है, मैं उसे। वह मुझे वर चुकी है मैं उसे—तब मुझे वह क्योकर भूल सकती है ? बाल-काल की पवित्र स्मृति अक्षय होती है, तो क्या आशा सचमुच बीमार ही है। क्या उसे किसी रोग ने घेर लिया है ? हाय ! वह मेरे लिए पलग पर पडी पडी अकुलाती होगी। ईश्वर से यही प्रार्थना करती होगी कि एक बार उनसे भेंट हो जाय, एक बार उनका मुख देख लू ! किन्तु मुझे यहाँ इसकी कुछ भी खबर नही है। मैं निठुर हो यहा बैठा हूँ। एक बार उससे पूछने को भी नही गया कि तेरा स्वास्थ्य कैसा है ! हाय ! मैं बडा कठोर हूँ !

पर मैं वहा जाऊँ कैसे ? जब सुफला सुनेगी तो वह मुझसे क्या कहेगी ? वह मन ही मन हँसेगी कि भविष्य दददा इतने निलज्ज हैं। मैं आज कई वर्षों से वहा गया भी नही आज अचानक किस बहाने से जाऊँ ? किसी ने मुझसे कहा भी तो नही कि आशा बीमार है। तो मैं कैसे चला जाऊँ ? नही, मैं वहाँ नही जा सकता। आज मगल भी है !

हाय ! विरह दिन पर दिन मन को भस्म कर रहा है। आशा के बिना

दिवस कल्प-सा लगता है। प्रेम प्रति दिन प्रबल होता जाता है। अब आशा को देखे बिना सुख दुर्लभ है। अब यह वियोग नहीं सहा जाता। हाय! यदि आशा चाहती तो आज तक उसका व मेरा विवाह हो जाता। वह अपने भाई को एक पत्र भी लिख देती तो वे यहाँ आकर विवाह कर जाते। किन्तु वह भी ऐसा कैसे कर सकती है? वह कैसे लिख सकती है कि मेरा विवाह कर दो? उसकी भाभी भी तो काली-स्वरूपा है। उसने आशा के भाई को अपने पंजे में कैसे फँसा रक्खा है। नहीं तो वे क्या आशा को यहाँ छोड़ जाते? उन्हें क्या मालूम नहीं है कि अब आशा बड़ी हो गयी है, अब उसका पाणिग्रहण कर देना चाहिए।

हाय! परमेश्वर ने मुझ-सा अभागी और कोई नहीं बनाया। मुझ सा दुखी और किसी को नहीं किया। हा! भगवन्! मेरे ऊपर दया करो! मेरे अपराध क्षमा करो! तुम्हारा गुण क्षमा करना ही है। तुम सबको क्षमा करते हो। हे शक्तिमन, मुझे भी क्षमा करो। मुझे और न सताओ। तुम सबकी इच्छा पूर्ण करते हो, मेरी आकांक्षा भी पूरी करो। हे नाथ! अपने दुख और किसे सुनाऊँ? तुमने मुझे इतनी बड़ी जमींदारी दी। यदि मैं आशा को न पाऊँगा तो यह सब किस काम की होगी? मुझे इससे क्या सुख होगा?

भविष्य तरलंग के तट में बैठे इसी प्रकार विचार मग्न थे। उनकी बायीं आँख फड़कने लगी उनका संशय और भी बढ़ गया। वे आशा से मिलने के लिए और भी लालायित हो उठे। उसका कुशल-समाचार जानने के लिए और भी व्यग्र हो उठे। इतने ही में उनके कानों में किसी के आने की ध्वनि पड़ी। उन्होंने पीछे को फिर के देखा तो सुफला। भविष्य अत्यन्त प्रसन्न हुए। वे मन ही मन ईश्वर को धन्यवाद देने लगे।

भविष्य—क्यों सुफला, अच्छी तो हो? आज तुम बहुत दिनों में आयी।

सुफला—हाँ दद्दा, अच्छी हूँ। क्या कहूँ, कई बार तुमसे भेंट करने की इच्छा हुई थी किन्तु अनेक कारणों से न आ सकी।

भविष्य—आज तुम अकेली ही क्या आयी? तुम्हारी सखी का स्वास्थ्य तो अच्छा है?

सुफला—हाँ दद्दा, मेरी सखी का स्वास्थ्य तो अच्छा है किन्तु—

भविष्य—किन्तु क्या, सुफला? तुम रुक क्यों गयी?

सुफला—दद्दा, क्या कहूँ? कहती हूँ तो तुम्हें दुख होगा और अगर न कहूँ तो वह भी तुम्हारे लिए बुरा ही है। हाय! न जाने आशा के भाग्य में क्या बदा है!

सुफला ने धीरे धीरे भविष्य से आशा की सब बातें कह दी। किन्तु सुफला ने उन्हें निमेष का पत्र न दिखलाया। उसने विजया के भय से यह बात गुप्त ही रक्खी।

भविष्य की इस समय जो दशा हुई, वह अवर्णनीय है। मणि के खोये जाने पर फणिनी की जो दशा होती है, चन्द्र में बादल लग जाने से चकोर की जो दशा होती है, सूर्य के अस्त हो जाने पर कमल की जो दशा होती है, भविष्य की भी वही दशा हुई। पहिले तो उन्हें सुफला की बातों पर विश्वास नहीं हुआ।

किन्तु व सोचने लगे कि सुफला आज ऐसा परिहास क्यों करेगी। सुफला ने उनसे जिस कातर स्वर मे आशा की दशा वर्णन की थी उससे उनका सन्देह और भी मिट गया। भविष्य सोचने लगे—मेरा सुख का सूय अस्त हो गया। मेरा भाग्य चक्र फिर गया। अब मेरे लिए ससार म सुख नही रहा। अब मेरे जीवन मे आनन्द नही रहा। हाय! भगवान ने मेरे भाग्य मे यही लिखा होगा! मुझे पिता माता से रहित तो कर ही दिया था, आज मुझे आशा से भी हीन किया। अब मेरा निराश जीवन किस काम का? अब मेरा जीवित रहना न रहना बराबर है। जिस जीवन मे मुझे सुख नही रहा, जिस जीवन मे कोई सगी नही रहा, जिसम कोई अपना कहनेवाला नही रहा—उस जीवन से क्या लाभ?

हाय! यदि ऐसा जानता तो आशा को क्यो प्यार करता? उसे अपना तन मन समपण क्यो करता? उसके ऊपर अपने सब सुख न्योछावर क्यों करता? मैं व्यथ मगतष्णा मे भटका। मेरे भाग्य मे ऐसा सुख कहाँ था? ठीक कहा है "भाग्य फलति सवत्र।" विधि को जो स्वीकार होता है, वही करता है। वह किसी के सुख दु ख नही जानता, किसी के रोने से नही पिघलता। उसका लेख नही टल सकता।

"वह कब टलता है भाग्य म जो लिखा है?"

उसके नियम कठोर हैं। वह स्वय निठुर है। अपने कर्मों का फल सबको भोगना पडता है। मैंने बामन होकर चाद को पकडने की इच्छा की, पर मेरे ऐसे पुण्य कहाँ कि वह मुझे मिलता?

"पुण्य कुरुष्व यदि तेपु तवास्ति वाछा
पुण्यविना नहि भवन्ति समीहितार्था।"

ससार एक कटकमय उद्यान है। यहा मनुष्य चारो ओर दु ख के कटको से घिरा रहता है। यहाँ सुख की आशा करना निराशामात्र है। यह एक तप्त मरुस्थल है। यहा मनुष्य व्यथ मग की तरह भटकता है। व्यथ माया की मगतष्णा के पीछे दौडता है।

मृग मरीचिका है यह केवल यहाँ स्वेद ही बहता है।
यहाँ हृदय है नही पिघलता कल कल छल छल टल टल मे।

हाय! मैंने व्यथ अपने को आपत्ति मे डाला। व्यथ अपने को आशा के प्रेम-पाश म बाँधा। व्यथ उसे पाने के लिए लालायित रहा। व्यथ उसके वियोग से दु खी हो अपने स्वास्थ्य का सहार किया। मैं जानता था कि मनुष्य से कभी अचल प्रीति नही रह सकती। एक न एक दिन अवश्य टूटती है। मैंने नागिन को हार समझ अपना कण्ठ भूषण बनाना चाहा! किन्तु मनुष्य कब चुप रहता है? वह जान बूझकर अपने को फँसाता है। यह उसकी अल्पता है। मनुष्य कुछ सोचता है, ईश्वर कुछ करता है। मैं अभी आशा के लिए उतना चिंतित हो रहा था, उसे देखने के लिए उत्कण्ठित हो रहा था। उससे मिलने के लिए अकुला रहा था, सोचता था कि आशा बीमार होगी इसीलिए यहा नही आती होगी, वह मुझे देखने के लिए व्याकुल हो रही होगी—किन्तु हाय! मुझे याद करना तो एक ओर रहा, मेरे बिना व्याकुल होना तो एक तरफ रहा, वह मुझे

भूल गयी है। मुझे अपने हृदय से हटा चुकी है। मेरे इस अपरिमित प्रेम का तिरस्कार कर उसे अपने हृदय से उठा चुकी है। हाय! हाय!

इस मानवी प्रेम की क्या आशा? इससे क्या सुख मिल सकता है? इसमे क्या बल हो सकता है? मैंने बुरा किया जो आशा को अपना सब कुछ दे दिया, उसके चरणो मे अपना तन मन सब कुछ अर्पण कर दिया, उसे अपने हृदय की आराध्या बनाया, उसे अपने प्रेम की अधिष्ठात्री बनाया। जब तक मैंने आशा को अपना हृदय नही दिया था, तब तक मैं कितना सुखी था, कितना निश्चिन्त था। मैं सबको समदृष्टि से देखता था, सबको प्यार करता था, किसी विशेष के लिए व्याकुल न रहता था, उसके सामने औरो को तुच्छ नही समझता था। किन्तु हाय, इसे कौन जानता था कि पीछे मुझे ऐसा दिवस देखना पडेगा, मुझे इतना दुख भोगना पडेगा, इतना पश्चात्ताप करना पडेगा।

खैर, अब मुझे इसका अनुभव हो गया है। अब मैं सँभलकर रहूँगा। इस अधम श्रेणी का प्रेम किसी से न करूँगा। इस प्रकार अपने को किसी के हाथो का खिलौना न बना दूगा। हाय! हाय! मैं अब तक इसी को प्रेम समझ कर बठा था, घोर भ्रम में फँसा था। हे भगवन, मुझे जाग्रत करो, मुझे नवीन बल दो।

भविष्य के मुख मे सहसा यह विकृति देख सुफला को अत्यन्त दुख हुआ। वह मन ही मन कहने लगी—हाय! दद्दा के मन मे गहरी चोट लग गयी है। उसे कुछ सूझ नही सका कि इस समय भविष्य को क्या कहकर धैर्य देना चाहिए। सुफला ऐसा सोच ही रही थी कि सहसा किसी के गान के स्वर से सारा आराम गूज उठा।

सूर्य को डूबे कुछ देर हो चुकी थी। भविष्य की यह दशा देखकर प्रकृति मे भी शोक की कुछ कुछ कालिमा छा गयी थी।

दिवानाथ का विपुल विभव सब उसकी आहो से तत्काल
भस्म हो चुका था पश्चिम मे अग्नि ज्वाल बन एक कराल।

कमल दल सकुचा गया था। पुजारी जी का लडका मन्दिर के द्वार पर बैठा गा रहा था—

अह, नियति तव गति भयावनि।
विकच पद्म प्रभा दिवस की दिवस ढलते सब क्षणिक बनि।
पावसोत्स समान सुख सब शमन सदन सिधारता हा!
भव विभव भव भय पराभव दुख सुख मय देवि! ज्यो मणि।

सुफला मन ही मन कहने लगी—अहा! दद्दा के दुख से दुखी होकर श्री देवीजी इस बालक के कण्ठ मे बैठकर यह गीत गा रही हैं।

सुफला—दद्दा अब अँधेरा हो गया है। घर को जाओ। मैं भी जाती हूँ आशा के लिए दुखी न होओ। श्री दुर्गादेवीजी करेंगी तो उसकी निद्रा शीघ्र टूट जावेगी।

भविष्य—तुम जाओ, सुफला! तुम अकेली ही हो। मैं कुछ देर मे जाऊँगा। मैं इस समय सदा यही बैठा रहता हूँ।

सुफला भविष्य के दुख से चिंतित होती गृह को चली गयी। भविष्य अकेले ही रह गये। वे अपने जीवन की बीती घटनाओं को एक एक कर याद करने लगे। उन्हें अपनी बाल्यावस्था की याद आयी। उन्हें अपनी तथा आशा की बाल क्रीडा का स्मरण हो आया। भविष्य कहने लगे—अहा! तब मेरा जीवन कितना सुखमय था। मैं तब भी आशा को प्यार करता था। किंतु तब मैं उसके लिए इतना उत्कण्ठित न रहता था, उसके न मिलने से इतना दुखी न होता था, उसी के ध्यान में न रहता था। उसे पाने के लिए इतना लालायित न रहता था। आशा एक बार अपने भाई के साथ चली गयी थी, मुझे कुछ कष्ट न हुआ था।

अहा! तब मैं मिट्टी के छोटे छोटे मंदिर बनाकर देवताओं की पूजा करता था। तब मेरी ईश्वर के लिए एक विचित्र धारणा थी। अब वे विचार न मालूम क्यों लुप्त हो गये। यदि मैं अब भी उसी प्रकार खेला करता, उसी प्रकार पेड़ों की छाया में बैठ विचित्र बातें सोचा करता, बात बात पर आश्चर्य प्रकटाता, एक छोटी सी बात पर भी हँसत रहता तो सचमुच आज से सुखी होता। मेरी यह दशा न होती। बालकाल ही मनुष्य का वास्तविक शिक्षक है। तब मनुष्य में अवश्य देवीय अंश रहता है, उसका चित्त निर्मल होता है, विचार सरल रहते हैं, मन में किसी के लिए राग-द्वेष नहीं रहता। एक छोटे-से खिलौने से भी मन रीझ जाता है, तब जीव का विश्व ही प्यारा होता है। वह तब निष्काम कर्मयोगी होता है।

किंतु अब यह सब सोचने से क्या लाभ ? अब मेरा छीना बालापन फिर मुझे मिल थोड़ी सकता है। पर यदि मैं इच्छा करूँ तो क्या मैं वैसा ही सरल चित्त नहीं बन सकता ? अब तो मुझे बहुत कुछ अनुभव भी हो गया है। मैं भले बुरे को पहचानने लग गया हूँ। अब तो मैं और भी उन्नति कर सकता हूँ। मनुष्य जैसा-जैसा बड़ा होता है वैसा वैसा उन्नति करने का अधिकारी होता जाता है। उसके विचार भले बुरे के सम्पर्क से परिपक्व होते जाते हैं। यदि अब मेरा शरीर बालकों का सा नहीं हो सकता तो मेरा हृदय अवश्य एक परिष्कृत बालक हो सकता है। बालकों का हृदय थोड़े से भय दिखलाने में डर जाता है, उनकी प्रवृत्ति चंचल होती है, बुद्धि अस्थिर होती है वे अपने को प्रलोभनों में पड़ने से रोक नहीं सकते हैं। वे अपनी किसी बात में दृढ नहीं रह सकते हैं। उनकी स्मरण शक्ति इतनी उन्नत नहीं होती है। वे गूढ बातों को नहीं समझ सकते हैं। किन्तु अब तो मुझे इन बातों का कुछ-कुछ ज्ञान हो गया है। मैं संसार से थोड़ा बहुत परिचित हो गया हूँ। अतः अब मैं अपने मन को अवश्य परिष्कृत बालक बना सकता हूँ।

किन्तु हाय! मैं आशा को इतनी जल्दी कैसे भूल जाऊँ [illegible] यह छवि हटाने पर भी मेरे हृदय-पट से नहीं हटती। उसका भ[illegible] [illegible] रंग जमा गया है। अब मैं उसे छोड़कर कैसे रह सकता हूँ [illegible] हृदय को कैसे स्थिर रख सकता हूँ ? नहीं मैं आशा [illegible] उसके बिना मुझे कहीं सुख नहीं मिल सकता। उसके [illegible]

। जिसको आज तक मैं अपना सवस्व समझना आया हूँ, जिसको मैंने अपना सबकुछ समपण कर दिया है, जिसको मैं अपने हृदय मंदिर की अधिष्ठात्री देवी बना चुका हूँ, जिससे मैं भावी मे अनेक सुखो की आशा करता आया हूँ— उसे अपने हृदय से बाहर निकालकर, अपने ध्यान से हटाकर मैं कैसे रह सकता हूँ ? उसे भूलकर मैं उसका अनुराग कैसे मिटा सकता हूँ ?

पर हाय ! वह तो मुझे नही चाहती, मुझे नही अपनाती, वह तो मेरा प्रेम भूलकर किसी अन्य को प्यार करती है। मैं यह कैसे सह सकता हूँ ? यह सब कैसे सुन सकता हूँ ?

हाय ! हाय ! यह मेरी क्या दशा हो गयी है ? मुझे क्या हो गया है ? मैं अपने को सभाल नही सकता हूँ। हा ! नाथ, यह कैसी परीक्षा ले रहे हो ! यह मेरे किन पापो का फल है, यह मैं किन कुकर्मों का प्रायश्चित्त कर रहा हूँ ? प्रभो ! मुझे क्षमा करो। मुझे नव-बल दो। नवीन स्फूर्ति दो, उत्साह दो, मुझे कष्ट सहने की शक्ति दो। मुझे आशा के कर कमल मे असहाय तुषार बिन्दु-सा न ढुलकने दो। जिधर को वह हिले, उधर ही को न लुढकने दो। मुझे अपने को सवरण करने की सामर्थ्य दो।

"चचल हि मन कृष्ण प्रमाथि बलवददढम्।
तस्याह निग्रह मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्॥"

नाथ ! मुझे शक्ति दो ! अपने मन के ऊपर अधिकार दो। मुझे वह बाल्यावस्था का सा निष्काम मन फिर दो। मुझमे वे सरल विचार फिर भर दो।

भविष्य को सोचते सोचते रात हो गयी। उसके कान मे सहसा देवी फाटक को बन्द करने की आवाज पडी। उसका ध्यान भग हो गया। भविष्य ने आकाश की ओर देखा। अगणित तारक राशि निकल चुकी थी। कलाधर मन्द मन्द हस रहे थे, किन्तु भविष्य को वह हास अत्यन्त दु खद प्रतीत हुआ।

"कहा जानि ये कहत हैं शशिहि शीतकर नाम।"

भविष्य घर को चला गया।

हा ! भविष्य, पारिजात का हार पराजित हो आज हार बनकर तुम्हारे गले पडा !

अष्टम पुष्प

स्वप्न-भग

आज अमावस्या है। अधरात्रि का समय है। ससार नीरव हो रहा है। पेडो के पत्ते भी मौन धारण कर ज्यो के त्यो पडे हैं। आकाश मे तारे चमचमा रहे हैं। कलानिधि के बिना नभ शोभाहीन-सा जान पडता है। सवत्र घोर अधकार छाया हुआ है।

निमेष अपने कमरे मे अधनिद्रावस्था मे स्वप्न देख रहे हैं। तब ऊँचा पवन

है। उसमे चढने के लिए राह नही है। चोटी मे एक सुवर्ण सुमन खिल रहा है। निमेष उसे तोडने के लिए व्याकुल हो रहेहैं। इस समय क्या करें, उस फूल को कैसे तोडें। कुछ कत्तव्य नही सूझता है। निमेष खडे खडे एकटक उसी फूल की ओर देख रहे हैं। इतने मे मन्द मन्द पवन बहने लगी। उस सुमन की सुरभि चारो ओर प्रसारित होने लगी। निमेष उसकी सौरभ को सूघकर और भी लालायित हो उठे।

सहसा बाहर से शब्द आया। घुघ्घू! घुघ्घू! निमेष चौंककर उठ बैठे। फिर शब्द हुआ घुघ्घू!

निमेष कहने लगा—अहा! वह सुमन सुफला के मुख सा मजुल था। किन्तु हाय! मैं उसे न तोड सका। क्या अब मैं अपनी प्यारी को भी न पा सकूगा? एक तो बुरा स्वप्न! द्वितीय उठते ही घुघ्घू का शब्द! बडा अपसगुन हुआ। आज पत्रोत्तर की प्रतीक्षा करते पूरे सात दिन हो गये हैं किन्तु अभी तक कोई उत्तर नही मिला। यदि वह मुझे प्यार करती तो क्या मेरी चिटठी का उत्तर तक नही देती?

हाय! किसी ने ठीक कह रक्खा है—"कान्त कथ घटितवानुपलेन चेत।" मैं उसे इतना प्यार करता हू, उसे अपना सबकुछ दे चुका हूँ, उसके विरह मे सूखकर काँटा हो गया हू। अपनी स्त्री तक को त्याग चुका हूँ। किन्तु हाय! वह मुझे प्यार नही करती। मेरी प्रार्थना तक स्वीकार नही करती। मेरी वेदना प्रतिदिन वद्धि पाती जाती है। हृदय चचल होता जाता है। उसे पाने की इच्छा प्रबल होती जाती है। किन्तु हाय! वह मुझे नही मिलती। क्या वह मेरी दशा से अपरिचित है? क्या वह मेरी व्याकुलता को नही जानती?

प्रेम, एक बार अपनी तन्त्री मेरी प्यारी के कानो के पास बजाकर उसे मेरी दशा का परिचय दे आओ। एक बार अपने अपूर्व बल से मेरी व्याकुलता की मूर्ति उसके सामने अकित कर आओ। प्रेम, तुम एक अदभुत चित्रकार हो, एक बार मेरे अनुराग के राग मे मेरी विरह व्यथा का चित्र मेरी प्यारी के दष्टि सम्मुख चित्रित कर आओ। जाओ, बन्धु अपने बाल सहचर वसन्त को साथ लेकर मेरी प्रियतमा के हृदय मे रति की रुचिर कलिका विकसित कर आओ। वह अभी अज्ञान है। उसके अचल को यौवन के पराग से परिपूर्ण कर आओ। एक बार अपना सुरभित कलेवर उसके पास ले जाकर उसके हृदय को उत्कण्ठित कर आओ। हे मित्र, सुनता हू कि ससार मे तुम्हारे कितने ही अदश्य सहचर फिरते है, जोकि समय समय पर सष्टि का काय करते है। प्रकृति के रम्य क्रीडा स्थल म इन अदश्य सहायको की सहायता प्रत्यक्ष दिखलायी देती है। ये सष्टि का शृगार करते हैं। जल की तरगो के साथ ये ही उछलते है। मलयानिल मे ये ही गाते हैं। कुसुम कली का कोमल मुख ये ही खोलते है। कमल दल को सित तुषार का सुन्दर अलकार ये ही पहनाते हैं। हे प्रिय बन्धु, एक बार अपने इन्ही अदश्य सहायको स मेरा भी उपकार कर दो। एक बार इनकी सहायता से मेरी प्रियतमा की हृदय-कलिका भी विकसा दो। उसके हृदय-पद्म को भी यौवन के सुन्दर आभरण स सज्जित कर दो। रति के मधुर मधु

से भर दो। प्रणय के पराग से परिपूर्ण कर दो। उसके बिना मुझे चैन नही है। उसके बिना मुझे सारा ससार अलकार-रहित जान पडता है। मलयानिल प्रलय की सी आधी जान पडती है। कोकिल का कलरव भीष्म गर्जन सा ज्ञात होता है। उषा काल विरह की कराल ज्वाल सा लगता है। वायु के हिलोरे भू कम्प से प्रतीत होते हैं।

"तनक ककरी के परे नयन होत बेचैन।
वे बापुर कैसे जिवें जिन नयनन मे नैन॥"

ससार मे सचमुच ऐसे गरीबो का जीता रहना असम्भव है। इनके लिए ईश्वर भी दया नही करता। हा ! नाथ, मेरी रक्षा करो, मेरी इच्छा पूर्ण करो। हे सदय, तुम दीन दुखियो की सहायता करते हो, आज मैं भी दुखी हू, मेरी भी कुछ मदद करो।

तुम्हारा नाम लेकर अकिंचन भिक्षा-याचन करते है। हे कृपामय ! मैं भी तुम्हारे द्वार मे याचक हू, मुझे भी प्रेम भिक्षा दिलाओ। याचक को विमुख नही करते। तुम्हारा भण्डार कभी खाली नही होता। फिर तुम मुझे एक छोटी सी भीख देने मे क्या विलम्ब करते हो। हे नाथ ! मेरी ओर "कृपा कोर हेरो', तुम अन्तर्यामी हो।

"मोर मनोरथ जानहु नीके। बसहु सदा उर पुर सबही के।"

इतने ही मे निमेष के कानो मे नूपुर ध्वनि पडी। निमेष आनन्द सागर मे तैरने लगे। उसने समझा कि करुणाकर भगवान् ने मेरी विनय कान की। वह मन-ही मन ईश्वर को कोटिश धन्यवाद देने लगा। निमेष के कमरे का प्रदीप पयाभाव से बुझ गया था। निमेष ने उस अन्धकार मे किसी को हिलते देखा। उसने समझा कि मेरी प्रेयसी सुफला आ गयी है। उन्होने पलग से हाथ बढाकर उसे अपनी छाती स लगा लिया और बडे चाव से एक बार उसी अन्धकार मे उसका अधरामृत पान किया।

ज्ञात नही निमेष के चक्षुओ ने उस अटल अन्धकार मे अपनी कल्पित सुफला के अधर कसे ढूढ लिये। प्रेम ! तुम्हारा बल अनन्त है।

निमेष को इस समय अपार आनन्द हुआ। वह चुप न रह सका। उसने एक बार अपनी प्रिया का मुख फिर चूम लिया। वह मन ही मन कहने लगा—अहा ! इस समय मुझ सा सुखी और कौन है ! मुझ सा भाग्यवान और कौन है ! "मधुर मधु वधूना भाग्यवत पिबति।' अहा ! ससार मे स्त्री ही सुखो की सार है। उसके बिना सब वथा है।

"सति प्रदीपे सत्यग्नौ सत्सु तारारवी दुषु
विना मे मृगशावाक्ष्या तमोभूतमिद जगत्॥"

स्त्री के बिना ससार एक अँधेरा कूप सा है। स्त्री ही अलकारो मे सर्वोत्तमालकार है। इसके बिना कविता भी रसीली नही होती। यह मधुरता की एक मृदुल स्रोतस्विनी है। सौन्दय की एक अपूर्व खान है। इसके मुख को देखने मात्र से ही सौन्दय के सुन्दर मुक्ता झडते है। प्रणय ही सागर है। इसके हृदय मे अपार प्रेम अन्तर्हित रहता है।

"अबला तुही है सबला, रस राग की है तबला।
तमपूर्ण मम हृदय को करती है क्षण मे धवला।।"

स्त्री ही शृगार की अधिष्ठात्री है। कामनाम्रो की कल्प-लता है। वह मनुष्य को मरते मरते बचाती है। गिरत गिरते उठाती है। जलत जलते शीतल करती है। यह—

" कन्दपवाणानल-
दग्धानामवगाहनाय विधिना रम्य सरो निर्म्मितम्।।"

इसे कवियो ने सर्वौषधियो की खान बतलाया है। स्वय कविकुल कलाधर कह गये है—

"क्व भ्रातश्चलितोसि वैद्यक गृह किं तत्र शान्तीरुजा।
किन्त नास्ति गृहे सखे प्रियतमा सर्वाङ्गदाहन्ति या।
वातश्चेत्कुचकुम्भमदनवशात्पित्त न वक्रामृता-
च्छेष्माण विनिहन्ति हन्ति सुरतव्यापारकेलिश्रमात्।"

स्त्री ससार के अन्धकार मे एक आलोक है। काले बादलो मे स्थिर चचला सी है। पावक मे पवित्रता सी है। रूप की मजरी है, छवि की पुज है।

निमेष न जाने एक ही क्षण मे क्या क्या सोच गये। वे अपना सब दुख भूल गये। उन्हे यह ध्यान भी नही रहा कि वह किसे आलिगन किये हैं, किसे हृदय से लगाये हैं ? उन्होंने अपना बाहुपाश और भी दृढ कर लिया। उन्हे याद आया—

"अदर्शने दर्शनमात्र कामा
दृष्ट्वा परिष्वग रसैकलोला।
आलिगिताया पुनरायताक्ष्या
माशास्महे विग्रहयोरभेदम्।।"

विजया प्रयत्न करने पर भी अपने को न छुडा सकी। वह लज्जा के मारे मर रही थी। निमेष उससे कहने लगे हा प्रेयसि, आज तुमने बडे दिनो मे सुधि ली। मुझे तुम्हारे बिना रात भर नीद नही आती थी। तुम्हारे बिना सुख दुर्लभ हो गया था। प्रिये, इसीलिए मैंने तुम्हे पत्र लिखा था। तुम्हे अपनी व्यथा सुनायी थी। किन्तु तुमने आज तक मुझे उत्तर भी नही दिया। मैं निराशा के सागर मे डूब रहा था। तुमने सहसा आज मेरी सुधि ली।

विजया अधिक न सुन सकी। उसका हृदय दुख तथा भय से काप उठा। वह अपने को बलपूर्वक छुडाकर एक ओर खडी हो गयी। वह कुछ काल तक कुछ भी न बोल सकी। कहाँ वह सास का सवाद सुनाने आयी थी, कहाँ निमेष की यह प्रमत्तता देखकर वह अवाक रह गयी। जब उसे कुछ साहस हुआ तो वह नम्र स्वर म बोली—

हाय ! आपकी चाचीजी वहा मृत्यु शय्या मे पडी हैं, आप न जान यहाँ क्या वक रहे हैं ! वे आपको इस समय बुला रही हैं, एक बार मरने से पहिले मेरा मुख देख जा कहती हैं। उन्हे इस समय बडी बेचैनी हो रही है। उन्ह एक बार देख आइए। निमेष ने इसका कुछ उत्तर नहीं दिया। उन्ह विजया

के ऊपर अत्यन्त रोष आया। वे अपना सारा प्रलापना भूल गये। वे ग्लानि तथा क्रोध से मन ही मन जलने लगे। उन्होंने न जाने सुफला को मन ही मन कितनी गालियाँ दे दी। हाय! जो स्त्री अभी सब सुखों की खान थी वही इस समय निमेष को पिशाचिनी सी प्रतीत हुई।

निमेष को निरुत्तर देखकर विजया फिर बोली—अब इस समय यह सब भूल जाइए। उनकी अवस्था बहुत बुरी हो गयी है। ज्वर एक सौ छ डिगरी चढ गया है। स्वास फूल रहा है। आप उनके पास एक माह से नही गये। वे आपके लिए भी चिन्तित हो रही हैं। हर समय आप ही का नाम लेती हैं। अब अंतिम समय उनकी आज्ञा मान लीजिए। मुझे इस समय उन्होंने भेजा है।

निमेष के रोष का पारा इतने समय मे बहुत चढ चुका था। वे प्रथम ही बिना पूछे कमरे मे आने के कारण विजया के ऊपर क्रुद्ध हो रहे थे। इस समय उसका यह उपदश सुनकर अपमान से और भी जल गये। उन्होंने उत्तर म उसे जोर से एक लात मारी। विजया यह कठोरपदाघात नही सह सकी। और वात हत लता की तरह पृथ्वी मे गिर पडी। उसका शिर स्टूल से जा लगा। उसके माथे म बडी चोट आ गयी। विजया कुछ समय तक उसी अवस्था मे पडी रोने लगी। उसे और कुछ कहने का साहस नही हुआ। जब उसकी पीडा कुछ कम हो गयी तो वह धीरे-धीरे उठकर बैठ गयी। और रोती हुई बोली—

दासी का अपराध क्षमा करें। आपके पद इसके पूज्य हैं। आज इसका बडा सौभाग्य हुआ जो इसने इन्ह छूआ। आपने यह इसकी पूजा की। किन्तु आप इसका इतना अनुरोध अवश्य मान लें। एक बार चाचीजी को चलकर अवश्य देख आयें। उनका बचना अब कठिन है।

विजया आगे कुछ न कह सकी। अचल में मुख छिपाकर रोने लगी।

निमेष ककश स्वर म बोले—कमरे से बाहर चली जाओ। मैंने तुमसे कभी कह दिया था कि मेरे पास मत आओ। मैं तुम्हारा कोई नही हूँ। तुम मेरी स्त्री नहीं हो। जाओ, चली जाओ।

विजया—आप इसका फसला करनेवाले कोई नही हैं कि मैं आपकी स्त्री हूँ अथवा नही। मैं आपकी आज्ञा उल्लघन कर यहाँ अपने लिए नही आयी। आपकी ही चाचीजी की आज्ञा से आयी हूँ। यदि आपकी इच्छा हो तो एक बार मेरी विनय मान लें तथा उनके पास चलें।

निमेष—मैंने कह दिया है कमरे से बाहर चली जाओ। नहीं तो अच्छा नही होगा। चाची का बहाना लेकर मुझे ठगने आयी हो। इस आधी रात के समय मुझे सोने दो।

विजया आग कुछ न कह सकी। वह दम पोछती सीढियो से धीरे धीरे उतरकर अपनी सास के कमरे मे चली आयी। उसकी सास शय्या पर सोयी कराह रही थी। उनका दम रुक रहा था। उन्होंने विजया को आती देखकर कुछ पानी पिलाने के लिए सकेत किया। विजया ने काँच का गिलास उठाकर धीरे धीरे अपनी सास के गले मे दो तीन घूट पानी डाला।

वह अपनी सास की यह दशा देखकर रोने लगी। विजया आज एक

मास मे बराबर उनकी सेवा करती थी। सारी रात जागरण कर बिताती थी। उसका शरीर सूख गया था। मुख कान्तिहीन हो गया था। एक तो बिचारी अपने ही भाग्य से दुखी थी, तिस पर भी आजकल सास की शुश्रूषा करनी पड़ती थी। किन्तु विजया अपनी सास की सेवा करने मे कभी जी नही चुराती थी। उनका काम करने म कभी आलस नही करती थी। वह हर समय उन्ही के पास बैठी रहती थी। उसकी सास भी कभी-कभी पुरस्कार-स्वरूप गालियो से उसकी अच्छी पूजा करती थी। जब विजया उन्हे कुनीन पिलाती थी तो उसकी सास कहती थी कि पापिष्ठा ने मुझे विष पिला दिया है। दुष्टा मेरी मृत्यु का ठहरी है। विजया चुपचाप यह सब सह लेती थी। उसे इन बातो से कुछ भी कष्ट न होता था। वह रात दिन यही प्रार्थना करती थी कि किसी प्रकार मेरी सास स्वस्थ हो जाये। जब उसकी सास ने निमेष को आता नहीं देखा तो वे धीरे धीरे बोलीं—

मेरा लाल कहाँ है? क्या नही बुला लायी मेरे निमेष को, जा उस बुला ला। मुझे एक बार उसका मुख देखने दे। अब मैं मरती हूँ। कहाँ है मेरा लाल!

विजया अपनी सास के मुख म ऐस वचन सुनकर और भी दुखी हुई। उसे भी विश्वास हो गया कि इनका अन्तकाल निकट है। उसकी सास फिर कहने लगी—उठ, उसे बुला ला। मैं उसी की ठहरी हूँ। मेरा लाल! मैं उसका मुख देख लू।

विजया इस समय क्या उत्तर देती? अपने स्वामी की दशा कैसे कहती। वह कुछ काल तक किंकर्त्तव्यविमूढा-सी वही बैठी रही। तदनन्तर साहस करके फिर एक बार निमेष के कमरे मे जाने को उद्यत हुई, और उठकर उनके द्वार तक गयी। किन्तु उसे भीतर जाने का साहस नही हुआ। भीतर आलोक हो रहा था। निमेष ने प्रदीप जला लिया था। विजया न द्वार से झाँककर देखा कि निमेष सोये सोये करवटें ले रहे हैं। उसने एक बार साहस कर कहा—

आपको वे बार बार बुला रही हैं। यदि आप इस समय उन्हे देखने न जावेंगे तो उन्हे अत्यन्त कष्ट होगा। आप कल तक उन्हें न पावेंगे।

विजया यह कहकर उत्तर की प्रतीक्षा करने लगी। किन्तु कुछ उत्तर न मिला। विजया अपने भाग्य के लिए फूट फूटकर रोने लगी। जब उसके दुख का वेग कुछ कम हुआ तो वह एक बार कातर स्वर मे फिर बोली—

मैं उनसे क्या कह दू?

निमेष ने कर्कश स्वर मे उत्तर दिया—कह दो कि बुखार आ रहा है।

विजया आँसू टपकाती चली गयी। उसकी सास ने उसकी ओर एक स्थिर दृष्टि डाली। विजया उस दृष्टि का अभिप्राय समझ गयी। वह अपनी सास के पाँवो के पास खडी होकर धीरे धीरे बोली—वे कहते हैं कि मुझे ज्वर चढ़ रहा है।

विजया ने यह कहकर नीची दृष्टि कर ली। उसकी सास मन ही मन बड़बडाने लगी। कमरे के एक कोने मे एक दीप टिमटिमा रहा था। उसके क्षीण प्रकाश मे सारा कमरा उदास-सा प्रतीत होता था। विजया ने पानी भरनेवाली

को आज घर ही मे ठहरा रखा था। उसे सूझा कि यदि इस समय डाक्टर साहब आ जाते तो अच्छा होता। सास की घबडाहट का हाल मालूम हो जाता। उसने अपनी सास से पूछा – मा, डाक्टर को बुलाऊँ ?

विजया की सास ने इसमे कुछ असन्तोष-सा प्रकट नही किया। उसने पनिहारिन को उठाकर उससे डाक्टर को बुला लाने को कहा। पनिहारिन भी विजया के भाग से आज अच्छी ही मिली थी। वह कहने लगी, इस रात को उतनी दूर कौन जाता है ? बाप रे बाप ! क्या मुझे डर नही लगती ? हमारी जान मिट्टी की थोडी ही है। सारे दिन पानी भरते भरते थकी रहती है।

विजया ने उसे डरा धमकाकर किसी प्रकार डाक्टर को बुलाने को लगा दिया। पनिहारिन बडबडाती चली गयी। विजया कमरे म अकेली ही रह गयी। उसके हृदय मे तरह तरह के विचार उठने लगे। वह सोचने लगी—हाय ! यदि ये मुझे अकेली ही छोड जावेंगी तो मैं क्या करूँगी ? उनकी तो मुझे कुछ भी आशा नही है। आज छ सात महीने हुए उन्होने मुझसे बोलना भी छोड दिया है। बार बार कह चुके है कि तू मेरे योग्य नही है। हा दुर्दैव ! मैं क्यो न इनके बदले बीमार हुई। हे धमराज ! क्या तुम्हारे यहाँ भी न्याय नही रह ! क्या तुम भी मेरी सुधि नही लोगे ? हे पितृपति ! इनकी मत्यु मेरे शिर डाल दो। मैं आपका बडा उपकार मानूगी। हाय ! क्या दुर्भागियो को मत्यु भी सुलभ नही है ? किन्तु यदि मैं मर जाऊँगी तो मेरे पापो का फल कौन भोगेगा ? मेरे दु खो का बोझ कौन ढोवेगा ? मेरे पूवजन्म-कृत अघो का प्रायश्चित्त कौन करेगा ? विजया इसी प्रकार विह्वल होकर रोती थी। फिर कभी सोचती थी नही, मैं मृत्यु का वर क्यो माँग रही हूँ ? मेरे स्वामी की सेवा कौन करेगा ? उन्हें खाना ही बना के कौन खिला देगा ? वे कैसे ही हो किन्तु मेर तो स्वामी ही हैं। हमारा यह सम्बन्ध कौन तोड सकता है ? वे मुझे चाहे कितना ही कष्ट दें, मैं सब सह लूगी। ससार मे प्राणी आता ही किसलिए है ? सहने के लिए। ज्ञानवान पुरुषो का बचन है कि 'स तीन हैं स, श, ष। इनका अथ है सहो ! सहो ! सहो ! तो मैं कष्टो मे डरकर उनकी पद सेवा स क्या विमुख होऊँ ? मैं मर के उन्ह अकेला कसे देख सकूगी ? उनको दु खी देखकर क्या मुझे यमराज के दरबार मे भी सुख होगा ? हाय !

सहसा प्रदीप की शिखा उज्ज्वल हो उठी। सारा कमरा प्रकाशमान हो गया। इसी समय बाहर से शब्द आया घुघ्घू ! फिर सुनायी दिया घुघ्घू ! विजया इसका कुछ भी रहस्य न समझ सकी। उसे कुछ भय सा मालूम हुआ। वह अपने सास के मुख की ओर एकटक देखने लगी। प्रदीप का आलोक धीरे धीरे मन्द होने लगा। कमर मे अन्धकार अधिकार जमाने लगा। रोगिनी का साँस जल्दी-जल्दी चलन लगा। उसने जल के लिए सकेत किया। विजया जल का गिलास लेन को उठी। दीपक बुझ गया। रोगिनी का जीवन प्रदीप भी ठीक इसी समय अवसान हो गया !!! विजया की सास उसे अन्धकार मे छोड गयी !!!

विजया शीघ्रता से प्रदीप प्रज्वलित कर पानी का गिलास लेकर सास के पास आयी। वहाँ देखा तो काम पूरा हो गया है ! विजया अपन दु ख का

वेग न रोक सकी। वह फूट फूटकर रोने लगी। उसकी रोने की आवाज सुनकर निमेष भी घबडा गये।

दिशाएँ खुल गयी थी। धीरे धीरे दशा दिशाओ मे विजया के दुख की ज्वाल फैल गयी। तारक दल ने कातर हो अपना मुख छिपा लिया। विहग-वृन्द विजया को दुखी देखकर तरह तरह के शब्दो मे उससे समवेदना प्रकट कर रहे थे। डाक्टर साहब रोने की आवाज सुन बाहर ही से उलटे-पाँव लौट गये। पनिहारिन शीघ्रता से भीतर आयी। वह विजया को धीरज बँधाने लगी। किन्तु विजया का शोक और भी उमडने लगा। वह रो रोकर विलाप करने लगी।

हाय ! मा, मुझे न छोड जाओ। मैं तुम्हारे बिना अकेली कैसे रहूँगी ? हाय ! तुम सूनसान चली गयी और मुझे अधकार मे छोड गयी। मा ! मुझे भी अपने साथ ले जाओ। मैं वहा तुम्हारी सेवा करूँगी। मा ! मा !—

विजया यह कहते-कहते अचेत होकर अपने सास के पांवा मे गिर पडी। मानो वह भी अपने सास के साथ जाने को उद्यत हुई। पनिहारिन यह देखकर घबडा गयी। वह दौडती हुई निमेष के कमरे मे जाकर यह सब समाचार सुना आयी। निमेष अवाक् रह गये। वे अपना सब खेल भूल गये। उनका स्वप्न सहसा भग हो गया। उन्हे इस समय कुछ कर्त्तव्य ज्ञात नही हुआ। वे किंकर्त्तव्य विमूढ से कुछ काल तक एकटक पनिहारिन का मुख ताकते रहे। तदुपरान्त वे सहसा रो पडे। निमेष खब रोये। वे अपनी चाची को बहुत प्यार करते थे। उनके माता पिता नही थे। चाची ने ही उनका बालकाल से लालन पालन किया था। उनका भी निमेष के सिवाय और दूसरा न था। वे बाल विधवा थी।

जब निमेष के दुख का वेग कुछ कम हुआ, तब वे अपनी चाची के कमरे मे गये। उन्होने देखा कि चाची स्वर्गलोक को चली गयी हैं। पास ही विजया मूर्छित होकर पडी है। निमेष का दुख फिर प्रबल हो आया। वे फिर फूट-फूटकर रोने लगे। अपने को बार-बार धिक्कार देने लगे, और मन ही मन कहने लगे—हाय ! मैंने मरती समय चाची का मुख भी नही देखा। मैं बडा कृतघ्न हूँ। यदि मैं उनकी दवा करता तो वे अभी न मरती। हाय ! मैं जानता था कि चाचीजी बीमार हैं किन्तु मैं फिर भी कभी उनके पास नही गया। उन्होने मुझे बुलाया। मुझे मरती समय अपना मुख दिखा जा कहके बार बार विजया को मेरे पास भेजा किन्तु हाय ! हाय ! मैं तब भी नही आया। एक बार अपना यह कलकित मुख भी उन्हे न दिखाया। मरती समय उनके मुख का आशीर्वाद भी ग्रहण नही किया ! हाय ! मैं बडा हत्यारा हूँ ! मैं महापापी हूँ ! दुष्ट आततायी हूँ ! मैंने दूसरी स्त्री पर मोहित होकर अपना सर्वनाश किया ! अपना सबकुछ खोया ! अपनी चाची की मत्यु की। अपनी स्त्री को उतना कष्ट दिया।

निमेष ने एक बार विजया की ओर दृष्टि डाली। विजया का सारा शरीर पीला पड गया था। वह केवल अस्थि पिंजर शेष रह गयी थी। वह कान्तिहीना

हो गयी थी। उसकी आँखें भीतर चली गयी थी। निमेष को अत्यन्त कष्ट होने लगा। उन्हे अपने ऊपर बडी घृणा हुई। उन्होने पनिहारिन से विजया के मुख मे पानी छिडककर व्यजन करने को कहा। विजया की चेतना धीरे धीरे लौट आयी। उसने देखा कि निमेष उसके पास बैठे रो रहे हैं। वह भी फूट फूटकर रोने लगी। बहुत काल तक दोनो रोते रहे। तदुपरान्त निमेष विजया से कहने लगे—

विजया, मुझे क्षमा करो प्रेयसि! मैंने तुम्हे बहुत कष्ट दिया। हाय! मेरे पापो का फल मुझे मिल चुका है। मुझे क्षमा करो प्रिये!

विजया अधिक न सुन सकी। वह अपने स्वामी के चरणो मे सिर रखकर रोने लगी। और कातर स्वर मे कहने लगी—

नाथ! आपने मेरा क्या अपराध किया जो मैं आपको क्षमा करूँ? आप मेरे आराध्य हैं। यह सब फल मुझे मेरे ही दुर्भाग्य से मिला। मैं ही अपराधिनी हूँ। आप मुझे क्षमा करें।

निमेष ने विजया को उठाकर अपने हृदय से लगा लिया। विजया का चिर दुःख आज शान्त हुआ। इस समय तक पडोस के आदमी भी रोना धोना सुन निमेष के घर एकत्रित हो गये थे। निमेष उनकी सहायता से अपनी चाची की अन्तिम क्रिया करने लगे। विजया दूसरे कमरे मे चली गयी।

धन्य! विजया, आज तुम सचमुच विजया हुई!

नवम पुष्प

कर्त्तव्य-निर्णय

भविष्य को आशा का वियोग असहनीय हो गया। उसके विश्लेष का दुःख दुर्दान्त हो गया। वे अपने को किसी प्रकार न सँभाल सके। आशा की मूर्ति चेष्टा करने पर भी अपने हृदय से न हटा सके। इच्छा करने पर भी उसे नही भूल सके। आशा के प्रेम ने उन्हे बाँध लिया था। वे यह बन्धन लाख उपाय करने पर भी न काट सके। प्रेम का यह अदृश्य गुण टूटने पर भी न टूटा। भविष्य की दशा उन्मत्त मनुष्यो की सी हो गयी। उनका मन किसी काम मे नही लगता था। उनकी आँखो की निद्रा चली गयी। उनकी रात्रियाँ आशा के ही ध्यान मे बीतती थी। जब भविष्य अत्यन्त व्याकुल हो गये, अपने को किसी प्रकार न थाम सके तो वे श्री दुर्गादेवीजी के पुजारीजी महाराज के पास जाने को उद्यत हुए। पुजारीजी महाराज एक वृद्ध तथा ज्ञानवान पुरुष थे। उनका बहुत बडा मान था। भविष्य उनका बडा आदर करते थे। वे अपने बाल्यावस्था मे भी कभी कभी उनके पास जाया करते थे। पुजारीजी महाराज भविष्य को अच्छी अच्छी बातें बतला देते थे।

भविष्य को इस अन्धकार मे केवल वे ही एकमात्र आलोकित नक्षत्र से दिखलायी दिये। इस चचल सागर मे केवल वे ही एक स्थिर स्तम्भ से प्रतीत हुए। इस 'माया कानन' मे वे ही वरदायिनी शक्ति से ज्ञात हुए—भविष्य ने दृढ सकल्प कर लिया कि उन्ही के शरण मे जाकर उन्हें अपना दु ख सुनाऊ। मेरी इस दुबलता की औषध केवल मात्र वे ही कर सकते हैं। नही तो मैं इस दु ख का बोझ नही ढो सकूगा। भविष्य यह सकल्प करके पुजारीजी महाराज के पास गये। जाते ही उन्होंने पुजारीजी के चरणो मे प्रणाम किया। पुजारी महाराज ने 'चिरायु रहो'—कहकर उन्ह बैठने को सकेत किया।

भविष्य उन्ही के पास एक दूसरे आसन मे बैठ गये। पुजारीजी महाराज बोले—भविष्य ! तुम कुशल से तो रहे ?

भविष्य—हा महाराज, आपकी कृपा से सकुशल रहा।

पुजारी—आज इस दोपहर को किस काय विशेष के लिए आना हुआ ?

भविष्य—महाराज, अनन्त सागर मे बहता हुआ प्राणी सामने सहारा देखकर जिस हेतु उसके पास जाता है रोग से पीडित जिस कारण वैद्य के पास जाता है, ग्रीष्म के प्रखरातप से सन्तप्त मनुष्य पेड की छाया देखकर जिस लिए उसके पास जाता है, सघन बन के निबिडा धकार मे पथ भूला हुआ दूर आलोक देखकर जिस लिए उसके पास जाता है, उसीलिए मैं भी आपके पास आया हूँ। आज ससार म मुझ सा दु खी कोई नही है, मुझ-सा भाग्य का मारा कोई नही है, मुझ-सा कगाल कोई नही है ! मैं आपके शरण आया हू। मेरी रक्षा करो। मुझे इस दु ख स छूटने का प्रयत्न बताओ।

पुजारीजी महाराज भविष्य की बातें सुनकर आज कुछ विस्मित स हुए। उन्होने भविष्य के मुख से ऐसी बातें और कभी नही सुनी थी। वे भविष्य के कन्धे पर हाथ रख पूछन लगे—

भविष्य कहो तो सही तुम्हारे ऊपर ऐसा क्या दु ख आ पडा है ? ऐसी कौन सी आपत्ति है जिससे तुम इतने घबडाय हो ?

भविष्य—महाराज, मेरा दु ख बडा दुरसह है। मैं घोर आपत्ति म फँस गया हूँ। हाय ! मैं आते ही जग मे छला गया हूँ।

भविष्य ने धीरे धीरे पुजारीजी महाराज को अपना सारा दु ख कह सुनाया। उन्हें अपनी दशा स भली भाँति परिचित करा दिया।

पुजारी—भविष्य, मुझे तुम्हारी बातें सुनकर तुम्हारे ऊपर बडी दया आ रही है। किन्तु मैं तुम्हे इस विषय मे क्या सहायता दे सकता हूँ ?

भविष्य—महाराज, आप सबकुछ कर सकते हैं। आप मुझे डूबन से बचा सकत हैं। मुझे अब आप केवल यह बतला दें कि मैं इस बन्धन स मुक्ति कैसे पा सकता हूँ ? इस दुख को कैस भूल सकता हूँ ? अब मैं विवाह करना नही चाहता। अब मुझे यह लालसा नही है। किन्तु मैं आशा का ध्यान नही छोड सकता। उसकी याद मुझे पल-पल व्यथित करती है।

पुजारी—तुम्हारी दशा इस समय अत्यन्त शोचनीय हो गयी है, इसमे कुछ सन्देह नही। किन्तु इससे छुटकारा पाना कोई बडी बात नही है। तुम

प्रेम को पहिचानो। प्रेम किसे कहते हैं, तुम नहीं जानते। इसीलिए तुम्हे यह दुःख हो रहा है। यदि तुम प्रेम को पहिचानते तो तुम आशा के लिए इतने व्यथित कभी न होते। उसके लिए तुम्हे इतनी व्याकुलता कभी न होती। उसका वियोग तुम्हे दुःख नहीं देता।

भविष्य—महाराज, प्रेम किसे कहते हैं? मुझे आप कृपा कर यह बतला दें। हाय! क्या मैं आज तक आशा को प्यार नहीं करता था?

पुजारी—नहीं, तुम यथार्थ मे आशा को प्यार नहीं करते। उससे तुम्हारा वास्तविक प्रेम नहीं है। यह तुम्हारा भ्रम है, प्रेम के नाम मे आसक्ति है। वास्तविक प्रेम ऐसा नहीं होता। यदि तुम आशा का सचमुच प्यार करते तो क्या आज तुम आशा से अपना सम्बन्ध तोडने की चेष्टा करते? उसके प्रेम को अपने हृदय से हटाने का प्रयत्न करते? जिस दिवस से आशा ने तुम्हें अस्वीकार किया उसी दिन से तुमने आशा से कितनी ही बार मन ही मन भला बुरा कह दिया होगा। तुम तब से उसके लिए अशुभ चिंतना कर रहे होगे। कहो, ऐसा है नहीं?

भविष्य—हां, महाराज आपकी धारणा सत्य है। मैं कई बार आशा के अशुभ के लिए भगवान से प्रार्थना भी कर चुका हूँ।

पुजारी—हां, यदि तुम उससे यथार्थ मे प्रेम रखते, उसे प्यार करते, तो क्या आज तुम उसके शत्रु हो जाते? उससे द्वेष भाव रखते? उसका अशुभ ध्यान मे लाते? मैं इसीलिए कहता था कि तुम प्रेम को नहीं पहिचानते और इसीलिए तुम्हे यह दुःख हो रहा है। तुम यथार्थ मे प्रेमी नहीं हो। जो वास्तविक प्रेमी होते हैं उन्हे अपने प्रेमपात्र की स्वीकृति अस्वीकृति से कुछ मतलब नहीं रहता। चाहे उनका प्रेमपात्र उन्हे घृणा करे, उन्हे द्वेष की आंखो से देखे। वे अपने प्रेमपात्र से मन नहीं हटाते। उसके शत्रु नहीं बन जाते। उनका प्यार उसके लिए और भी बढ जाता है। उनका अनुराग और भी गाढा हो जाता है। वे सदा अपने प्रेमपात्र पर दया ही करते हैं। उसके शुभ चिंतन मे ही मग्न रहते हैं। सच्चे प्रेमी अपने प्रेमपात्र से अपना प्रेम नहीं जतलाते। उससे नहीं कहते कि मैं तुझे प्यार करता हूँ, मैं तुझे चाहता हूँ। वे अपने प्रेम को गुप्त रखते हैं। अपने हृदय ही मे छिपाये रखते हैं। समय आने पर उनका प्रेम उनके प्रेमपात्र को स्वयं मालूम हो जाता है।

भविष्य—किन्तु ऐसा प्रेम किस प्रकार हो सकता है?

पुजारी—इस प्रकार का प्रेम केवल स्वार्थ का त्याग करने ही से हृदय मे उत्पन्न हो जाता है। जब मनुष्य अपने स्वार्थ को नष्ट कर देता है, जब वह इस बात का ध्यान छोड देता है कि मुझे मेरे प्रेमपात्र से सुख हो, जब वह उससे किसी प्रकार के लाभ की इच्छा नहीं रखता, तभी ऐसा प्रेम प्रसूत हो सकता है। यही प्रेम यथार्थ मे प्रेम है। यही वास्तविक अनुराग है। प्रेम को सुख से मिश्रित करना, उसे विषय वासना से मलीन करना, कामना तृप्ति से कलंकित करना सच्चे प्रेमियो का काम नहीं है। ऐसे मनुष्य प्रेमी नहीं कहलाते। ऐसे ही प्रेमियो के पास दुःख फटकता है। इन्हीं को विरह भी सताता है, तथा इन्हीं को काम

भी पीडित करता है। ऐसे ही प्रेम का क्षय भी होता है। सच्चा प्रेम अभ्यास से उज्ज्वल रूप धारण कर लेता है। वह दिन प्रतिदिन बढता ही जाता है। उसका कभी क्षय नहीं होता। वह लोकोत्तर आनन्द का देनेवाला बन जाता है। सच्चा प्रेमी अभ्यास करने से धीरे धीरे ईश्वर को भी पा लेता है।

भविष्य—महाराज मनुष्य अपना प्रेम ऐसा उन्नत किस प्रकार बना सकता है कि उसे ईश्वर मिल जाय ?

पुजारी—इस प्रश्न का उत्तर थोडे शब्दों में नहीं दिया जा सकता। ऐसे प्रेम का पाना बडा कठिन होता है। सुनो, मनुष्य जब सच्चा प्रेमी हो जाता है अर्थात् वह जब अपने स्वार्थ का नष्ट कर निष्काम रूप से अपने पात्र को प्यार करने लगता है, जब उसके हृदय से विषय वासना उठ जाती है, जब वह क्षणिक सुख की आशा को छोड वास्तविक सुख की इच्छा करने लग जाता है—तब उसका प्रेम किसी व्यक्ति विशेष पर नहीं रहता। वह क्रमश बढता जाता है और धीरे धीरे सारा ससार उसका प्रेमपात्र हो जाता है। वह सारे ससार को एक सी दय सा अनुभव करने लगता है। ऐसी अवस्था में उसका द्वेष, द्रोह क्रोध, लोभ सब क्षय हो जाता है। उसे किसी का विरह नहीं सताता, क्योंकि सारा ससार उसका प्रेमपात्र बन जाता है। उसे किसी पर घणा नहीं रहती, उसका हृदय निर्मल हो जाता है, विचार पवित्र हो जाते हैं। जब प्रेम इस अवस्था तक पहुच जाता है तब वह प्रेम भक्ति कहलाता है। भक्ति का आशय यही है। केवल राम नाम जपना भक्ति नहीं कहलाती। यथार्थ भक्ति विश्व प्रेम ही से आती है। तभी मनुष्य विश्व-मूर्ति को प्यार करता है। जब तक उसके हृदय में द्वेष तथा कामादि रहता है तब तक वह भक्त नहीं हो सकता। और द्वेषादि का नाश तभी हो सकता है जब मनुष्य विश्व प्रेमी हो जाता है जब सारा ससार उसका प्रेमपात्र बन जाता है, जब उसके लिए ईर्ष्या द्वेष करने को कोई नहीं रहता। वह किसी के ऊपर क्रुद्ध नहीं होता। यही प्रेम यथार्थ में भक्ति है।

इस प्रेम की एक और भी विशेष अवस्था होती है, जिस अवस्था में कि प्रेम चरमावस्था में पहुच जाता है। वह अवस्था इसके अर्थात विश्व प्रेम के बाद की है। उस अवस्था को ईश्वर भक्ति कहते हैं।

भविष्य—महाराज आपके इस उपदेश से मेरा भ्रम दूर हो गया है। मैं आपका कृतज्ञ हूँ। किन्तु आपकी बातों को सुनकर मेरे मन में कुछ शकाएँ उठ रही हैं।

पुजारी—अच्छा तुम उन आशकाओं को एक एक कर कहते जाओ। मैं यथाशक्ति उनका समाधान करने का प्रयत्न करूँगा।

भविष्य—महाराज, जो आपने अन्त में कहा कि ईश्वर भक्ति ही प्रेम की चरमावस्था है सो क्या विश्व प्रेम ईश्वर भक्ति नहीं है ? क्या ईश्वर भक्ति इससे भिन्न है ?

पुजारी—तुम्हारे हृदय में जो शका उठी है वह उचित ही है। विश्व प्रेम ईश्वर भक्ति का एक खण्ड है। किन्तु ईश्वर भक्ति की प्राप्ति के लिए इसका होना अत्यन्त आवश्यक है। इसके बिना कोई ईश्वर भक्ति को प्राप्त भी नहीं

कर सकता। सारे विश्व की भक्ति करना एक प्रकार से ईश्वर भक्ति ही करना है।

"सर्वेषा य सुहृन्नृत्य सर्वेषा च हिते रत
कमणा मनसा वाचा स घम वेद जाजले।"

यथाथ मे मनसा वाचा कमणा विश्व सेवा करना तथा दूसरा का उपकार करना ही घम अर्थात् कत्तव्य है। जब जीव इस अवस्था को प्राप्त हो जाता है और जब उसका प्रेम इससे भी उन्नत होने लगता है, तब वह अपने लिए एक और प्रेम-पात्र को ढूढता है। अर्थात जब वह मनसा वाचा कमणा "सर्वेषा च हिते रत' हो जाता है, जब वह अपने द्वेष कामादि को जीत लेता है, जब वह क्षमा, दया, उदारता आदि सात्विक गुणो मे अपने को अलकृत कर मनुष्यत्व को प्राप्त कर लेता है, तब वह देवत्व को पाने की इच्छा करता है, तब वह मनुष्यत्व का पालन करते हुए तथा लोक-सेवा करते हुए भी साथ ही साथ अपने प्रेम को अधिक उन्नत कर ईश्वर की ओर लगाता है, उसकी प्राप्ति के लिए लगाता है। इसी प्रेम को ईश्वर-भक्ति कहते हैं। तब मनुष्य "सव घर्मान परित्यज्य" अर्थात अपने सब गौण कत्तव्या की उपेक्षा कर उस महान् कत्तव्य में ईश्वर की शरण मे चला जाता है। वह पहले-पहले प्रस्थर की मूर्तियो म उस निराकार की कल्पना कर अपनी प्रवत्ति उस ओर लगाता है।

"शुद्धबुद्धपरिलब्धये तथा दारुमण्यशिलामयार्चनम"

इस प्रकार वह अपनी अन्य गौण क्रियाओ को ईश्वर ही मे अपण कर देता है। यही श्रीकृष्ण भगवान् भी गीता मे कहते है—

"यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदपणम।"

और इस प्रकार जब उस "ब्रह्मात्मैक्य' ज्ञान की प्राप्ति हो जाती है तब उसे शान्ति मिल जाती है। इससे उन्नत अवस्था प्रेम की और नही होती। इस अवस्था मे जीव ईश्वर मे लय हो जाता है।

"ततो मां तत्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम।"

भविष्य—महाराज, यह विषय अत्यन्त गूढ निकला। मैं इसे नही समझ सका। मैंने आपको वृथा कष्ट दिया। अब आप मुझे यह बतला दें कि स्वाथ किसे कहते हैं? क्योंकि आपने बहुत बार कहा है कि स्वाथ का नाश कर देना चाहिए।

पुजारी—मनुष्य की बुद्धि अत्यन्त चचल होती है। उसका चित्त अस्थिर होता है। वह मनुष्य को तरह तरह के प्रलोभन देकर बुरे कर्मों की ओर प्रवत्त करता है। मन पर अधिकार जमाना अत्यन्त कठिन काम है। मनुष्य कभी किसी लालच मे पडता है कभी किसी म। वह अपने को जान बूझकर भी व्यसना मे फँसने से नही रोकता। ऐसी अवस्था मे जब कि मनुष्य किसी प्रलोभन म पडा रहता है वह भारी भारी अनथ करने को उद्यत हो जाता है। उसे उस समय उचितानुचित का विवेक नही रहता। वह अपने काय सिद्धि के लिए अर्थात् उस प्रलोभन देनेवाली वस्तु की प्राप्ति के लिए यदि कही पर आवश्यकता पडे तो

दूसरो को कष्ट देने मे तत्पर हो जाता है। अपने लिए दूसरे की हानि कर देता है। अपने सुख के लिए दूसरे को सुख से वचित करना चाहता है। दूसरो को दु ख देता है। यही सवाधम श्रेणी का स्वाथ है। ऐसी प्रकृति के पुरुष नीच कहाते हैं। जो मनुष्य दूसरो के लाभ के लिए अपना स्वाथ नही छोडता, अपने सुख को त्याग दूसरे का दु ख मोचन नही करता, परहित में तत्पर नही रहता, वह सामान्य श्रेणी का मनुष्य है। किंतु यह स्वाथ उस पूव-स्वाथ से कुछ अच्छा है। जो मनुष्य दूसरो के लिए अपना सुख छोड देते हैं दूसरे का दु ख मोचन करने के लिए अपना सवस्व लुटा देते हैं, वे ही श्रेष्ठ पुरुष हैं। वे ही परार्थी हैं। विश्व प्रेमी हैं। ऐसे लोकहितकारको को धन्य है। महात्मा भतृ हरिजी ने चार प्रकार के पुरुष बतला रक्खे हैं—

"एके सत्पुरुषा परार्थघटका स्वार्थान्परित्यज्य ये।
सामान्यस्तु परायमुद्यमभृत स्वार्थोऽविरोधेन ये।
तेमी मानवराक्षसा परहित स्वार्थाय निघ्नन्ति ये।
येतु घ्नन्ति निरथक परहित ते के न जानीमहे।"

भविष्य—महाराज, आज आपने मेरा बडा उपकार किया, भूले हुए को पथ बतलाया। अब आप कृपाकर यह बतला दीजिए कि वास्तविक सुख किसे कहते हैं। और उसका साधन क्या है ?

पुजारीजी महाराज भविष्य के प्रश्न पूछने के ढग पर प्रसन्न होकर बोले—जिस सुख का वाह्येन्द्रियो की तप्ति अथवा सन्तुष्टि से सम्पक न हो तथा जो सुख आत्मा को तुष्टिकारक हो वही वास्तविक सुख है। जिस सुख से भूख-प्यास तृप्त हो, काम वासना पूरी हो तथा धन सम्पत्ति मिले, वह सुख यथाथ मे सुख नही है। उस सुख मे आत्मानन्द नही है। वास्तविक सुख प्राप्त करने के लिए वाह्येन्द्रियो के सुख को तिलाजलि देनी पडती है। इन्द्रिय निग्रह करना पडता है। तष्णाओ का नाश करना पडता है। इच्छाओ को नष्ट करने से जो सुख मिलता है वही वास्तविक सुख है। यह स्वग सुख से भी श्रेष्ठ है।

"यच्चकाम सुख लोके यच्च दिव्य महत्सुखम्
तष्णाक्षयसुखस्यते नाहत षोडशी कलाम।"

मनुष्य को सदा इसी सुख की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करना चाहिए। विषय वासना से लब्ध सुख क्षणिक सुख है। ऐसे सुख का अभिलाषी मनुष्य विश्व प्रेम का अधिकारी नही हो सकता। ऐसे सुखोपभोग से विषय वासना घटने के बदले और भी बढ़ती जाती है। इस सुख की इच्छा से महानन्द प्राप्त नही होता।

भविष्य—महाराज, आपको धन्य है। मैं आपका कृतज्ञ हूँ। मुझे केवल एक प्रश्न और पूछना है। वह यह कि दु ख का निर्वाण कैसे किया जाता है ? दु ख को नाश करने के मुख्य साधन क्या हैं ?

पुजारी—तुम मुझसे निस्स देह पूछो। मुझे कोई इसमे कष्ट नही हो रहा है यह ज्ञान तुम्हे मैं नही बता रहा हूँ। यह हमारे पूव पुरुषो का ही उपार्जित है तुम्हे उन्ही के लिए कृतज्ञता प्रकट करनी चाहिए। अच्छा अब अपना प्रश्न

उत्तर सुनो। दु ख को नाश करने का मुख्य साधन यथार्थता को पहचानना है। जो मनुष्य यथार्थता को जानता है उसके लिए सुख दु ख एक समान हो जाते है। वाह्ये न्द्रियो के दमन करने मे ही दु ख का भी नाश हो जाता है। दु ख इन्ही के साथ है। आत्मा को दु ख कभी छूता भी नही। तष्णाओ से ही दु ख प्रसूत होता है। अत इन्हीं का दमन करना चाहिए। किसी काम को करने पर उससे अच्छे फल की प्राप्ति की इच्छा रखने ही से दु ख होता है। इसीलिए गीता मे भगवान् ने कहा है—

"कमण्येवाधिकारस्त मा फलेषु कदाचन।"

हमे केवल कम करने का अधिकार है। लाभालाभ की इच्छा करने का नही। यही इच्छा सब दु खो की मूल है। जो कोई काम जिस समय आ पडे उस भले-बुरे का विचार को छोडकर तत्क्षण ही पूरा कर लेना चाहिए। दु ख का ध्यान करने ही से दु ख बढता है। इसीलिए कहा है कि—

"भैपज्यमेतद् दु खस्य यदेत नानुचितयेत।"

दु ख का ध्यान न करना ही दु ख-नाश करने की परमोषधि है। अपने हृदय मे किसी प्रकार की चिन्ता को स्थान नही देना चाहिए।

भविष्य—महाराज, अब मैं कृताथ हो गया हूँ। आज आपने मेरे लिए अत्यन्त कष्ट उठाया। मैं सदा आपका कृतकृत्य रहूँगा। आपने मुझे आज नवीन जीवन दिया, नूतन उत्साह दिया, नव्य स्फूर्ति दी, तथा नव बल प्रदान किया। अब मैं जाने की आज्ञा चाहता हूँ।

पुजारी—अब मेरा भी स ध्या करने का समय आ गया है। तुम अपने घर को जाओ। दढ प्रतिज्ञ रहो। मन म धैय रक्खो। ईश्वर तुम्हारी सहायता करेगा।

भविष्य अपने घर को चला गया। पुजारी महाराज के सुधोपम उपदेशो ने भविष्य को नवीन भविष्य प्रदान किया।

दशम पुष्प

पुनराशा

सायकाल का सुहावना समय है। विहग राशि अपने कलरव से चारो ओर माधुय प्रसार कर रही है। सुफला अपनी खिडकी के पास बैठी 'सौन्दर्योपासक' पढ रही है। 'सुन्दरि, इस ससार मे क्या प्रेम का पुरस्कार नही है ? क्या प्रणय का प्रतिदान नही है ?"—सुफला इतना पढकर मन ही-मन कहने लगी क्यो नही है ? प्रेम का पुरस्कार अवश्य है। इस ससार मे इस पुरस्कार स वचित कौन रहता है ?—वह, आराम मे कमल दल सकुचान लग गया है। कमलनाथ अस्ताचल मे छिप गय हैं। वही सौन्दय है। प्रात जिस अरुण मुखमण्डल न शृगार किया था इस समय उसी अरुण मुख मण्डल ने शृगार का सहार कर दिया है। यह प्रम का पुरस्कार नही तो क्या है ? कितनी मधुर विरह-वेदना

विश्व मे प्रसारित हो रही है, कैसा मम भरा राग फैल रहा है।

नही, इस व्यथ वेदना कहकर भी कलङ्कित नही करना चाहिए। यह वेदना नही है। स्निग्ध माधुय है, स्थिर सौन्दय है। इसकी ज्वाला पवित्र है, इसका रग मनोहर है। इसकी जलन अत्यन्त शीतल है। इसका घाव अदृश्य है। यह एक प्रकार का वह्नि पथ है। यह ज्वाला मद-मोह मात्सय को भस्मसात कर प्रणयिनी को भी एक पवित्र ज्वाला बना देती है। इस ज्वाला की ज्योति रात को अवदात प्रभात की ललित लालिमा मे परिणत कर देती है। प्रेमसी इस ज्वाला की प्रियतमा पतगिनी बनती है। वह भस्म नही होती प्रत्युत स्वय एक ज्वाला बन जाती है।

अहा, इस पवित्रता का शुभ जन्म इसी सायकाल की अरुणिमा से हुआ। यह अरुणिमा कैसा मजुल मेल है। यही पवित्रता उच्च-पादप शिखरो,उत्तुग अद्रि चूडो, तथा श्वेत वारिद राशि मे अन्तर्हित रहती हुई विरहिणी के हृदय म पैदा होती है। कैसा पुनज म है, कैसा अलौकिक सस्कार है यही पवित्र ज्वाला सयोग के समय मानिनी का मान बनती है मुग्धा की लज्जा शीलता बनती है, मध्याधीरा की कोपान्वित वचनावली बनती है तथा प्रौढाधीरा की सुमन माल की मार बनती है।

प्रेम का पुरस्कार अनन्त है! वह दु ख होने पर भी सुख है, अशान्ति होने पर भी शान्ति है। चपलता होने पर भी अचपलता है, रुदन होने पर भी गम्भीर गान है, वियोग होने पर भी मेल है, व्यथा होने पर भी एक अपूव आनन्द है, दुबलता होने पर भी एक अपूव बल है। जीवन सवस्व दान का मूल्य तल्लीनता है, अपने चित चोर के लिए व्याकुल होना है, उससे प्राथना करना है, उसके न पाने पर विरह व्यथित होना है। यही तल्लीनता उसकी प्राप्ति है, यही व्याकुलता सुख है, यही अनुनय स्वीकृति है, तथा यही विरह उससे मेल है। अहा! कितनी अपूवता है, कितना वैचित्र्य है।

सुफला फिर पढने लगी—'जब कोई दूसरा नही मिलता तब मन आप ही आप बातें किया करता है। किन्तु इन दोनो मे अन्तर यही है कि दूसरे से कहने सुनने पर दु ख का बोझ हलका होता है, और मन ही मन चिन्ता करने से दु ख अधिक होता जाता है।'

सुफला अपने से स्वय प्रश्न करने लगी—किन्तु अच्छा कौन है? आनन्द किसमे है? वह कहने लगी, न कहना ही अच्छा है। मैं अपने हृदय की यातना किसी के सम्मुख प्रकट नही करूँगी। अपना दु ख किसी से न कहूँगी। मुझे इसी मे आनन्द मिलता है। मा! मैं तेरे वियोग का दु ख तेरे ही सम्मुख प्रकट करूँगी। तुझी मे कहूँगी। कहूँगी क्यो? मैं तो सदा ऐसा ही करती हूँ। इस खिडकी के पास बठती हूँ। अपनी आखो के सामने मा की मूर्ति बनाती हूँ। और उसे अपनी बातें सुनाती हूँ। उसके सामने अपन दु खो की चर्चा करती हू। अहा! इस प्रकार कहने मे कितना आनन्द है? उस समय मेरा प्रत्येक रोम बोलता है। प्रत्येक साँस अपना दु ख सुनाता है। उस समय मेरे हृदय मे छिपा हुआ सुख फूट फूटकर मेरे शरीर से बाहर निकलता है। मेरा आनन्द मेरे

मुख से दु ख बनकर आता है। मैं कभी अँगुली उठाकर अपनी मा को पीटने भी लगती हूँ। कि तु वह मेरी आँखो मे हँसती है। भगती नही। मेरे ध्यान मे विचरती है। मेरे आन द के द्वारा अपना पागलपन प्रकट करती है।

सुफला का अचल यह सोचते सोचते स्नेहाश्रुओ से भीग गया। वह आँखें पोछकर फिर पढने लगी। और पढते पढते हँसने लगी। तथा कहने लगी—*अब मुझे ऐसा जान पडता है कि थोडे दिनो मे प्रेम सबको पराजित कर देगा*—इसका क्या अथ ? प्रेम क्यो लडने आवेगा ? तब तो महाभारत से भी बडा युद्ध होगा। एक ओर सारा ससार और दूसरी ओर प्रबल प्रेम। सुफला फिर हँसने लगी। उसके मुख से सहसा निकल पडा—मैं तो मा के अचल मे मुख छिपाकर छिप जाऊँगी। तब भी पराजिता नही कहलाऊँगी। अवश्य छिप जाऊँगी।

कहाँ ?

सुफला के मुख से फिर निकल पडा—मा के अचल मे।

सुफला ने मुख फेरकर देखा तो उसकी प्यारी सखी विजया उसके पीछे खडी हो म द म द हँस रही है।

सुफला—बैठो दिद्दी, कब से खडी हो ? आज तुम बहुत दिनो से मेरे यहाँ आयी हो। मैं तो तुम्हारा बोलना भी नही पहचान सकी।

विजया—अभी आ रही हूँ बहिन। मैंने आते ही सुना, "अवश्य छिप जाऊँगी।" क्यो, तू यह क्या कह रही थी ?

सुफला हँसती हँसती बोली—कुछ नही।

विजया—नही क्यो ? मैंने तो अपने कानो से तुझे यह कहते सुना।

सुफला—इसे जाने दो दिद्दी, इस पुस्तक को पढ रही थी, तुमने इतना ही सुना होगा।

विजया—सखी, तू आज तक मेरे यहाँ क्यो नही आयी ?

सुफला—ऐसी ही कई अडचनें आ गयी। आज आऊँगी, कल आऊँगी करती आज तक न आ सकी। पर मैंने कल को आने का निश्चय कर लिया था। आज तू ही आ गयी। दिद्दी ! तेरी सास मर गयी हैं—मैंने यह आज ही सुना।

विजया—हाँ, वे तो कभी स्वग को चली गयी हैं। आज उ ह गये प द्रह दिवस हो गये।

सुफला—अब तो जीजाजी सँभल गये हैं ना ?

विजया हँसने लगी।

सुफला—हँसती क्यो हो बहिन ? क्या इतना आन द हो रहा है ?

विजया—तुझसे यह किसने कहा ?

सुफला—तुम्हारे हँसते हुए मुख ने।

विजया—हाँ सखी ! तू तो सब जानती है, फिर मुझसे क्यो पूछती है ?

सुफला—दिद्दी, मुझे यह सुनकर आज जितना सुख हुआ उतना और कभी नही हुआ। मैं उनकी दशा तुमसे अच्छी तरह जानती थी। आज मैं तुमसे एक बात और कहूँगी। यह मैंने आज तक तुमसे छिपायी थी।

सुफला ने यह कहके अपना सन्दूक खोला। और उससे निमेष का पत्र निकालकर विजया के हाथ मे दे दिया। विजया को पत्र पढकर अत्यन्त आश्चर्य हुआ। उसने लज्जित होकर मुख नीचा कर लिया।

सुफला—तुम्हें किस बात की लज्जा बहिन ! तुमने क्या किया ?

विजया—तूने यह पत्र और भी किसी को दिखलाया ?

सुफला—दिद्दी, क्या मैं पागल थी ? मैं इसे किसी को क्यो दिखाती।

विजया—आशा को भी नही ?

सुफला—हाँ, आशा को तो दिखलाया। किन्तु इसमे क्या हानि है ? वह किसी से कहेगी थोडी।

विजया—अच्छा सखी ! इसमे कोई हानि नही है। क्या आशा आज तुम्हारे यहाँ नही आयी ?

सुफला—नही, आजकल शायद उसका स्वास्थ्य अच्छा नही रहता।

विजया—कल को उसके यहाँ चलेंगे। अब मैं जाती हूँ। फिर अँधेरा हो जावेगा।

विजया चली गयी। सुफला ने विजया से आशा की प्रकृत दशा छिपा दी। उसने उससे इस विषय म कहना कुछ उचित न समझा। सुफला को आज विजया का प्रसन्न मुख देखकर अत्यन्त आनन्द हो रहा था। किन्तु फिर भी वह भविष्य के लिए चिन्तित थी। वह भविष्य को अत्यन्त प्यार करती थी। सुफला कभी आशा की दशा पर द्रवित होती थी, और कभी उसे धिक्कारती थी। इतने मे आशा भी अपनी दासी के साथ उसके कमरे मे आ पहुची। *आशा आज कई दिनो से आयी थी। वह जिस दिवस स निमेष पर लटटू हुई* थी, तब से सुफला के यहाँ आज ही आयी थी। सुफला उसके इस अकस्मात आगमन से कुछ विस्मित सी हुई। वह आशा से सस्नेह कहने लगी—

आओ सखी, आज तो मेरे यहाँ पश्चिम से सूय आया।

आशा इस 'मगभरी वचनावली" को श्रवण कर अत्यन्त लज्जित हुई। उसन मुख नीचा कर लिया। सुफला और भी विस्मित हुई। वह फिर बोली—क्या अब तेरा स्वास्थ्य अच्छा है ?

आशा ने अत्यन्त सङ्कुचित स्वर मे कहा—हाँ, अब मैं अच्छी हूँ।

सुफला—अभी विजया भी मेरे यहाँ आयी थी। वह तेरे आने से कुछ ही पूव अपने घर को चली गयी है। अब निमेष उससे असन्तुष्ट नही रहते। वे अपनी चाची की मृत्यु के बाद सभल गये हैं।

आशा—विजया दिद्दी का तो स्वास्थ्य अच्छा है ?

सुफला—हाँ आज मैंने उसे कई दिवसो से हँसमुख देखा। वह तेरे लिए भी पूछती थी। तू इतने दिनो तक यहाँ क्यो नही आयी ?

आशा की आँखें डबडबा आयी। वह धीरे धीरे कहने लगी—बहिन, मुझे क्षमा करो। तुम मेरी दशा से परिचित थोडी नही थी ? हाय ! न जाने मुझे क्या हो गया था। मैंने बडा बुरा काम किया। सखी !—आशा यह कहकर रोन लगी। सुफला को आशा की ये बातें सुनकर अत्यन्त हर्ष हुआ। उसने

आशा ने मुख अपने अचल से पोंछ लिया। और वह मधुर स्वर में बोली—सखी, रो नहीं, भूल सभी करते हैं। इसमें किसी का क्या दोष? भूल को स्वीकार न करके उसे न सुधारने में पाप है। मनुष्य का हृदय अत्यन्त चचल होता है। जब वह कभी आवेग में आता है तो वह भले-बुरे का विचार छोड देता है। मुझे बडा आनन्द हुआ कि तू अब अपने भ्रम को दूर कर चुकी है।

आशा—बहिन, मुझे क्षमा करो। मुझसे बडा भारी दोष हुआ।

आशा यह कहकर सुफला के अचल में मुख छिपाकर रोने लगी। सुफला बोली—बहिन, तूने क्षमा मांगने को मेरा क्या अपराध किया? मुझे तो केवल तेरी दशा देखकर बुरा लगा था। रो मत आशा तू दोषी नहीं है। ऐसा कौन है जो निष्कलक है? जिसने कभी चूक नहीं की? जो सदा निर्विकार है? चन्द्रमा तक कलकित है। चूकना दोष नहीं है, चूक सभी से होती है। इससे न बचने में दोष है।

आशा—नहीं सखी, मेरा मन साक्षी देता है कि मैंने बडा अघ किया। मुझे क्षमा करो।

सुफला—सखी, मैं कह चुकी हूँ कि तूने कुछ नहीं किया। मुझसे क्षमा क्यों माँगती है, तू स्वय अपने से क्षमा माँग। मैंने तुझे क्षमा की। जब मनुष्य कोई बुरा काम करने पर अपनी कृति पर पश्चात्ताप करता है, तब उसी व्यामोह से उस अघ का कलक मिट जाता है। उसके हृदय में जो मर्म-वेदना होती है वही वेदना उस पाप का प्रायश्चित्त है। वे पश्चात्ताप के अश्रु उस मल को बहा देते हैं। बहिन, ऐसे अश्रुओं में बडी शक्ति रहती है।

आशा—तूने क्षमा कर दिया। अब मेरा सब दुख मिट गया है। हाय! बहिन मेरे हृदय में जो सहसा परिवर्तन हुआ मैं उसका कारण नहीं जानती हूँ। हाय! तब मेरी बुद्धि न जाने कहाँ लुप्त हो गयी थी। मैं अनजाने ही उस पाप-जाल में फँस गयी। जब तूने मुझे पत्र दिखलाया था, तब मैं बिलकुल ज्ञान शून्य बालिका सी हो रही थी। मुझे भले बुरे का कोई ज्ञान न रहा था। यह मैं क्या कर रही हूँ इसका कुछ ध्यान नहीं था। किन्तु बहिन, देर रात जाने पर जब मुझे निद्रा आयी तब मैंने जो स्वप्न देखा उसी से मेरा यह स्वप्न टूटा। यह निद्रा भग हुई। जैसे ही मेरी आँख खुली तो मैंने किसी का गाना सुना—

"निशार स्वपन छुटल रे, गइ छुटल र।
टुटल बाधन टुटल रे।"

सुफला—सखी, तूने ऐसा क्या स्वप्न देखा?

आशा—हाय! मुझसे यह न पूछ। मैंने बडा भीषण स्वप्न देखा। ऐसा स्वप्न कभी नहीं देखा था। उसे स्मरण कर अभी तक मेरा हृदय काँपता है! साँस जोर जोर से चलने लगता है। शरीर से स्वेद छूटने लगता है। हाय! कैसा भीषण स्वप्न देखा। हाय! कैसा भयकर था। हाय! हाय!

आशा फिर रोने लगी। उसकी आँखों से अविरल अश्रुधार बहने लगी।

सुफला—सखी रो मत। यदि तुझे उस स्वप्न को कहने में कष्ट है तो न कह।

आशा—नही, उसे अवश्य कहूगी । तुमसे कुछ न छिपाऊगी । उसे कहकर मुझे अवश्य कुछ शान्ति मिलेगी ।

सखी! जब उस दिन तू मुझे पत्र दिखाकर चली गयी थी, मैं विविध विचारो के सागर मे डूबती सी गयी । थोडी देर मे मुझे नीद आ गयी । मैंने देखा कि मेरे सामने एक रुधिर की नदी बह रही है, एक अपार नदी बह रही है, उस नदी मे उत्ताल तरगें उठ रही हैं । उन रक्त तरगो के साथ बडी-बडी अस्थिया उछल रही हैं । वही नदी कई प्रकार के छोटे बडे कीडो से परिपूर्ण है । कभी बडे-बडे ग्राह रक्त स्रोत को ऊँचा उठा रहे हैं । मेरे देखते-देखते उस नदी का रुधिर उबलने लगा । बडी-बडी लाशें रक्त से बाहर निकलकर फिर डूबने लगी । नदी से भाप सी उठने लगी । और चारो ओर दुर्गन्ध फैलने लगी । सहसा आकाश मे बादल छा गये । चारो ओर घनान्धकार हो गया । वह अन्धकार धीरे-धीरे इतना बढ गया कि हाथ से हाथ नही सूझ पडा । बादल ऊर्ध्व निर्घोष करने लगे । सारी पृथ्वी विकम्पित हो गयी । इसी समय उन बादलो से बाणो की वृष्टि होने लगी । हाय! मेरा सारा शरीर उन बाणो से विद्ध हो गया । मैं जोर जोर से चिल्लाने लगी । अन्त मे मैं तडफडाती हुई अशक्ता हो उस नदी मे गिर पडी । हाय! हाय! उसके स्मरण से मेरा शरीर काँप रहा है । मैं उन तरगो के साथ उछलने लगी । मैं सारे रक्त मे लथपथ हो गयी । मेरे मुख मे कीडे जाने लगे । मैं जोर स चिल्लाने लगी । धीरे धीरे बादल हट गये । बाण वृष्टि रुक गयी । फिर प्रकाश हो गया । मैंने देखा उस नदी के तट मे निमेष एक उँचे टीले पर बैठकर वशी बजा रहे हैं । उनकी वशी की ध्वनि सुनकर उस नदी मे भूत प्रेत नाचने लगे । उन भूतो के मुख से आग की ज्वाला निकल रही थी । सहसा एक प्रेत ने मेरा पाँव पकड लिया । मैं भय के मारे काँपने लगी और निमेष को अपनी रक्षा के लिए पुकारने लगी । किन्तु वे हसने लगे । उन्होंने मुझे न बचाया । मैं और भी तीव्र स्वर मे चिल्लाने लगी । वह प्रेत मुझे अपने मुख मे डालने लगा । इतने ही मे तुम्हारे दद्दा वहाँ आ पहुँचे । उन्होने मुझे उस दुष्ट का ग्रास जानकर उसका शिर तलवार से अलग कर दिया वह मर गया । मैं उसके हाथ से छूट गयी । फिर उन्होने मुझे गुण मे बाँध अपनी ओर खीच लिया । मैं उस नदी से बाहर निकल आयी । मैं उन्हें धन्यवाद देने के लिए मुख खोलना ही चाहती थी कि इतने मे मेरी निद्रा टूट गयी । मैं स्वेद स भीग रही थी । मैंने आँखें खोलकर देखा तो मैं पलग से नीचे गिरी हूँ । हाय! कैसा भयकर स्वप्न देखा ।

सुक्ला—हाँ, बहिन, अवश्य भीषण स्वप्न देखा ।

आशा—फिर तुम्हारे उपदेश मुझे एक एक कर याद आने लगे । मैं वहाँ घण्टा बैठकर रोयी । मुझे अपने कृत्य पर बडा पश्चात्ताप हुआ ।

सुक्ला—बहिन, तब तू मेरे यहाँ आज तक क्यो नहीं आयी ?

आशा—उसी दिन से मुझे प्रबल ज्वर चढ आया । मुझे दस दिन तक लगातार उसन नही छोडा । मैं मन ही मन सोचती थी कि मैंने अपनी सखी को रुष्ट कर दिया । नही तो वह मुझे देखने के लिए अवश्य आती ।

सुक्ला—मुझे यह कुछ मालूम न था, नही तो मैं तुझे देखने को अवश्य

भाती। अच्छा बहिन, आज मेरे ही यहाँ रह, अब रात हो गयी है।

आशा सुफला के ही यहाँ रही।

एकादश पुष्प

युवा-योगी

तीर्थराज प्रयाग में पतित पावनी गंगा, सूर्य-सुता यमुना तथा सरस्वती का पवित्र संगम त्रिवेणी के नाम से प्रख्यात है। यहाँ प्रति वर्ष लाखों मनुष्य अपने कलुषों को बहाने के लिए आया करते हैं तथा त्रिवेणी के पवित्र और निर्मल जल में स्नान कर अपने शरीर का मल धोकर पुनीत बनते हैं।

सभ्य भारत के समाज में भी ऐसे अनेक जन-संगम हैं जहाँ भारत के प्रत्येक स्थान से मनुष्य आकर उस अनन्त शक्तिमती के अनन्य छत्र की निर्भय छाया में एकत्रित होकर पारस्परिक द्वेष द्रोह का मल प्रक्षालन कर अपने कलुषित विचारों को बहाते हैं। किन्तु अब काल के कुटिल फेर से हमारी श्रद्धा ऐसी उपयोगी रीतियों से हट रही है। अब इस पवित्र जन संगम का मूल्य हमारी दृष्टि में घट रहा है। बहुत लोग तो इसे केवल निर्मूल ढोंग तथा प्राचीन विचारों का चर्म शुष्क अस्थि पिंजर समझते हैं। अब ऐसे लोगों के आन्तरिक ज्ञानचक्षु ही अन्धे हो गये हैं। अब वे इस शुष्क कंकाल के भीतर उस अनन्त आनन्दमयी की मूर्ति ही नहीं देख सकते। अब हमारी एकत्रित दृष्टि प्रस्तर की प्रतिमा को जीवन देना ही भूल गयी है। अब यह बात प्रस्तर के समय की समझी जाती है।

किन्तु उस काल को प्रस्तर का समय बतलाना भूल है। भारत में प्रस्तर का समय अब आया है जबकि हमारे हृदय ही पाषाण के हो गये हैं। हमारे उन विशुद्ध पूर्व विचारों में प्रस्तर पड़ गये हैं। उस प्रस्तर के समय में भी अन्धकार था सही, किन्तु वह अन्धकार दिशा खुलने से पूर्व का था और अब दिशा अस्त होने के बाद का है। इन दो अन्धकारों में अत्यन्त अन्तर है। पहिले के बाद उज्ज्वल ऊषा आलोक हुआ था किन्तु अब अगणित तारक दल समुदय हुआ है, जो कि इस तिमिर को भंग करने के योग्य नहीं है।

उस प्रस्तर के समय में एक दिव्य आलोक और था, वह था ईश्वर की अटल भक्ति। जो कि भारत के पूर्व पुरुष पुंगवों के गुण ग्राही हृदयों में प्रतिफलित हो धीरे धीरे सारे भारत को प्रकाश का एक उज्ज्वल जामा पहनाने में सक्षम हुई थी। किन्तु अब भारत सर्वव्यापी अन्धकार में डूब रहा है। पूर्व पुरुषों का हृदय यदि मणि का था तो अब के मनुष्यों का कोयले का हो गया है। द्रव्य एक ही है किन्तु गुण बदल गया है।

भारत के इन्हीं जन संगमों में दुर्गा मेला भी प्रख्यात है। यह प्रति वर्ष आश्विन तथा चैत्र में होता है। आज चैत्राष्टमी है। आज श्री दुर्गादेवीजी के मन्दिर में अपार मेला हुआ। देवार्चयिओं का अपार संगम हुआ। आज

बैर और विरोध विधि की सृष्टि मे है कहना असत्य सा प्रतीत होता था।

प्रत्येक अवस्था के लोग—क्या बालक क्या युवा क्या जरा जीण—सभी आज इस विश्वमूर्ति के आगन मे आ उसे कृतज्ञता प्रकट कर रह थे। उसके दिव्य दशन कर कलुष मुक्त हो रहे थे। उसके पद पद्मो मे चढे पद्म शीश मे रखकर मगल-प्रायना करते थे। "है सत्सगति मे सद्गति, वे आशीस सुमन सावित करते थे शिरोधाय बन सुजनो के।" सब लोग मदिर की परिक्रमा कर अपना दुख भूलत थे। श्रीदेवीजी से प्राथना कर अपनी दीनता प्रकट कर रहे थे, अपना अभिमान मग कर रहे थे। आज क्षण क्षण म 'जय दुर्गा माता" "जय दुर्गा अम्बा" का दिव्य घोप वायुमण्डल को पवित्र करता हुआ उस शक्तिमती की अनयता स्थापित कर रहा था।

"शुभ शख वहा पर बज कर शकित मानस का
कम्पित करता था प्रेम प्रेरणा को पाकर।
औ' क्षुद्र घण्टिका जड होकर भी वक्षस्थल
थी वहाँ पीटती प्रेमोमत्त बनी प्रभु की।"

आज श्री दुर्गादेवीजी की मूर्ति भी अत्यन्त दिव्य दिखलायी देती थी। उनका श्रृगार अत्यन्त सुन्दर लगता था। उनका अचल पुष्पो से परिपूण था। वे फूल मानो मनुष्यो की वाछाएँ थी जिनसे श्री दुर्गादेवीजी का अचल भरा हुआ था। दुर्गादेवीजी की मूर्ति मन्द मन्द मुसकाकर मानो अपन सेवको को आशीर्वाद देती थी कि तुम्हारे वाछाओ के फूल सफल हो। उनके विशाल भाल पर मणिमुक्ताभिभूपित मुकुट अत्यन्त शोभा देता था। वह मानो उनके अध-चन्द्राकार ललाट पर सुधा बिन्दुओ का समुदाय था। मानो उनके दिव्य मस्तक पर उनके उपासको की शुभ चिन्ता के स्वेद बिन्दुओ का सुन्दर सीकर था। उनके गले का उज्ज्वल मणियो का हार उनकी सुन्दरता को द्विगुणित कर रहा था। वह मानो बतलाता था कि अनन्त दयामती जगज्जननी न अपने भक्तो के लिए इतन कठिन कष्ट भी सहन कर रखे हैं। उनका रूप आज असामान्य प्रतीत होता था। आज श्री दुर्गादेवीजी का स्वण कलश प्रशाभी विशाल मन्दिर भी बहुत अच्छी तरह सुशोभित था। उसके चतुर्दिक्-द्वार अरुण वस्त्रावृत कदली के सुदढ स्तम्भो से सजाये गये थे। प्रत्येक द्वार पर पवित्र पचामत परिपूण एक एक पुष्पावृत स्वण कलश रखखा था। मदिर का विस्तत प्रागण भी बन्दनवारो से सुशोभित था। आज यह मनुष्यो से खचाखच भरा था।

धन्य ! भगवति, तुम्हारी अनन्त महिमा है। तुम्हारा गुण गौरव जग के कलुष हरता है। तुम्हारा ध्यान हृदय पवित्र करता है। तुम्हारी कृपा मनुष्य को त्रय पापा स मुक्त करती है।

'मूक होय बाचाल, पगु चढ गिरिवर गहन।"

सायकाल का समय था। दिनकर महाराज डूबने को तैयार थे। मला समाप्त हो गया था। सब लोग अपन अपन गृह को चले गये थे। विहग रागिनि मधुर स्वर म श्री दुर्गादेवीजी के गुण गा रही थी। आज आराम की शोभा अपूर्व प्रतीत होती थी। 'हो पुष्प भार से नम्र लता' देवीजी के चरण-कमलो

मे अपना "पत्र पुष्पम्" अर्पण कर रही थी। तरलग के तट म आज एक छोटी सी कुटी दृष्टिगत होती थी। यह पहिले से नही थी। ऐसा ज्ञात होता है कि यह हाल ही बनी है। कुटी के सामने एक योगीजी बैठे थे। उनके अग अग से यौवन टपक रहा था। मुख की कान्ति परमोज्ज्वल थी। दढ तथा सुपुष्ट बाहु थी। अग मे एक गेरुवा रेशमी वस्त्र था। उसी से सारा अग आवत था। योगीजी ने धीरे धीरे गाना आरम्भ किया —

> बाल काल म जिसको नभ से कुमुद कला ने किलकाया।
> फूलो ने है जिसे खिलाया, गीतो ने है फुसलाया।
> कितनी ही नव नव गुडियो ने जिसको प्रतिदिन हर्षाया।
> उसे आज तू निज छवि मे ही केवल बाले! न लुभाले।
> और खिलौनो का भी भाग
> जिसकी सुदर छबि ऊषा है नव वस त जिसका श्रृगार।
> तारे हार, व मुकुट सूय शशि, मेघ केश, स्नेहाश्रु तुपार।
> मलयानिल मुखवास, जलधि-मन, लात लहर लीला सुखमार—
> उसी रूप को तू भी अपने कृश बाँहो मे लिपटा ले—
> रमा अग मे प्रेम-पराग

गाने की ध्वनि से सारा आराम गूज उठा। योगीजी के अनुराग का राग अस्तासन्न रवि म प्रतिबिम्बित हो सारे आराम मे फैल गया। आराम ने मानो गेरुवा वस्त्र पहिन लिया। गाना अब समाप्त हो गया था।

हाय! दद्दा! यह तुमने अपना कैसा वेष बना लिया है—कहकर सुफला युवा योगीजी के सामने खडी होकर अश्रु टपकाने लगी। आशा ने तो आज भविष्य को पहिले पहिचाना भी नही। जब उसने सुफला को ऐसा कहते सुना, उसने अपना मुख झुका लिया और वह भी सुफला की तरह आँसू बहाने लगी।

योगी—बठो सुफला! तुम इस समय यहाँ किसलिए आयी?

सुफला को भविष्य की यह दशा दखकर अत्यन्त आश्चय हुआ।

सुफला—दद्दा! तुम्हे क्या हो गया है?

भविष्य—कुछ नही हुआ सुफला! तू रोती क्यो है? मुझे कुछ नही हुआ है।

सुफला—यह क्या वेप कर लिया है? हाय! हाय! दद्दा तुम ऐसे कब से हुए? मैं आज तक यहाँ क्यो नही आयी!

भविष्य—सुन, सुफला, आज मैं तुझसे सब बातें कहूँगा। तू रो मत। जिस दिन तूने मुझसे अपनी सखी के विषय मे कहा था उस दिन सचमुच मुझे अत्यन्त बुरा लगा। मेरे सिर मे मानो अकस्मात अशनि पात हुआ। मैं तब से कई दिनो तक पागलो सा इधर-उधर फिरता रहा। मुझसे कुछ कतव्य निश्चित नही हो सका। मैं रात दिन यही सोचता था कि जिसे मैं इतना प्यार करता था, जिसे मैं अपनी अर्धांगिनी मान चुका था, जिसके साथ मैंने बाल-काल ही से नाता जोड लिया था, जिसके साथ बातें करने को मैं दिन पर दिन लालायित होता जाता था, जिसे मैं अपना सबकुछ न्योछावर कर चुका था, तथा जो मुझे

इतने दिवसो तक प्यार करती रही वही जब इतने अल्प काल मे भूल गयी है, मुझे छोड़कर किसी अन्य को प्यार करने लग गयी है, तो अब इस सम्बन्ध की क्या आशा ? इस प्रेम से क्या लाभ ? इस नाते से क्या सुख ?

मैंने आशा से अधिक प्यार इस संसार मे किसी को नही किया। और मैं यह भी जानता हूँ कि आशा भी पहिले मुझे बहुत प्यार करती थी। क्योंकि मैं और यह बाल-काल से सदा साथ ही रहे सदा साथ ही खेले कूदे। जब इतना चिर-संचित सम्बन्ध भूलकर आशा ने मुझे अपने हृदय से उठा दिया तो मैं यही समझा कि यह प्रेम प्रेम नही है। यह प्यार प्यार नही है। मैं प्रेम की लीला अच्छी प्रकार पढ़ चुका था। मैंने बाल्यावस्था ही मे अपने स्वर्गीय पिताजी से ध्रुव तथा प्रह्लाद की कथाएँ सुन ली थी। मुझे उस दिन मेरे पिताजी ने प्रेम के विषय मे बहुत कुछ उपदेश भी दिया था। वह मेरे हृदय मे अभी तक अंकित है। मैं जानता था कि—

जब जीवन के स्रोत सम्मिलित हो जाते हैं किसी प्रकार।
उन्हे नही तब बिछुड़ा सकता कभी स्वयं तारक करतार।।

मैं इस विशुद्ध प्रेम को, इस पवित्र अनुराग को, इस नित्य नवीन बंधु को, एक क्षणिक सुख से विमिश्रित कर शान्ति की आशा करने लगा था, आनन्द पाने की प्रतीक्षा करने लगा था मैं उस अमर अप्राप्त धन को लोभ की दृष्टि से देखने लगा था, उससे कुछ लाभ की इच्छा करने लगा था, मैं उस अलभ्य-मुक्ता को स्वार्थ के कृश सूत्र में गूथकर गले का हार बनाने की चेष्टा करने लगा था। उस अनन्त शक्ति को माया के पाश मे बाँधने का प्रयत्न करने लगा था उस रंग हीन को मोह के मलिन रंग मे रंजित करने लगा था। मैं अपने पिताजी का वह अमूल्य उपदेश मद मत्त हो भूल गया था। इसी से मुझे कुछ कष्ट उठाना पड़ा। किन्तु जब मेरे शोक का वेग कुछ घटा तब मैंने सोचा कि इस प्रेम का पात्र कौन होना चाहिए। इसके उपयुक्त कौन है। मुझे किसके गले में बाँहे डालनी चाहिए। वह कौन है जो प्रेमी को नही भूलता। जो आश्रित को निराश्रित नही करता। जिसके हृदय मे प्रेम का अनन्त सागर समा सकता है। जिसके प्रेम मे दुःख नही है, वियोग नही है, शोक नही है, पश्चात्ताप नही है, प्रायश्चित्त करने की आवश्यकता नही है। वह कौन है जिसके प्रेम की अँगूठी नही खोती, जिसे सुधि नही दिलानी पड़ती, जिससे बोलने मे संकोच नही होता, जो नित्य साथ ही रहता है।

वृद्ध पुजारीजी महाराज की उपदेश सुधा ने मेरा मति मल धो दिया। मैंने अपना पात्र ढूँढ लिया, वह अमूल्य रत्न पहिचान लिया। मैं बाल काल ही से जिसकी गोद मे था, जिसे कई प्रकार की क्रीड़ाओं से रिझाता था—उसे पा लिया। सुषमा, मैं अपने चिर संगी को भूल गया था।

आशा यह सुनकर अत्यन्त विह्वल हो गयी। उसका हृदय दुःख से फटने लगा। वह मन ही मन कहने लगी—हाय! मैं ही इसकी कारण हूँ। मैंने अपना भी सत्यानाश किया, उनका भी! हाय! हाय! मैं अब क्या करूँ। मैंने उनकी सात की जमींदारी राख मे मिला दी। मैंने मणि-हार को काँच की

माला समझकर हृदय से फेंक दिया। हाय ! मैंने अलभ्य रत्न को प्रस्थर का टुकड़ा समझकर हाथ से खो दिया। हाय ! मैं अत्यन्त दुराचारिणी निकली, अत्यन्त पापिष्ठा निकली। अब मैं इस समय क्या कहकर क्षमा मांगू ? मेरा अपराध अक्षम्य है। इसका कोई प्रायश्चित्त नहीं है। हाय ! मैं नरक की कीड़ा हूँ। हाय ! अब मेरा क्या होगा ? अब मैं किसकी शरण जाऊँ ? अब ये मुझे स्वीकार थोड़ी करेंगे ?

आशा इसी भाँति अत्यन्त शोकाकुल हो रोने लगी। उसकी आँखों से अविरल जल धार बहने लगी। उसे यह सुधि न रही कि मैं इस समय कहाँ हूँ !

भविष्य से आशा की यह दशा न देखी गयी। वे आशा से नम्र स्वर में कहने लगे—

बहिन, रोओ मत। धैर्य रक्खो। वृथा अपने हृदय को पीडा न दो। तुमने कुछ नहीं किया। तुम्हारा इसमें कुछ अपराध नहीं है। इसका दोषी मैं ही हूँ। मैं इस पाप का प्रायश्चित्त करूँगा। तुम मुझे क्षमा करो।

आशा यह सुनकर फूट-फूटकर रोने लगी। उसे अब तक बोलने का साहस नहीं होता था। किन्तु भविष्य के उपरोक्त वचन सुन उसे धैर्य हुआ। वह मन ही मन कहने लगी—यदि इस समय न बोलूंगी तो कब बोलूंगी ? मुझे यह लज्जा जब लगनी चाहिए थी तब नहीं लगी। तब तो मैं निलज्ज होकर अपने माथे कलंक लगा चुकी हूँ। अब इनसे बोलने में क्या लाज ?

आशा भविष्य से कातर स्वर में बोली—

मुझे क्षमा करो, देव ! मुझ दासी को क्षमा करो। हाय ! मुझसे पहिले बड़ी भूल हुई। तब मुझे भले-बुरे का ज्ञान नहीं रहा था। मेरी बुद्धि ने मेरा साथ छोड़ दिया था। तब मैं अज्ञानावस्था में थी। नाथ ! मुझे क्षमा करो। मैंने भूलकर घोर पाप किया। हाय ! हाय ! मुझे इस पाप का दण्ड मिल रहा है। मेरे हृदय में सहस्र वृश्चिक-दंशन के समान पीडा हो रही है। मेरा कलेजा फट रहा है। इसका प्रायश्चित्त आपकी सेवा करने से दूसरा नहीं हो सकता। इस अनाथा को भी अपने चरणों में स्थान दो। नाथ ! इसका और कौ

आशा का गला रुँध गया। वह आगे को कुछ नहीं कह सकी। वह वाक् शून्य हो गयी। आशा फूट फूटकर रोने लगी। सुफला भी आशा की यह दशा देखकर रोने लगी। उसका कोमल हृदय यह करुणा काण्ड न देख सका। वह भविष्य से कहने लगी—

दद्दा ! मेरी बहिन का अपराध क्षमा करो। उसे भिन्न न रक्खो। हाय ! वह अपने कृत्य का यथेष्ट फल पा चुकी है। अब उसे अधिक दुःख न दो। उसकी प्रार्थना स्वीकार करो। उसे अपनी कृपा से वंचित न रक्खो। संसार में भूल सभी करते हैं। चूक सभी के हिस्से में रख दी गयी है। "दृष्ट किमपि लोकेस्मिन न च दोष न च निर्गुणम।" आशा अभी लड़की ही है। इसके दोषों को न देखकर इसे क्षमा करो।

भविष्य—मैं पहिले ही कह चुका हूँ बहिन, आशा का इसमें कुछ अपराध नहीं है। यह व्यर्थ दुःखी हो रही है। आशा ! रोओ नहीं। तुमने मेरा कुछ नहीं

बिगाडा है, मैं तुमसे लेशमात्र रुष्ट नही हूँ।

आशा—नाथ! मुझे क्षमा करो। मैंने घोर पाप किया है। मैंने तुम्हे व्यथ इतना कष्ट दिया। मैं हतभागिनी हूँ। जब तक आप मुझे क्षमा न करेंगे, मेरा दु ख कम नही होगा। नाथ! मुझे भी अपने चरणो मे स्थान दो। मैं आपकी सेवा कर अपने पाप का प्रायश्चित्त करूँगी।

आशा भविष्य के चरणो मे सिर रखकर रोने लगी। आज वह निस्सकोच अपने पाप का प्रायश्चित्त करने लगी। भविष्य न अपने चरणो से आशा का शिर उठा लिया। वह कहने लगा—

उठो, बहिन! मैंने तुम्हे क्षमा किया। मैं तुमसे किसी प्रकार भी असन्तुष्ट नही हू। मैं जानता हू उसम तुम्हारा काई दोष नही। मनुष्य का हृदय ही चचल होता है। उसे एक ओर को लगाना पहिले बडा कठिन होता है। तुम वथा अपने चित्त को न दुखाओ मैं तुम्ह अब भी उतना ही प्यार करता हूँ। मैं पहिले तुम्हें यथाथ मे प्यार नही करता था। जिस प्रेम मे लालसा, क्षोभ, दु ख, विरह, आशका, भय तथा चचलता रहती है, वह प्रेम यथाथ मे प्रेम नही है। वह एक प्रकार की आसक्ति है। यदि तुम मेरे ही साथ रहना चाहती हो तो मुझे इसमे कोई आपत्ति नही है। किन्तु यह तुम्हारे लिए अत्यन्त कष्टकर होगा।

आशा—नही, नाथ! मुझे इसमे कुछ दु ख नही है। इसमे अधिक सुख मेरे लिए और क्या हो सकता है! मैं आपकी सेवा करके सारा जन्म आपके चरणो मे व्यतीत करूँगी। आपके सदुपदेश सुनकर अपना जोवन साथक करूँगी। नाथ! अब मेरा सब दु ख गया। मैं आज से आपकी दासी हुई।

भविष्य—इसमे तुम्हारी इच्छा रही। मुझे कोई विपत्ति नही है। मैं तुमसे 'नही' नही कह सकता। आज तक तुमने मुझे प्यार किया है, अब मैं तुम्हें निरा श्रित नहीं कर सकता। ईश्वर तुम्हे बल तथा उत्साह द।

सुफला—दद्दा! अपना गह छोड और अपनी उतनी बडी जमीदारी त्यागकर इस कुटी मे रहना क्या अच्छा होगा? यदि तुम्हारी यही इच्छा है तो क्या ऐसा घर मे नही हो सकता? इसी कुटी मे क्या रक्खा है?

भविष्य—सुफला, तुम्हारा कहना ठीक है, पर मैं इस विषय म पहिले ही बहुत कुछ सोच चुका हू। मेरा यहा रहना ही उचित होगा। मैंने अपनी जमी दारी छोड नही दी है। वह मैंने अपने एक सुयोग्य मित्र को सौप दी है। वह उसका प्रबन्ध कर देगा। मैने उससे एक अनाथालय तथा एक विद्यालय खोल देने के लिए भी कह दिया है। वह इसका प्रबन्ध शीघ्र ही कर रहा है। बहिन, मेरी जमीदारी की आय का इससे सदुपयोग और क्या हो सकता है।

सुफला—दद्दा! तुम्हारे उदार हृदय को धन्य है। तुम्हारा चरित्र अत्यन्त पवित्र तथा निमल है।

भविष्य—यह सब तुम्हारी स्नेह दष्टि है बहिन, मैं तो केवल अपने क्तव्य का पालन कर रहा हूँ।

सुफला—इससे अधिक और क्या हो सकता है। ससार मे अपना कतव्य ही कितने लोग पालन करते हैं? तुम तो कतव्य पालन करने से भी अधिक बढ गये

हो। तुमने दोनो का जीवन सुफल किया। तुमने आज प्राचीन ऋषियो का मार्ग ग्रहण किया।

अहा! ददा, इससे अधिक सुख और किसमे है? इससे अधिक आनन्द किसमे है? तुम्हारा साहस अपार है। तुम्हारा ध्रुव धैर्य है। निश्छल प्रेम है।

भारत! तू धन्य है! तेरी सभ्यता का आलोक दिगन्त व्यापी रहा है। तेरी समाज की सुप्रथाएँ अत्यन्त उज्ज्वल रही हैं। तू ज्ञान का आगार रहा है। सभ्यता का शिरमौर रहा है। तेरा यह 'मेल अत्यन्त मजुल है। सूर्य मणि से भी उज्ज्वल है। जलकणो के समुदाय सिन्धुराज से भी प्रशान्त है। सदागति वाली सदागति मे भी अनन्त गति है।

छोटे छोटे रोडो को जीवन दान तू ने ही दिया। उन्हे साकार तूने ही किया। तूने ही ज्ञान तथा ध्यान के ध्रुव मिलाप मे निराकार ईश्वर को साकार बनाया। अनन्त वाछा का फल प्राप्त कर निर्गुण को सगुण सिद्ध कर दिया। तूने ही अत्यन्त अदभुत मान का अजन बनाया। तूने केवल स्नेहाश्रुओ ही से महानन्द की रवि-नन्दिनी बहाई। तेरा आत्मज्ञान धन्य है। तेरी शिक्षा धन्य है।

तूने कनक मे ध्यान न लगा केवल प्रस्थर के कण मे ध्यान लगाकर अनन्त ईश्वर के दर्शन किये। तेरा दिव्य वस्त्र मणिजटित दिव्याभूषण न रह केवल गेरवा कपडा रहा। तूने गेरुवे रग मे सब रग देख लिये। उस ऊषा के दिव्य आलोक का रग गेरुवा है। तूने ही पहिचाना था कि वह अलख का रग है। ऊषा, तम तथा प्रकाश का दिव्य मेल है। कितना मधुर मेल है।

तेरा अगराग बहुमूल्य द्रव्य न रहकर केवल काष्ट तथा राख रहा। तूने ही चन्दन का दिव्य महत्त्व जाना, जो विषधरो के लिपटे रहने पर भी विषमय नही होता। उसे अग म लगाना मानो काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि विषधरो से निर्भय होना है। तूने शरीर मे राख लगाकर प्रकट किया कि बाह्य इच्छाओ को भस्म कर देना चाहिए। तेरा अलौकिक बल अनन्त है। तेरी कल्पना के कल्पतरु का मूल दिगन्तव्यापी है।

भविष्य सुफला की बातो को सुनकर अत्यन्त प्रम न हुआ। सुफला आशा के अनुरोध स आज यही रही।

आशा को आज अपार सुख हुआ। उसने प्रेम को आज पहिचाना।

वीणा

[प्रथम प्रकाशन-वर्ष १९२७]

विज्ञापन

"वीणा" नामक अपने इस दुधमुँहे प्रयास को हिन्दी ससार के उद्भट समालोचको की छिद्रान्वेषी मूषक दृष्टि के सम्मुख रखने मे मुझे जो सकोच से अधिक आह्लाद ही हो रहा है, उसका कारण यह है कि मेरे इन असमय प्रयत्नो तथा असफल चेष्टाओ द्वारा किये गये अत्याचार-उत्पात को स्नेहपूर्वक सहन कर वे मुझे ही अपने कृतज्ञता के पाश मे न बाँध लेंगे, स्वय भी मेरे अत्यन्त निकट खिच आयँगे। सन्त हसो की तो वैसे भी चिन्ता नही रहती, हाँ, वारि-विकार के प्रेमियो के कठोर आघात से बचने के लिए एक बार मैंने सोचा था कि इस भूमिका मे अत्यन्त विनीत तथा शिष्ट शब्दो की चाटुकारी का रोचक जाल फैलाकर उनकी रणकुशल कठफोरे की सी ठोठ को बाँध दू। किन्तु 'निज कवित्त केहि लाग न नीका' वाली किवदन्ती के याद आत ही मेरे अभिमानी कवि ने निर्भयता का कवच पहनकर, मुझे, उनकी लम्बी सी चोच के लिए 'शोरवा' तैयार करने से हठात रोक दिया। अस्तु—

इस सग्रह मे दो एक को छोड अधिकाश सब रचनाएँ सन १६१८-१६ की लिखी हुई हैं। इस कवि-जीवन के नवप्रभात मे नवोढा कविता की मधुर नूपुर ध्वनि तथा अनिवर्चनीय सौन्दय से एक साथ ही आकृष्ट हो, मेरा 'मन्द कवियश प्रार्थी' निर्बोध, लज्जा-भीरु कवि, वीणावादिनी के चरणो के पास बैठ स्वर साधन करते समय, अपनी आकुल उत्सुक हृत्तन्त्री से बार-बार चेष्टा करते रहने पर, अत्यन्त असमय अँगुलियो के उल्टे-सीधे आघातो द्वारा जैसी कुछ भी अस्फुट अस्पष्ट झकारें जागृत कर सका है वे इस 'वीणा' के स्वरूप मे आपके सम्मुख उपस्थित हैं। इसकी भाषा यत्र-तत्र अपरिपक्व होने पर भी मैंने उसमे परिवतन करना उचित नही समझा, क्योकि तब इसका सारा ठाठ ही बदल देना पडता। कई शब्द वाक्य आदि—जैसे मम, स्वीकारो, निर्माऊँ, वय-वाली, पहने है शुचि मुक्तामाल (पृष्ठ ६४) इत्यादि—जिनका प्रयोग अब मुझे कविता मे अच्छा नही लगता—इसमे ज्यो के त्यों रख दिये गये हैं। मुझे आशा है, जिस प्रकार गत साधते समय अपने नौसिखुए शिष्य की अधीर, पथ-भ्रष्ट अँगुलियो की बसुरी हलचल उस्ताद को कष्टकर नही होती, उसी प्रकार इस वीणा के गीतो की स्वरलिपि मे इधर-उधर भूल से लग गये कर्कश विवादी स्वर भी सहृदय काव्य मर्मज्ञो के लिए केवल मनोरजन तथा विनोद की सामग्री होगे।

'मम जीवन की प्रमुदित प्रात' वाला गीत (पृष्ठ ८४) गीताजलि के 'अन्तर मम विकसित कर' वाले गाने से मिलता-जुलता है। बनारस मे मेरे एक मित्र गीताजलि के उस गीत को अकसर गुनगुनाया करते थे, उसी को सुनकर मैंने भी उपर्युक्त गीत लिखने की चेष्टा की थी।

कई कारणो से मुझे विश्वास है कि प्रस्तुत सग्रह हिन्दी प्रेमियो को 'पल्लव' से अधिक रुचिकर प्रतीत होगा, क्योकि यह उतना अच्छा नही।

२५ अगस्त, २७'
बेली रोड, प्रयाग

सुमित्रानदन पत

उत्सर्ग

जननि, सुना दे मृदु झंकार!
मधु बाला की मृदु बोली सी
तेरी वीणा की गुंजार
खिला कई कवि कुल कमलों को
सुरभि कर चुकी है संचार!

मधुर प्रतिध्वनि सुनकर उसकी
नव कलिया सजती श्रृङ्गार,
यह तो तुतली बोली में है
एक बालिका का उपहार,
यह अति अस्फुट, ध्वन्यात्मक है
बिना व्याकरण, बिना विचार!

इस बोली मे कौन सुनेगा
इसकी वीणा को निस्सार?
ताल लय रहित मेरी वीणा
वीणावादिनि, कर स्वीकार!

(१६१८)

वीणा

(१)

नव वसत ऋतु मे ग्राग्रो,
नव कलियो को विकसाग्रो,
प्रेयसि कविते ! हे निरुपमिते !
तरुण उपा की ग्ररुण ग्रघखुली
ग्राँखो से मत विधवाग्रो,
मानिनि, मजुल मलयानिल से
यो विरोध मत बढवाग्रो !
इन नयनो को समझाग्रो,
इन्हे न लडना सिखलाग्रो,
प्रेयसि कविते ! हे निरुपमिते !
कमल कली मे इन्हे डालकर
हाय ! न यो ही ढुलकाग्रो,
ग्रज्ञाता की केश राशि मे
इन्हे न कस कस बँधवाग्रो !
ग्राग्रो, कोकिल बन ग्राग्रो,
ऋतुपति का गौरव गाग्रो,
प्रेयसि कविते ! हे निरुपमिते !
ग्रधरामृत से इन निर्जीवित
शब्दो मे जीवन लाग्रो,
प्राणो ने जो देखा कर को
उसे खीचना सिखलाग्रो !

(१९१८)

(२)

तुहिन बिन्दु बनकर सुन्दर,
कुमुद किरण से सहज उतर,
मा ! तेरे प्रिय पद पद्मो मे
ग्रपण जीवन को कर दू—
इस ऊषा की लाली मे !
तरल तरगो मे मिलकर
उछल उछलकर, हिल हिलकर
मा ! तेरे दो श्रवण पुटो मे
निज क्रीडा कलरव भर दू—
उभर ग्रधखिली वाली मे !

रजत रेत बनकर झलमल
तेरे जल से ही निमल
माया सागर मे डूबो का
सोख सोख रति रस हर दू—
ग्रीष्म भरी दोपहरी मे।
बन मरीचिका-सी चचल
जग की मोह तपा को छल,
सूखे मरु मे मा। शिक्षा का
स्रोत छिपा सम्मुख धर दू—
यौवन की मद लहरी मे।
विटप डाल मे बना सदन
पहन गेरुवे रँगे वसन,
विहग बालिका बन, इस वन को
तेरे गीतो से भर दू—
सध्या के उस शात समय।
कुमुद कला बन कल हासिनि
अमत प्रकाशिनि, नभवासिनि,
तेरी आभा को पाकर मा।
जग का तिमिर त्रास हर दू—
नीरव रजनी मे निमय।

(१६१८)

(३)

बढा और भी तो अतर!
जिनको तूने सुखद सुरभि दी,
मा! जिनको छवि दी सुदर
मैं उनके ढिग गयी व्यग्र हो
तुझे ढूढने को सत्वर!
मधुबाला बन मैंने उनके
गाये गीत, गूज मृदुतर
पर मैं अपने साथ तुझे भी
भूल गयी मोहित होकर!

(१६१८)

(४)

यह चरित्र मा! जो तूने है
चित्रित किया नयन सम्मुख,
गा न सकी यदि मैं इसको तो
मुझको इसमे भी है सुख!
वह कला जो बतलाई थी
तूने अरुणोदय के पास,

पा न सकी यदि उसमे तुझको
मैं तब भी हूँगी न विमुख !

वे मोती जो दिखलाये थे
तूने ऊषा के वन मे
उन्ह लोग यदि ले लेंगे तो
मलिन न होगा मेरा मुख !

तू कितनी प्यारी है मुझको
जननि, कौन जाने इसको,
यह जग का सुख जग को दे दे,
अपने को क्या सुख, क्या दुख ?
(१६१८)

(५)

आज वेदन ! आ, तुझको भी
गा गाकर जीवन दे दू—
हृदय खोल के रो रोकर

अविरल आहा मे भर भरकर
उस कठोर मन की घातें,
सुरभी मालाओ से गिन गिन
चिर वियोग दुख की रातें,
सजनि ! निराशा मे विलीन हो
तुझको निज तन मन दे दू—
अश्रु नीर से धो धोकर !

जिस मलिन्द की छवि मदिरा की
मादकता तू लायी है,
पिला पिला जिसको नयनो की
तूने प्यास बढाई है,
उस तुझी मे पाकर तुझको
अपना नव यौवन दे दू—
सजनि ! विमूर्छित हो होकर !
(१६१८)

(६)

मम जीवन की प्रमुदित प्रात
सुन्दरि ! नव आलोकित कर !
विकसित कर, नव सुरभित कर,
गुजित कर, कल कूजित कर
किसी प्रेम का नव जलजात,
बढा कनक कर निज मदुतर !
निर्मल कर, अति उज्ज्वल कर,
मजुल कर, मुद मगल कर,

जीवन ज्योति जला अवदात,
ज्वालामय कर उर अम्बर !
मेरे चचल मानस पर
पाद पद्म विकसा सुदर
बजा मधुर वीणा निज मात !
एक गान कर मम अतर !

(१९१८)

(७)

हाय, कहेगा क्या ससार !
भला इसे मैं क्यो पहनूगी ?
यह कैसा मणियो का हार !
मैं तो अपनी हार स्वय ही
पहन चुकी हू बारम्बार !
जब खद्योतो से खेलूगी
विजय निशा मे, मैं उस पार,
इन मणियो की आभा से तब
दुख पहुचेगा उन्हे अपार !
फिर पीपल के नीचे मुझसे
नही मिलेंगे वे सुकुमार,
जहा प्रकाशित करते हैं वे
मेरी आशा का ससार !

(१९१८)

(८)

काला तो यह बादल है !
कुमुद कला है जहा किलकती
वह नभ जैसा निमल है,
मैं वैसी ही उज्ज्वल हूँ मा !
काला तो यह बादल है !
मम मानस तो शशि हासिनि
तेरी क्रीडा का स्थल है,
तेरे मेरे अन्तर मे मा !
काला तो यह बादल है !

तेरी किरणो से ही उतरा
मोती-सा शुचि हिमजल है,
मा ! इसको भी छू दे कर मे
काला जो यह बादल है !
तब तू देखेगी मेरा मन
कितना निर्मल निश्छल है
जब दृगजल बन बह जावेगा
काला जो यह बादल है !

(१९१८)

(९)

द्वार भिखारी आया है,
भिक्षा दो, भिक्षा, सुन्दर!
कर चचल मजुल मुसकान,
तम का मुख काला कर प्राण!
गरज, गरज, कुछ शिक्षा दो,
शिक्षा दो, हे शिक्षाकर!
दया द्रवित हो दयानिधान!
नम्र निवेदन कर यह कान,
अये मुक्त! शुचि मुक्ता दो,
मुक्ता दो, थाली भर-भर!
क्षीण कण्ठ कर रहा पुकार,
जलधर स बनकर जलधार
प्यास लगी है पानी दो,
पानी दो, जीवन जलधर!
स्नेह अश्रुजल से अविरल
धो दो मेरा मल, निमल!
तप्त हृदय शीतल कर दो
शीतल कर दो आतपहर!
(१९१८)

(१०)

जब मैं कलिका ही थी केवल,
नहीं कुसुम थी बनी नवल,
मैं कहती थी मेरा मृदु मुख
शशि के कर खोलें शीतल!
पर आखें खुलते ही मैंने
अधकार देखा,—सविकल
स्वण दिशा को देख, सजल दग
तुम्हें पुकारा हे उज्ज्वल!
(१९१८)

(११)

कौन कौन तुम परिहृत वसना,
म्लान मना, भू-पतिता सी?
धूलि घूसरित मुक्त कुतला,
किसके चरणो की दासी?
अहा! अभागिन हो तुम मुझसी
सजनि! ध्यान म अब आया,
तुम इस तरुवर की छाया हो
मैं उनके पद की छाया!

विजन निशा मे किंतु गले तुम
लगती हो फिर तरुवर के,
आनंदित होती हो सखि! नित
उसकी पद सेवा करके,
और हाय! मैं रोती फिरती
रहती हूँ निशि दिन वन वन,
नहीं सुनायी देती फिर भी
वह वंशी ध्वनि मनमोहन!
सजनि! सदा श्रम हरती हो तुम
पथिकों का, शीतल करके,
मुझ पथिकिनि को भी आश्रय दो,
मनस्ताप मेरा हरके!
(१९१८)

(१२)

बालकाल मे जिसे जलद से
कुमुद कला ने खिलवाया,
तारावलि ने जिसे रिझाया,
मृदु स्वप्नों ने सहलाया,
मारुत ने जिसकी अलकों मे
चंचल - चुम्बन उलझाया,
उसे आज अपनी ही छबि मे
केवल बाले! न लुभा ले,—
उनका भी तो है कुछ भाग!
दीप शलभ ने जिसे मिचौनी
खेल - खेल कर हुलसाया
कुसुमों ने हँसना सिखलाया
मृदु लहरों ने पुलकाया,
जिसे ओस जल ने ढुलकाया,
धवल धूलि ने नहलाया,
उसे कुसुम-सा गूँथ न ले अलि!
कुटिल कुंतलों मे काले,—
मेघों से भी है अनुराग!
जिसकी सुंदर छबि ऊषा है
नव वसंत जिसका शृङ्गार,
तारे हार किरीट सूर्य - शशि,
मेघ केश स्नेहाश्रु तुषार,
मलयानिल मुख वास, जलधि मन,
लीला लहरों का संसार,
उस स्वरूप को तू भी अपनी
मृदु बाँहों मे लिपटा ले,—
रमा अंग मे प्रेम पराग!
(१९१८)

(१३)

जब मैं थी अज्ञात प्रभात,—
मा! तब मैं तेरी इच्छा थी,
तेरे मानस की जलजात!
तब तो यह भारी अन्तर
एक मल मे मिला हुआ था,
एक ज्योति बनकर सुन्दर,
तू उमग थी, मैं उत्पात!
अब तेरी छाया सुखमय
अन्धकार मे नीरवता बन
मा! उपजाती है विस्मय!

× × × × ×

उठ रे, उद्यत हो अज्ञात!
स्तब्ध हुआ है सब ससार,
इस नीरवता से तू कर ले
अपने साधन का श्रृङ्गार,
यह सुहाग की है प्रिय रात!
यह दीपक अपने सम्मुख धर,
जिससे पीछे गिरे मोह की
छाया, अन्तर हो गोचर,
वह भविष्य होवे अवदात!

(१९१८)

(१४)

करुणा क्रदन करने दो!
अविरल स्नेह अश्रु जल से मा!
मुझको मति मल धोने दो
दग्ध हृदय की विरह व्यथा को
हरने दो, मा! हरने दो!
मुझे चरण म शीश नवाकर
अवनत वदना होने दो,
उर इच्छा को एक आह बन
झरने दो, मा! झरने दो!
मानस शय्या पर मेरी इन
वाछाओ को सोने दो,
अपना अचल निज स्वप्नो मे
भरने दो मा! भरने दो!
द्रोह माह छल मदन मद मुझे
निज सगति से खोने दो
हाथ पकड यह विश्व महोदधि
तरने दो, मा! तरने दो!

(१९१८)

(१५)

धनिक ! तुम्हारे यहाँ भिखारी
भिक्षा लेन ग्राया है,
नहीं इसलिए—तुम थाली भर
मणि मुक्ता दाग सुदर।
किन्तु इसलिए ग्राया है प्रिय !
वह तुमने ग्रपनाया है,
स्नेह सहित तुम जो कुछ दोगे,
वह कृतार्थ होगा सत्वर।

(१६१८)

(१६)

मिले तुम राकापति म ग्राज
पहन मेरे दृगजल का हार,
बना हूँ मैं चकोर इस बार
बहाता हू ग्रविरल जलधार
नहीं फिर भी तो ग्राती लाज
निठुर ! यह भी कैसा ग्रभिमान ?
हुग्रा था जब सध्या ग्रालोक
हँस रहे थे तुम पश्चिम ग्रोर,
विहग रव बनकर मैं चितचोर !
गा रहा था गुण किंतु कठोर !
रहे तुम नहीं वहा भी, शोक !
निठुर ! यह भी कैसा ग्रभिमान ?
याद है क्या न प्रात की बात ?
खिले थे जब तुम बनकर फूल,
भ्रमर बन प्राण ! लगाने धूल
पास ग्राया मैं, चुपके शूल
चुभाये तुमने मेरे गात
निठुर ! यह भी कैसा ग्रभिमान ?
कहाते थे जब तुम ऋतुराज
बना था मैं भी वक्ष करील,
रात दिन दृष्टि द्वार उन्मील
बुलाया तुम्हे (यही क्या शील !)
न ग्राये पास, सजा नव साज
निठुर ! यह भी कैसा ग्रभिमान ?
ग्रभी मैं बना रहा हूँ गीत
ग्रश्रु मे एक एक लिख घात
किया करते हो जो दिन रात
बुझाते हो प्रदीप, बन वात
प्राणप्रिय ! होकर तुम विपरीत
निठुर ! यह भी कैसा ग्रभिमान ?

(१६१६)

(१७)

ये तो हैं नादान नयन !
वारि विनिर्मित वारिद दल,
मंजु मेल की मूर्ति विमल,
निर्मलता के निलय नवल क्यों
इन्हें दिखायी देते श्याम ?
वे वासव के शुचि वाहन,
रोहित रंजित गिरि मण्डन,
प्रकृति देवि के नव जीवन क्या
इन्हें नहीं लगते अभिराम ?
ये तो हैं निर्बोध श्रवण !
जिन्हें वारि ने उपजाया,
दिनकर ने है विकसाया,
विमल वायु ने समुद झुलाया
जिन्हें खिलाकर अपनी गोद,
उनका मंजुल मोद मिलन,
गुण गम्भीर गहन गर्जन,
चपला चुम्बित अभिवादन क्यों
इन्हें नहीं देता आमोद ?
छोड़ उच्चतम नील गगन—
इन नयनों में समुद उतर,
इन श्रवणों में मृदु स्वर भर,
इनसे नहीं मिल आकर वे
इसीलिए क्या हैं श्यामल ?
पर, जब पी पी ध्वनि सुनकर
अविरल पिघल पिघल झर झर,
गिरते हैं बन हिम सीकर वे
तब कहलाते निर्मल जल !
कैसा भोला है यह मन !

(१९१९)

(१८)

मेरे मानस का आवेश,
तेरी करुणा का उन्मेष
भीरु घनों सा गरज गरजकर
इसे न मुरझा जाने दे !
निज चरणों में पिघल पिघलकर
स्नेह अश्रु बरसाने दे !
भव्य भक्ति का भावन मेल,
तेरा मेरा मंजुल खेल
सघन हृदय में विद्युत-सा जल
इसे न मां ! बुझ जाने दे,

मलिन मोह की मेघ निशा मे
दिव्य विभा फैलाने दे।
विश्व प्रेम का रुचिकर राग,
पर सेवा करने की आग,
इसको सन्ध्या की लाली सी
मा ! न मन्द पड जाने दे,
द्वेष द्रोह का सान्ध्य जलद सा
इसकी छटा बढाने दे।

(१६१८)

(१६)

उन सीधे जीवन का श्रम
हेम हास से शोभित है नव
पके धान की डाली मे,—
कटनी के घुघुर रुनझुन
(बज बजकर मंदु गाते गुन,)
केवल श्रान्ता के साथी है
इस ऊषा की लाली मे।
मा ! अपने जन का पूजन
ग्रहण करो 'पत्र पुष्पम',
सरल नाल सा सीधा जीवन
किन्तु मजरी से भूषित,
बाली से शृङ्गार तुम्हारा
करता हू वय वाली मे।
सास ननद भय भूख अजय,
श्रान्ति अलस औ श्रम अतिशय,
तथा कास के नव गहनो से
अर्चन करता है सादर—
आश्विन सुषमाशाली मे।

(१६१८)

(२०)

इस अबाध की अन्धकारमय
करुण कुटी पर करुणा कर
अय रन्ध्र मग गामी ! स्वागत,
आओ मुसका उज्ज्वलतर।
रजत तार से हृ शुचि रुचिमय !
हू सूची से कृशतर अग !
इस अधीर की लघु कुटीर का
तिमिर चीरकर, कर दो मग !
हे करुणाकर के करुणा कर
तुम अदृश्य बन आते हो,

रज कण को छू, बना रजत कण,
प्रचुर प्रभा प्रकटाते हो !

अरुण अधखुली आँखें मलकर
जब तुम उठते हो छविमय !
रंग रहित को रंजित करते,
बना हिमालय हेमालय !

तुम बहुरंगी होने पर भी
सदा शुभ्र रहते हो नाथ !
मुझको भी इस शुभ्र ज्योति में
मज्जित कर लो अपने साथ !

हे सुवर्णमय ! तुम मानस में
कमल खिलाते हो सुंदर,
मेरे मानस में भी उसके
विकसा दो पद पद्म अमर !

और नहीं तो अपना ही सा
मुझको भी सीधा जीवन
हे सीधे मग गामी ! दे दो,
दिव्य अप्रकट गुण पावन !

(१६१८)

(२१)

मैं सबसे छोटी होऊँ,
तेरी गोदी में सोऊँ,

तेरा अंचल पकड़ पकड़कर
फिरूँ सदा मा ! तेरे साथ
कभी न छोड़ूँ तेरा हाथ !

बड़ा बनाकर पहिले हमको
तू पीछे छलती है मात !
हाथ पकड़ फिर सदा हमारे
साथ नहीं फिरती दिन रात !
अपने कर से खिला, धुला मुख
धूल पोंछ सज्जित कर गात,
थमा खिलौने, नहीं सुनाती
हमें सुखद परियों की बात !

ऐसी बड़ी न होऊँ मैं
तेरा स्नेह न खोऊँ मैं,

तेरे अंचल की छाया में
छिपी रहूँ निस्पृह, निर्भय
कहूँ—दिखा दे चंद्रोदय !

(१६१८)

(२२)

निज अचल मे धर सादर,
वासन्ती ने यह नव कलिका
जो तुझको दी है उपहार,
इस हासमय सुखद प्रात को
किया जगत का जो शृङ्गार,
मा ! इस नव कलिका का तन,
कोमलता से कोमलतम,
इस निकुज के काटो से क्या
बिध न जायगा अति असहाय ?
प्रखर दोपहर मे दिनकर कर
सहन कर सकेगा क्या हाय !
क्या हिम का अकरुण आघात
सह लेगा इसका मृदु गात ?
यही निबल कलिका लतिका का
मा ! क्या वश बढायेगी ?
मधुप बालिका का क्या यह ही
मा ! मानस बहलायेगी ?
यह तेरी अति नूतन नीति
मा ! यह तेरी न्यारी रीति
तेरी सुखमय सत्ता जग को
कहा नहीं जतलाती है ?
जहा छिपाती है अपने को
मा ! तू वही दिखाती है !
(१६१८)

(२३)

हाय ! जगाने पर भी तो मैं
सजनि ! न अब तक जगती थी,
सोयी थी मैं इसीलिए तो
जग को भारी लगती थी ।
स्वप्न देखती थी मैं मादक,
किंतु अचिर अस्फुट सुखमय,
लता कुज मे सोयी हू मैं
सुरभित सुमनो पर निर्भय !
कभी पूछती हू पुष्पो के
प्याले मे किसका यौवन
भर-भर पिला रहे मधुकर को
हे ऋतुपति ! हे धरा रमण !
कुज विहारी से कहती हूँ
कभी—मधुप ! निज मादक राग
इस कलिका के ढिग मत गाओ
नही जानती यह अनुराग !

वह निद्रा, सुख स्वप्न सर्जनि ! वे
एक साथ ही सब छूटे,
एक एक कर हृदय हार के
बंधन अब मेरे टूटे !

(१६१८)

(२४)

मकडी का मृदु मायाजाल
इस रसाल के सघन शाल में
जीवन शून्या के दृगजल का
पहने है शुचि मुक्तामाल !

आम्र मंजरी की मृदु वास,
विकसित किसलय, मधुमय हास
इस वसन्त में कितनो का है
अन्त कर चुका अचिर प्रकाश !
फैला छवि के बाहु मृणाल !

× × × ×

मा ! मेरे अरि को बल दो,
उसको यही कठिन फल दो,
जिससे सतत सतक रहूँ मैं
निज अवलम्ब अचंचल दो
सदा स्वेदमय रख यह भाल !

मुझे मृणाल तंतु में बांध
करना सफल न अरि की साध
कठिन निगड में बँधवाकर मा !
धीरज देना अटल, अगाध
निडर काल से कर विकराल !

(१६१६)

(२५)

अब न अगोचर रहा सुजान !
निशानाथ के प्रियवर सहचर !
अंधकार स्वप्नो के यान !
किसके पद की छाया हो तुम,
किसका करते हो अभिमान ?

तुम अदृश्य हो दृग अगम्य हो
किम छिपाये हो छविमान !
मेरे स्वागत भरे हृदय मे
प्रियतम ! आओ, पाओ स्थान !

जब मैं अपने नयन मूँदकर
करती प्रियतम के गुणगान,
तब किस पथ से आ तुम मुझको
देते हो नित दर्शन दान ?

जग अदृश्य कर मेरे दृग से
प्रियतम में लगवा ध्रुव ध्यान
तुम तुरत ही, हे अनंतगनि !
हो जाते हो अंतर्धान !

जब तुम मुझे गभीर गोद में
लेते हो, हे करुणावान !
मेरी छाया भी तब मेरा
पा सकती है नहीं प्रमाण !

प्रथम रश्मि का स्पर्शन कर नित,
स्वर्ण वस्त्र करके परिधान,
तुम आश्वासन देते हो प्रिय,
जग को उज्ज्वल और महान !

जब प्रदीप के सम्मुख मैं भी
गयी जलाने निज अज्ञान,
तब तुम उसके चरणों में थे
पाये हुए सुखद सम्मान !

अपने काले पट में मेरा
प्रिय ! लपेटकर मत्सर मान
रंग रहित होकर छिप रहना
मुझको भी बतला दो प्राण !

(१६१८)

(२६)

बताऊँ मैं कैसे सुंदर !
एक हूँ मैं तुमसे सब भाँति ?
जलद हूँ मैं, यदि तुम हो स्वाति,
तृषा तुम, यदि मैं चातक पाँति !
दिखा सकता है क्या शुचि सर
कभी अपना अनन्य समतल ?
कहो क्या दर्पण ही निर्मल
दिखा सकता निज मुख उज्ज्वल ?
कौन हो तुम उर के भीतर
बताऊँ मैं कैसे सुंदर ?
(१६१८)

(२७)

प्राण ! प्रेम के मानस में—
मुझे व्यजन सा हिलकर अविरल
शीतलता सरसाने दो,

अपने मुख म जग चिता क
श्रमकण सदय ! सुपान दो !
वशी सा सीधा बनकर,
तान सुनाकर श्रुति सुखकर,
मुझे प्रेम का नीरव मानस
सुन्दर ! शब्दित करन दो,
अपने गौरव के गीता से
प्रियतम ! उसको भरने दो !
नव वसन्त का विकसित वन,
मधुमय मन, मदु सुरभित तन,
एक कुसुम कलिका उस वन की,
मुझको भी कहलाने दो,
मधुबाला का हृदय मनोहर !
मुझको भी बहलाने दो !
(१९१८)

(२८)

स्नेह चाहिए सत्य सरल !
कैसा ऊँचा नीचा पथ है
मा ! उस सरिता का अविरल,
तेर गीतो को वह जिसमे
गाती है टल टल छल छल।
मैं भी उससे गीत सीखने
आज गयी थी उसके पास,
उसके कैसे मदुल भाव हैं ?
उज्ज्वल तन मन भी उज्ज्वल !
कितने छन्दो म लहराकर
गाती है वह तेर गीत ?
एक भाव मे अपने सुख दुख
तुझे सुनाती है कल कल !
मा ! उसको किसने बतलाया
उस अनन्त का पथ अनन्त ?
वह न कभी पीछे फिरती है,
कैसा होगा उसका बल ?
एक ग्रथि भी नही पडी है
उसके सरल मदुल उर म
उसका कसा कर्मयोग है
वह चचल है या अविचल ?
(१९१८)

(२९)

तजकर वसन विभूषण भार,
अश्रुकणा का हार पहनकर
आज करूगी मैं अभिसार !

यह नव मुकुलित लता भवन
गुंजित कुंज, विजन कानन
चिर उत्सुकता की छाया से
मौन मलिन हो रहा अपार!
हिला हिला निज मृदुल अधर
कहते कुछ तरु दल मर् मर,
अंधकार का अलसित अंचल
अब द्रुत ओढ़ेगा संसार!
दिखलायी देगा जग श्याम,
तृषित हो रहा मम हृद्धाम,
यह तृष्णा ही कौस्तुभ मणि बन
मुझे दिखावेगी वह द्वार,
बन उसका हृदयालंकार!
(१९१९)

(३०)

"मा! काले रँग का दुकूल नव
मुझको बनवा दो सुंदर
जिसमे सब कुछ छिप जाता है
रहती नही धूलि की डर,
जिसमे चिह्न नही पडते, जो
नही दीखता है श्रीहीन,
लोग नही तो हँसी करेंगे
देख मुझे मैली औ' दीन!"
"अरी अभी तू बच्ची ही है
कृष्णे! निरी अबोध, चपल,
मैं मलमल की साडी तुझको
बनवाऊँगी फेनोज्ज्वल,
दिखलायी दें जिसमे सबको
तेरे छोटे से भी अंक,
बार बार सहमे तू जिससे
रहे शुद्ध नित स्वच्छ, सशंक!"
(१९१८)

(३१)

कैसा नीरव मधुर राग यह
शिशु के कम्पित अधरो पर
सजनि! खिल रहा है रह रह!
किन स्वप्नो की स्मृति सुखमय
उदय हुई है यह अक्षय?
आँखमिचौनी सी अधरो मे
कौन खेलता है छिपकर
मृदु मुसकानो मे वह वह!

अलि! यह किसका सरल हृदय
अधरों पर विम्वित छविमय ?
यह किसकी जीवित छाया है ?
किस नव नाटक का उपक्रम ?
किन भावों का चित्र चरम ?
अये मदुल! यह किसके गीत
गाते हो तुम मधुर, पुनीत ?
प्रकट क्यों न कुछ कहते हो ? क्या
वे इतने हैं गुप्त, परम ?
यह कैसा परिहास, सुषम !
(१६१६)

(३२)

कर पुट में पुष्पांजलि धर
अश्रु नीर से मानस भर,
तेरा गौरव गाती हूँ मैं
अवनत वदना हो जब प्रात,
तुझको नित्य बुलाती हूँ मैं
सजल लोचना हो जब मात!
धारण कर तेरा ध्रुव ध्यान,
दृग सम्मुख ला मूर्ति महान,
नयन मूंद लेती हूँ जब मैं
तुझको निज मन में अनुमान,
गद्‌गद हो रो देती हूँ मैं
जब अति भावाकुल हो प्राण!
जब मेरा चिर सञ्चित प्यार
उमड उदधि - सा अतल अपार
अयन नीरव गूढ़ गम में
मुझे डुबाता है गम्भीर,
द्रोह मदन, मद का मल मेरा
धो देता है जब दृगनीर!
तब मेरे सुख का अनुमान
क्या तू कर सकती है प्राण!
कह? क्या तू भी गा सकती है
इतने सुख से अपने गीत ?
कभी देख सकती है तू भी
क्या अपनी यह मूर्ति पुनीत ?
मा! तेरा अति रम्य स्वरूप,
तेरे गुण गण अतुल, अनूप,
नयन नीरजा में तेरे भी
बसते हैं वन चोर अजान ?
क्या तुझमें भी लेते हैं ये
कभी स्नेह मधु सिंचित दान ?

सब शक्तिमत्ता तेरी
यह क्या नही जननि ! मेरी ?
यह मुझको ही तो तापो से
रक्षित रखती है दिन रात,
तुझे तभी तो मैं अपने से
दुबल बतलाती हूँ मात !
(१६१८)

(३३)

इस पीपल के तरु के नीचे
किसे खोजते हो खद्यात !
जहा मलिनता विचर रही है
जहा शू यता का है स्रोत ।
सदन लौटता हुआ प्रवासी
तप्त अश्रुजल अजलि दे,
पूत कर गया था जिस तरु को
सकल स्वाथ की निज बलि दे ।
क्षीण ज्योति मे निज किसका धन
ढूढ रहे हो कर तम मग,
किस अज्ञाता के जीवन को
ज्योतित हो कर रहे पतग ?
उस निर्दोषा का क्या जिसकी
वायु भक्षिणी वेणी मे
पडकर तडपा हाय ! प्रवासी
लुटे हुआ की श्रेणी मे !
कि तु शलभवर ! उसे न छेडो,
सोने दो उसको उस पार,
वही स्वप्न मे पा लेगी वह
अपने प्रियतम का उपहार !
जब जीवन के स्रोत सम्मिलित
हो जाते है किसी प्रकार,
उ ह नही तब बिछुडा सकता
सखे ! स्वय तारक करतार !
(१६१८)

(३४)

निझर की अजस्र झर-झर !
आओ, मन ! नव पाठ सीख लो
इस गिरि निझर के रव से
यह निमल जलस्रोत गिर रहा
गिरि के चरणो मे कब से !
अपनी वीणा मे स्वर भर,—

आओ, इसके पास बैठकर
यह अनन्त गाना गा लो,
इसका उज्ज्वल वेग देख लो,
तुम भी दृगजल बरसा लो!
निर्झर की निमय झर झर!
निबल! देख लो शीतल जल मे
अन्तर्हित इच्छा की आग,
भूरि भिन्नता मे अभिन्नता,
छिपा स्वार्थ मे सुखमय त्याग!
गा लो वीणा मे स्वर भर,—
जो न अश्रु अजलि देता हो
वह क्योंकर सुख पायेगा?
जिसे नही देना आता हो
वह किससे कैसे लेगा?
फिर गिरि निर्झर की झर-झर!
(१९१९)

(३५)

विलोडित सघन गगन मे आज,
विचर रहा है दुर्बल घन भी
धर कर भीमाकार,—
बना है कही—क्रुद्ध गजराज!
गजन सुनकर काँप रहा है
मा! कान्तार अपार—
चपल करती है पल पल गाज!

भिखारी बन सारग समाज
उधर पुकार रहा है पी, पी,
गूथ अश्रु जल हार—
जननि! करने तेरा शृङ्गार,
परीक्षा का कठोर ले व्याज!
अभी दयामयि! क्या न खुलेगा
तेरा मुक्तागार?—
छिपी मरुथल म जल की धार
वृष्टि के बाद नीलिमोद्धार?
(१९१८)

(३६)

कुमुद कला को लेने जब मैं
रोयी थी निज बचपन मे,
तब मेरी मा कहती थी वह
रहती है नभ के वन मे!

पर शिशुता वश नही सुना था
मैंने उसका समझाना,
तब मा ने था मुझे मनाया
दिखला शशि छवि दपण मे।

मैं तब कितनी अनभिज्ञा थी।
प्रतिबिम्बित शशि को पाकर
मुसकाती मै गाकर उससे
क्रीडा करती थी मन मे।

यही साचती थी शशि बाला
सचमुच मेरे कर मे है,
आनन्दित होती थी उसको
पा उस प्रतिमा पूजन मे।

धीरे-धीरे अब तू अपना
दिव्य द्वार है खोल रही,
पल पल अपनी प्रयत प्रभा है
प्रकटाती इस जीवन मे।

मा, वह दिन कब आवेगा जब
मैं तेरी छवि देखूगी,
जिसका यह प्रतिबिम्ब पडा है
जग के निमल दपण मे?

(१६१८)

(३७)

"मा, अलमोडे मे आये थे
जब राजर्षि विवेकानन्द,
तब मग मे मखमल बिछवाया,
दीपावलि की विपुल अमन्द,
बिना पांवडे पथ म क्या वे
जननि, नही चल सकते हैं?
दीपावलि क्यो की? क्या वे मा,
मन्द दृष्टि कुछ रखते हैं?"

"कृष्णे, स्वामीजी तो दुगम
मग मे चलते हैं निभय,
दिव्य दृष्टि हैं, कितने ही पथ
पार कर चुके कटकमय,
वह मखमल तो भक्ति भाव थे
फैले जनता के मन के,
स्वामीजी तो प्रभावान हैं,
वे प्रदीप थे पूजन के।"

(१६१८)

(३८)

उस विकसित, वासित वन म
कुसुमो के अस्फुट अधरो पर
सिहर रहा है कौन विकल,
अलि, चचल होकर पल पल !
यह किसका नादान हृदय
बहा चुका है बल सचय ?
तुहिन बिन्दु बन ढलक रही है
किसकी जीवन विजय धवल,
सजनि, मोह से हो निबल !
वह जागृति का जीवित गीत
अलि बाला गाती सुपुनीत,
गूज उठे इस मधु सेवा से
दुबल हृदयो मे नव बल,
जीवन का, जग का मगल !
(१६१६)

(३६)

लतिका के कम्पित अधरो से
यह कसा मदु अस्फुट गान
आज मन्द मारत म बहकर
खीच रहा है मेरा ध्यान !
किस प्रकाश का गूढ चित्र यह
आज धरित्री के पट पर
पत्रो की मायाविनि छाया
खीच रही है रह रहकर !
छबि की चपल अँगुलियो स छू
मेरे हृत तत्री के तार
कौन आज यह मादक अस्फुट
राग कर रहा है गुजार !
महानन्द का क्या ऐसा ही
नीरव होता है सगीत ?
मनोयोग की वीणा मेरी
मा, जिसन की आज पुनीत !
(१६१६)

(४०)

श्रूयते हि पुरा लोके—
विस्तत मरु थल के उस पार
जहा स्वप्न सजत श्रृङ्गार,
छबि के वन मे एक नाल मे
दो कलिकाएँ फूली हैं,

कलित कल्पना की डाली मे
जो अतीत से झूली है,
जो मधु, धूलि, सुगन्धि रहित हैं
दिव्य रूप करती विस्तार,
जहा स्वर्ण की आशा अलिनी
गाती है, कर स्वप्न विहार।

जब यह मरु रवि के आतप मे
तप्त छोडता है निश्वास,
उस छवि के वन मे ऊषा का
रहता है तब भी मृदु हास।
वह सोने की आशा अलिनी
करती है जब मृदु गुजार
तब सुख हँसता, औ' दुख गाता
विश्व दीखता एकाकार।

उस छवि के मजुल उपवन को
इस मरु से पथ जाता है,
पर मरीचिका से मोहित हो
मृग मग मे दुख पाता है।
बालू का प्रति कण इस मरु का
मेरु सदृश हो उच्च अपार
भीरु पथिक को भटकाता है
दिखला स्वर्ण सरित की धार।

(१९१९)

(४१)

मुझे सोचने दो सजनी—
एक विहग बालिका बनी
आज अकेली बैठी हू मैं
उस नीरव तरु के ऊपर,
जहा स्वप्न हैं रहे विचर।
पत्रो के मृदु अधरो से
जहाँ शून्य सगीत प्राण का
फूट रहा है अभय अमर।
ये पीले पीले प्रियतर
अतिम आभा के कृश कर
मेरा स्वर्ण सदन स्वप्नो का
छीन रहे हैं छिप छिपकर।
आओ शिव! आओ सुन्दर!
मुझे सौपने दो तुमको
अपनी वाछाए रज कण सी,
होने दो निश्चिन्त, निडर।
निज वियोग की बाँहो मे

मुझे राग को बँध जाने दो,
फिर चाह मेरा प्यार
मँझधार होवे दुस्तर !

(१९१९)

(४२)

मधुरिमा के मृदु हास !
किस अदृश्य गुण से तुम मुझको
खींच रहे हो पास ?
सुनायी देना है बस गीत,
बुलाने की यह कैसी रीति ?
हृदय के सुरभित साँस !
चपल पवन से छूकर मुझको
निबल कर, किस ओर,
झुलाते मे तुम कुसुम कठोर !
बहाते हो ? न कहीं है छोर !
बैठकर मैं इस पार,
शून्य बुदबुदों से सुनती हूँ
जीवन का संगीत,
तुम्हारा मौन निमन्त्रण, मीत !
विश्व का अंतिम गान पुनीत !
कहाँ हो कर्णाधार !
लघु लहरों मे खेल रही है
मेरी हलकी नाव,
न तुममे है प्रिय ! तनिक दुराव
जानते हो सब मन के भाव !

(१९१९)

(४३)

तरल तरंग रहित, अविचल,
सरसी के जल का समतल
नहीं दिखायी देता ज्यों माँ !
बिना हिलाये उसका जल,
अपनी ही छवि का प्रतिफल
प्रतिबिम्बित होकर अविरल,
दिखलायी देता ज्यों अविकल
उसके समतल मे निश्चल ।
वैसे ही तेरा संसार
अति अपार यह पारावार,
नहीं खोलता है माँ ! अपने
अद्भुत रत्नों का भण्डार,

प्रत्युत, अपने ही शृङ्गार,
(तुलसीमाला या मणिहार)
मा ! प्रतिबिम्बित होकर इसमे
दिखलायी देते निस्सार !
चला प्रेम की दृढ पतवार,
इसके जल को हिला अपार,
दिखलायी देती तब इसकी
विश्वमूर्ति अति सदय, उदार !

(१६१८)

(४४)

श्रवण चाहिए अलि ! केवल,—
केकी की मदु केका ध्वनि सुन,
चौंक, जग पडी थी मैं कल
मैंने देखा तो आगन मे
नाच रही थी वह अविरल।
जिसे देख वह नाच रही थी
मैं वह सब थी समझ गयी,
अह ! वह वर्षा ऋतु ! वे वारिद !
वह मेरा अविरल दृग जल !
मैंने नभ पर वक्र भृकुटि कर
मौन दृष्टि जब डाली थी,
तब अकरुण घन घोष हुआ था,
चमकी थी चपला चचल !
हाँ, प्यासी पीपी ध्वनि सुनकर
पिघल पडे थे तब घनश्याम,
पर न पपीहा तप्त हुआ, हा !
कैसा था वह विरहानल !
वह भी उसका ही प्यासा था
जिसका पथ मैं तकती थी,
श्रवण कर चुकी थी वह केकी
जिसका नूपुर नाद नवल।

(१६१८)

(४५)

आखो के अविरल जल को
मत रोको, मन ! मत रोको !
इस भीषण घन मे सुदर
छिपा हुआ है मुक्ताकर,
इसी अश्रुजल मे वह मुख
अवलोको, मन ! अवलोको !

इस गजन मे गौरव गान
मिला हुआ है, दो हे कान,
इसी चचला मे है बल,
मत चौंको, मन ! मत चौंको !
इसी मलिनता मे निमल
छिपा हुआ है शीतल जल,
इस तम मे ही है प्रियतम,
अवलोको, मन ! अबला को !
लुटने ही म है सयोग,
जुटन ही म मेल अमोघ,
कुण्ठित ही क्यो हो न कृपाण,
पर, भौंको, निमय भौंको !
(१९१८)

(४६)
तुम्हारे कोमल अग,
विधुर उर के तारो मे आज
गा रहे हैं क्या अस्फुट गीत ?
छिपे थे जो स्वर सहज पुनीत
विकल क्यो हुए आज निव्याज ?
निठुर वाणी का ढग !
शब्द का गौरव, स्वर का स्पश
हो गया है क्या विभव विहीन !
दिखाने को यह रूप नवीन
हो गये क्या निरथ आदश ?
आज अज्ञेय अनग !
धूम की खिली स्फीति सी धूम
ऊर्मियो म छबि की अनुकल
लीन हो जाऊँ मैं, सब भूल
दूर से अधर तुम्हारे चूम !
मुझे अज्ञात उमग,
बहाती है कब से, किस ओर !
कौन जाने ? पर मेरे नाथ !
न छूटे इस अतप्ति से साथ,
सदा ही रहे अविकसित भोर
स्वप्न मत हो यह मग !
(१९१९)

(४७)
तब फिर कैसा होगा मात !
धीरे धीरे पक्ष हीन जब
हो जावेगा यह द्विज दल,

डाल डाल में, डाल नाल में
उड न सकेगा उच्छल,
मुरझे फूला सा जब भू पर
गिर जायगा हो निवल
गा न सकेगा जब मधु स्वर म
प्रथम रश्मि का स्वागत कल ?

यह तो करता है उत्पात ! —
प्रति अनन्त नभ की नीरवता
यह शब्दित कर हरता है,
विमल वायु का कोमल मानस
उड-उड कम्पित करता है,
मेरे सुन्दर धनुष-बाण मे
समुद बैठने डरता है,
इस बुनाने पर भी तो यह
कभी न निकट विचरता है !

इसे नही यह अब तक ज्ञात —
जब तुम मुझको बैठाती हो
कटक दल के आसन मे,
उसे ग्रहण करती हूँ तब मैं
कितनी प्रमुदित हो मन म,
भूल फूल-से हो जाते हैं
स्व कर्तव्य के पालन मे,
क्या न बनी थी पुरी अयोध्या
पचवटी के भी वन म ?

(१९१८)

(४८)

नीरव, व्योम ! विश्व, नीरव !
झझावान ! प्रलय ! भूकम्प !
वह्नि ! बाढ ! उल्का ! दढ झम्प !
तृष्णा का वह भीषण ताण्डव
अ त हुआ है आज प्रचण्ड !
नीरव, व्योम ! विश्व, नीरव !

पश्चिम के रक्तार्णव मे
रक्त हस्त विद्वेष चक्र वह
अस्त हुआ है आज अखण्ड !
नीरव, व्योम ! विश्व, नीरव !

× × × × ×

एक तिमिर की गहरी आह,
द्रुत भर दे यह गत प्रवाह !
एक नाद का यही अन्त हो

डम डम डमरु बजे फिर प्रात !
उठो भ्रात ! अब जागो मात !
किन्नरी अमत शुभाशाएँ—
वह, प्राची से ज्योतिमय कर
बढ़ा रही है मगल, बात ?
सुखमय हो यह नवल प्रभात !
(११ नवम्बर, १६१६)

(४६)

छोटे ही की क्या पहचान ?
उषा उदय मे मधु बाला थी
गाती तेरा गौरव गान
वही मधुर स्वर चुरा आज मैं
रोने बैठी थी अनजान !

सौरभ वेणी खोल रहा था
तेरी महिमा की, पवमान,
वही आज अविरल आहो से
मैं फलाती थी,—हा ! प्राण !

कमल क्रोड मे कुमुद किरण ने
जिसे दिया था जीवन दान
मेरी आँखो मे अटका था
ओस बिन्दु वह अति नादान !

पलक युगल नवदल खुलते ही
उसके जीवन का अवसान
स्मृति पट पर अब तक अकित है,
उस अजान का वह बलिदान !

तेरी ही छबि प्रतिबिम्बित-सी
मुझको उसमे मिली महान
मा ! तू क्या लघु कण मे भी है ?
तब क्या मैं ही थी अनजान ?

(१६१८)

(५०)

चपल पलको के साथ
दबा मेरा दुबल दिल, प्राण !
सुन रहे हो क्या चूर्णित गीत ?
बसुरी बिखरी टूटी तान
तुम्हे क्या भाती है विपरीत !

निराली छबि के हाथ
पकडकर मेरी पीली बाँह,
खीचकर मुझको अपनी ओर
छोडते हैं यह कहा—अथाह !
भूलने का है क्या कुछ छोर ?

तुम्हीं जानो हे नाथ !
चमत्कार मेरे पथ में प्रात
आंख भटकाती है यह कौन !
धूलि की ढेरी में अज्ञात
छिपी है क्या मेरी जय मौन ?

नवाती हूँ मैं माथ,
विनत वदना नलिनी सी प्रात,
अश्रु जीवन का रख उपहार,
अरुण पद चिह्न तुम्हारे तात !
स्पृहा से भर अपनी सुकुमार,
खोल अपलक दृग द्वार !

(१६१६)

(५१)

मरु भी होगा नन्दन वन !
मा ! जब मैं तुझसे अजान थी
तब कैसा था मेरा मन !
कैसा नीरव लगता था तब
यह मृदु कलरव भरा भुवन !

विहग बालिका की बोली तब
विभव नहीं बरसाती थी,
केशर के शर मार गन्धवह
खिला न सकता था तन मन !

नहीं मधुकरी भी गाती थी
मधुर मधुभरी वीणा में,
जग को देख नहीं सकते थे
स्वावलम्ब के शत्रु नयन !

किन्तु हुआ जब तेरा मेरा
प्रथम रुचिरतम सुख सजोग,
स्वर्ण वर्ण तब कैसा सुन्दर
मेरा हुआ जननि, नूतन !

कितने मधुर स्वरों में गाये
विहगों ने गुण गौरव गीत,
तब कैसा खिल गया अखिल जग
नवल कमल का सा कानन !

क्षीण क्षपाकर की छाया में
छिपी हुई थी मैं पहिले,
नहीं जानती थी मा ! तेरी
प्रयत प्रभा की प्रथम किरण—

मुझको इतना गौरव देगी
छूकर मेरा म्लान वदन,
मेरी सोने की भावी के
भूषण हैं इतने भावन !

इतने कोमल कमल मधुप दल
मुझमे फूले पावेगा,
इतने पथ भूले दृग मेरा
अभी करेंगे अभिवादन !

मैं इतनो की सुख सामग्री
हूँगी जगती के मग में,
शोक मुक्त होगे द्रुत कितने
कोक मुझे कर अवलोकन !

(१९१८)

(५२)

अँगड़ाते तम मे
अलसित पलको से स्वर्ण स्वप्न नित
सजनि ! देखती हो तुम विस्मित,
नव, अलभ्य, अज्ञात !

आओ सुकुमारि विहग बाले !
अपने कलरव ही से कोमल
मेरे मधुर गान मे अविकल
सुमुखि ! देख लो दिव्य स्वप्न सा
जग का नव्य प्रभात !

है स्वर्ण नीड मेरा भी जग उपवन मे,
मैं खग सा फिरता नीरव भाव गगन मे,
उड मृदुल कल्पना पखो मे निर्जन मे,
चुगता हूँ गाने बिखरे तृण मे, कण मे !

कल कण्ठिनि ! निज कलरव मे भर,
अपने कवि के गीत मनोहर
फैला आओ वन वन, घर घर,
नाचें तृण, तरु, पात !

(१९१९)

(५३)

तिलक ! हा ! भाल तिलक !
छुड़ा दिया किस अकरुण कर ने
यह शोभालकार !!
जाति की आशा का सचार !
पुरातन वेदो की झकार !

अश्रु नयन निशि के आँगन मे
बिखर गया अनजान
आज गीता रहस्य का गान !
कोटि त्रय कण्ठो का प्रिय प्राण !

कर्मयोग की टीका अविकल—
कहाँ गया माँ की गोदी का
हाय ! केसरी बाल !

स्वगति मे गगा सा अविचल !
देश की धूलि से भरा लाल !
(१९१८)

(५४)

सखी ! सूखी बिदाल
सम्मुख बहती है वह नीरव,
निसलिला कंकाल !
गिरी, बिखरी स्मृति सी प्राचीन,
अतप्त, अकथ वियोग सी दीन !
अचिर लालसा सी निबल वह,
वैभव - सी कगाल !
समय के पद चिह्नो - सी क्षीण
स्वप्न ससृति सी आज विलीन !
चिक्नी चुपडी उपल राशि वह
नीली, पीली, लाल
बाल लीला सी मेरी आज
खो चुकी निमलता का साज !
अह, उन कोमल पद चिह्नो से
कैसी अस्फुट चाल
दबाती है उर को तत्काल
कहाँ सूखी है सखि ! बिदाल ?
(१९२०)

(५५)

तेरा अदभुत है व्यापार !
तुझको कब से बुला रही थी
मैं पुकार कर बारम्बार,
विकसित वदना, वासित वसना
बनी हुई, सज शत शृङ्गार !
स्वर्ण सौध शुचि बनवाये थे
मैंने कितने उच्च, अपार,
विप्र बालको ने गाये थे
तेरे गुण गण जहाँ उदार !
अगणित मुद्रा दान दिये औ'
किया सभी कुछ शिष्टाचार
किन्तु वहाँ मा ! नही सुनायी
तूने निज नूपुर झकार !
जब नन्दन की चम्पा कलिका
वहलाती थी मैं सुकुमार
नहीं कान की थी तब मैंने
मधु बाला की भी गुजार !

मेरा सौरभ चुरा-चुराकर
मारत करता था सचार,
किन्तु वहाँ भी तूने मुझको
नही बनाया उर का हार!
हाय! अन्त म अवनत वदना,
अश्रु लोचना हो लाचार,
अतिशय दीना, विभव विहीना
हो जब मैंने सब प्रकार,
क्षीण छपाकर की छाया मे
नलिनी बन, की करुण पुकार,
मा! तब तूने मुझे दिखायी
अपनी ज्योतित छटा अपार!
(१६१८)

(५६)

मेरे इस अन्तिम विलास मे,
—जब कि भग्न आशाएँ मेरी
एकत्रित हो आज,
सजाती हैं मुझको निर्व्याज,
(नवलबल नव सुख, नूतन साज!)
—जब कि पराजय पागलपन बन
करती है उपहास—
कहाँ है प्रेम? कहा विश्वास?
आत्म बलिदान?—किसे है प्यास?
कौन कौन तुम इस मदिरा के
कनक हास से भीत
गा रही हो यह वेसुर गीत—
'कठिन कर्तव्य!'—किसे है प्रीत?
वहा, स्वण सिंहासन मेरा
सज्जित है उस ओर
जहाँ मेरी आशा की भोर
जल रही है ज्वाला बन घोर!
पश्चिम की अन्तिम किरणो मे—
बना रही है, वह मेरा पथ
पतित पदो की धूल,
भग्न मन विरह वेदना भूल
जहा ओढेगा दग्ध दुकूल!
(१६१६)

(५७)

हृदय के बन्दी तार
मुक्त कर रहे है मादन से
भाव सहज सुकुमार,

सुदामा के लघु 'चाउँर चार',
भीलनी का जूठा उपहार !
आज उगा था कलापूर्ण वह
दिव्य चक्र सा चाद
नील यमुना का कल् कल नाद
सरस दधि के मटको का स्वाद !
व्रजभाषा का 'प्रमी', कुज की
'दई ! ढीठ गुजार !'
सूर के सगीनो का सार,
दिव्य गीता रहस्य का द्वार !
सखी ! द्रौपदी के दुकूल सा
अप्रमेय, अज्ञात,
चोर, कौस्तुभ कठोर विख्यात,
नही सुनता हा ? तब से बात !
(१९२०)

(५८)

प्रथम रश्मि का आना रगिणि !
तूने कैसे पहचाना ?
कहाँ कहाँ हे बाल विहगिनि !
पाया तूने यह गाना ?
सोयी थी तू स्वप्न नीड मे
पखो के सुख मे छिपकर,
ऊँघ रहे थे, घूम द्वार पर,
प्रहरी से जुगनू नाना,
शशि किरणो से उतर-उतरकर
भू पर कामरूप नभचर
चूम नवल कलियो का मदु मुख
सिखा रहे थे मुसकाना,
स्नेह हीन तारो के दीपक,
श्वास शून्य थे तरु के पात,
विचर रहे थे स्वप्न अवनि मे
तम ने था मण्डप ताना,
कूक उठी सहसा तरुवासिनि !
गा तू स्वागत का गाना,
किसने तुझको अतयामिनि !
बतलाया उसका आना ?
निकल सष्टि के अध गम से
छाया तन बहु छाया हीन,
चक्र रच रहे थे खल निशिचर
चला कुहुक, टोना माना,

छिपा रही थी मुख शशि बाला
निशि के श्रम से हो श्रीहीन,
कमल क्रोड मे बंदी था अलि
कोक शोक से दीवाना,
मूर्छित थीं इंद्रियां, स्तब्ध जग,
जड चेतन सब एकाकार,
शून्य विश्व के उर मे केवल
साँसो का आना-जाना,
तूने ही पहले बहु दर्शिनि!
गाया जागृति का गाना,
श्री सुख सौरभ का नभचारिणि!
गूँथ दिया ताना-बाना!
निराकार तम मानो सहसा
ज्योति पुंज मे हो साकार,
बदल गया द्रुत जगत जाल मे
धर कर नाम रूप नाना,
सिहर उठे पुलकित हो द्रुम दल
सुप्त समीरण हुआ अधीर,
झलका हास कुसुम अधरो पर,
हिल मोती का-सा दाना,
खुले पलक, फैली सुवर्ण छवि,
खिली सुरभि, डोले मधु बाल,
स्पंदन कम्पन औ नव जीवन
सीखा जग ने अपनाना,
प्रथम रश्मि का आना, रंगिणि,
तूने कैसे पहचाना?
कहा कहाँ, हे बाल विहंगिनि!
पाया यह स्वर्गिक गाना?
(१९१९)

(५६)

गहन कानन!
व्रत से पोषित विघ्न सदृश पावस नद गर्जन
करता है गतिरोध—
नियति-सा कुंचित, कोमल दशन!
प्रतिहिंसा-सी, कायरता-सी,
वह पीछे करवाल
चमकती है कैसी विकराल?
हँस रहा हो ज्यो असमय भीषण!
छोड अंतिम निःश्वास—
वायु गति से हो नद के पार
गुरु स्वामी का कर उपकार
जा रहा है, वह मति! उस पार

आज प्रभु भक्त प्रहृत, लोहित तन !
करुण नयनो की नीरव कोर
डाल निश्चल स्वामी की ओर,
अध हिनहिना, अश्रु जल छोड,
दगो मे मूद चरम छबि पावन !
—"कहा हाय ! सुख दुख के सहचर !
चेतक ! चेतक ! मुझे छाडकर—
कहाँ चल दिये— तुम असमय पर—
हा————————मेरे रण भूषण ! ! !

(१६२०)

(६०)

इस विस्तत हॉस्टल मे
मैं सुनती हूँ
मेरा भी है सखि ! छोटा सा रूम,
जहा मेरी आकाक्षा सूम
गूजती है प्रतिपल को तूम !
इन असख्य मदु कण्ठ स्वरो मे,
मिला हुआ है अलि ! मेरा भी
कम्पित स्वर अति दीन,
रुँधी दुबलता की ध्वनि क्षीण
डूबती है जिनमे हो लीन !
शून्य हृदय दुर्विघ्न गेंद से
ठुकराकर अविराम,
साथ, मैं भी जीवन का काम
गोल पाती हूँ अति अभिराम !

× × × ×

उठो सजनि ! घण्टे की ध्वनि मे
गूज रहा है, सुनो, हमारा
प्रिय कर्तव्य कठोर !
जाति सेवा की उज्ज्वल भोर
बढाती है वह, कर इस ओर !

(१६२०)

(६१)

यह दुख कैसे प्रकटाऊँ !
अभी बालिका हूँ मैं तो
मैं तुझको क्या पहनाऊँ ?
मेरे कैसे गहने होंगे
जिनको ले सम्मुख आऊँ ?
तो क्या अस्फुट कलियो ही की
माला पहना दू तुझको ?

किंतु उन्हें भी देवि! गूथकर
कैसे सेवा में लाऊँ!

जब मैं ऋतुपति के उपवन में
मा के संग थी गयी प्रभात,
मैंने पूछा—'मा! पूजा को
मैं भी माला निर्माऊँ?'

मा ने सूची मुझे नहीं दी
कहा—'अभी तू बच्ची है।'
अश्रुहार ही पहना तब क्या
मैं चरणों को नहलाऊँ?

नहीं,—न जाने इनमें क्या है
जो दिल को है दुखा रहा,—
मा! क्या डालूँ गले और तब?
क्या बाँहों को लिपटाऊँ।

हा, ले, मेरी 'हार' यही है,
यही तुझे पहनाऊँगी,
दोनों बाँहें गले डालकर
मैं अंचल में छिप जाऊँ!

(१९१८)

(६२)

दिवानाथ का विपुल विभव जब
मेरी आहा से तत्काल
भस्म हो चुका था पश्चिम में
वह्नि ज्वाल बन एक कराल।

किस प्रकार तब अंधकारमय
हौले थी हो गयी मही!
तस्करिणी सी तन्द्रा सबकी
सुधि थी चुपके छीन रही।

चित्र चित्रिता सी विलोक यह,
मैं भय से हो गयी विकल,
कहाँ छिपाऊँ निज मणि मुक्ता
यही सोचती थी केवल!

किंतु खड़ी होकर तब मैंने
उनको ऊपर उठा त्वरित,
बाँध वायु के बाल जाल से,
नभ में लटका दिया मुदित।

निश्चिन्ता हो खडी खड़ी मैं
उन्हें देखती थी अविरल
तुलसी आँगन के दीपक में
जब तुझको देखा उज्ज्वल।

मन्द मन्द तू मुसकाती थी
दीप शिखा में खिल मंजुल,

फैल रही थी तेरी आभा
तुलसी अचल में मंजुल!

शलभ पुंज अर्पण करता था
तुझे प्राण अपने अविरत,
मुनि कथाओं से वह जिसका
था महत्व सुन चुका महत।

पर मैं उसके आत्मत्याग को
अधिक न देख सकी उस बार
होले मेरा हृदय हो गया
हाय! मन तब हाहाकार।

मैंने निज मणि मुक्ताओं को
मारुत में माँगा उठकर,
पर न उड़ पा सकी जननि! मैं
अर्पण करने को तुझ पर।

व्याकुल हो निज करुण कथा तब
तुझे सुनाने मैं आयी,
पर तेरे ढिग आ, यह मैंने
स्वयं गूँजती सी पायी!

रोयी मैं निज मुक्ताओं को
तेरे सम्मुख हा हा कर,
अपना दारुण दुख भी मैंने
तुझे सुनाया गा गाकर!

शलभ पुंज के सदृश हाय! मैं
जला न उसको सकी यहाँ,
अपने कृत्यों की छाया-सी
मैं अविरत ही काँप रही!

अपनी ही मणियों की आभा
मैं न और कर सकी सहन,
अधिक न रोयी मैं फिर उनको,
मूँद लिये मैंने लोचन!

सुन तब मुझ मणि विहीना
दीना पर अति करुणा की,
मूक तिमिर की भाँति मुझे भी
निज चरणों की छाया दी।

तब समझा न पूरा मुझको
कहाँ क्यों वह और क्या,
जो तारों की मोती बाला
कम्प रही थी मन बदना?

[illegible] [illegible] में सुन
जगा दिया क्या उस [illegible]?
[illegible] [illegible] [illegible] [illegible]
छोड़ दिया उसका [illegible]?

मंद मंद मुसका मन मे तू,
बोली तब उनसे सप्रेम—
'वह निर्दोषा तो माया थी
उसका ऐसा ही है नम।

'जब तुम फूलों मे फूले थे
मुझसे मिलने के पहले,
अब तुम उसमे ही भूले थे,
उसमे ही थे मुग्ध, मिले।'

(१६१८)

(६३)

'मिला मिलाकर सुंदर स्वर
अपनी वीणा मे मृदुतर,
इन थोडे मे गीतो को मैं
गा लूगी जब तेरे मात।'
—यही सोचती थी मैं नित्य,
'ऊषा मे स्नेहांजलि भर,
मोह, मदन, मद की बलि कर,
तब क्या गाकर खेलूगी मैं?
निज जीवन की प्रमुदित प्रात,
मंद-मंद कर मजुल नत्य।'

तू मुझको अति चिंतित जान,
समझ निपट नादान, अजान
बोली थी—'मैं बतलाऊँगी,
तुझको अपने गीत पुनीत।'
नूपुर ध्वनि कर श्रुति सुखकर।
पर अब करती हूँ अनुमान
मुझमे कितना था अज्ञान।
जीवन भर भी मा! मैं पूरे
गा न सकूगी तेरे गीत,
अपनी वाणी मे स्वर भर।

(१६१६)

ग्रन्थि

[प्रथम प्रकाशन-वर्ष १९२९]

विज्ञापन

ग्रंथि मैंने सन् १९२० के जनवरी मास में लिखी थी। उच्छ्वास की तरह इसका कथा-भाग भी बहुत थोड़ा है, पर शायद स्पष्ट उससे अधिक। छन्द तुकान्त नहीं। अतुकान्त का सौन्दर्य-स्वरूप तब मेरे हृदय में प्रस्फुटित नहीं हो पाया था। अपने साहित्य में उन दिनों जैसा ढंग प्रचलित था, उसी के अनुरूप मैंने भी किसी तरह अपनी इस कहानी को यह बेतुका लिबास पहना दिया। पर हिन्दी में बड़ी ही मनोहर तथा परिपूर्ण प्राग हीर सृष्टि हो गई है। ग्रन्थि के प्रेमियों के सम्मुख मैं भविष्य में अतुकान्त अंगों की अधिक सुगठित प्रतिमा प्रस्तुत करने की आशा रखता हूँ।

१७ मई,
१९२९

सुमित्रानन्दन पंत

तरणि के ही सग तरल तरग म
तरणि डूबी थी हमारी ताल मे,
सान्ध्य निस्वन स गहन जल गभ म
था हमारा विश्व तन्मय हो गया।
बुदबुदे जिन चपल लहरो मे प्रथम
गा रह थे राग जीवन का प्रचिर,
अल्प पल, उनके प्रबल उत्थान मे
हृदय की लहरें हमारी सा गयीं।

+ × + +

जब विमूछित नीद से मैं था जगा
(कौन जान, किस तरह ?) पीयूष सा
एक कोमल समव्यथित निश्वास था
पुनर्जीवन - सा मुझे तब दे रहा।
मधुप बाला का मधुर मधु मुग्ध राग
पद्मदल मे सपुटित था हो चुका,
काम्य उपवन मे प्रथम जब था खिला
प्रणय पद्य कुमुद कली के साथ ही।

शीश रख मेरा सुकोमल जाँघ पर,
शशि कला सी एक बाला व्यग्र हो
देखती थी म्लान मुख मेरा, अचल,
सदय, भीरु, अधीर, चिन्तित दृष्टि से।
वह उपायविहीन, पर आशामयी,
स्नेह दृष्टि अनन्य कोमल हृदय की
करुण मगल कामना से थी भरी,
हाय! केवल मात्र साधन दीन की!

नित्य ही मानव तरगो मे अतल
मग्न होते हैं कई, पर इस तरह
अमत की जिवित लहर की बाँह मे
जगत मे कितने अभी झले भला ?
चपल जीवन की तरी भी, विश्व मे
डूबती ही है, भँवर - सी घूमकर,
मग्न होकर किन्तु सबको सहज ही
नाव मिलती है नही यो दूसरी।

इदु पर, उस इदु मुख पर, साथ ही
थे पडे मेरे नयन, जो उदय स,
लाज से रक्तिम हुए थे,—पूव को
पूव था, पर वह द्वितीय अपूव था!
बाल रजनी सी अलक थी डोलती
भ्रमित हो शशि के वदन के बीच मे,
अचल, रेखाकित कभी थी कर रही
प्रमुखता मुख की सुछबि के काव्य म।

एक पल, मेरे प्रिया के दृग पलक
थे उठे ऊपर, सहज नीचे गिरे,
चपलता न इस विकम्पित पुलक से
दृढ किया मानो प्रणय सम्बन्ध था।
लाज की मादक सुरा सी लालिमा
फैल गालो मे, नवीन गुलाब-से,
छलकती थी बाढ सी सौदय की
अधखुले सस्मित गढो से, सीप-से।
इन गढो मे—रूप के आवत से—
घूम फिर कर, नाव से किसके नयन
हैं नही डूबे, भटक कर, अटक कर,
भार से दब कर तरुण सौदय के ?

जब प्रणय का प्रथम परिचय मूकता
दे चुकी थी हृदय को, तब यत्न से
बैठकर मैंने निकट ही, शात ही,
विनत वाणी मे प्रिया से यो कहा—

'सलिल शोभे ! जो पतित, आहत भ्रमर
सदय हो तुमने लगाया हृदय से,
एक तरल तरग से उसको बचा
दूसरी मे क्यो डुबाती हो पुन ?
प्रेम कण्टक से अचानक विद्ध हो
जो सुमन तरु से विलग है हो चुका,
निज दया से द्रवित उर मे स्थान दे
क्या न सरस विकाश दोगी तुम उसे ?
मलिन उर छूकर तिमिर का ग्रहण कर
कनक आभा मे खिलाते हैं कमल,
प्रिय बिना तम शेष मेरे हृदय की
प्रणय कलिका की तुम्ही प्रिय काति हो।

'यह विलम्ब ! कठोर हृदये ! मग्न को
बालुका भी क्या बचाती है नही ?
निठुर का मुझको भरोसा है बडा,
गिरि शिलाएँ ही अभय आधार हैं।
म्लान तम मे ही कलाधर की कला
कौमुदी बन कीर्ति पाती है धवल
दीनता के ही विकम्पित पात्र म
दान बढकर छलकता है प्रीति से।

'प्रिय ! निराश्रिति की कठिन बाँह नही
शिथिल पडती हैं प्रलोभन भार स,
अल्पता की सकुचित आँखें सदा
उमडती हैं अल्प भी अपनाव से।

'दयानिल मे विपुल पुलकित हो सहज
सरल उपकृति का सजल मानस, प्रिये!
क्षीण करुणालोक का भी लोक को
है वहत प्रतिबिम्ब दिखलाता सदा।

'शरद के निर्मल तिमिर की ओट में
नव मिलन के पलक दल सा झूमता
कौन मादक कर मुझे है छू रहा
प्रिय! तुम्हारी मूकता की आड से?
'यह अनोखी रीति है क्या प्रेम की,
जो अपांगो से अधिक है देखता,
दूर होकर और बढ़ता है, तथा
वारि पीकर पूछता है घर सदा?''

इन्दु की छवि मे, तिमिर के गर्भ मे,
अनिल की ध्वनि मे, सलिल की वीचि म,
एक उत्सुकता विचरती थी, सरल
सुमन की स्मिति मे, लता के अधर मे।
निज पलक, मेरी विकलता, साथ ही
अवनि से, उर से मृगेक्षिणि ने उठा,
एक पल, निज स्नेह श्यामल दृष्टि से
स्निग्ध कर दी दृष्टि मेरी दीप सी।

'नाथ!' वह, अतिशय मधुरता से दबे
सरस स्वर मे, सुमुखि थी सकुचा गयी,
उस अनूठे सूत्र ही मे हृदय के
भाव सारे भर दिये तावीज-से।

देख रति ने मोतियो की लूट यह,
मृदुल गालो पर सुमुखि के लाज से
लाख सी दी त्वरित लगवा, बन्द कर
अधर विद्रुम द्वार अपने कोष के।
वह स्पृहा सकोच का सुन्दर समर
अधर कम्पित कर, कपोलो पर युगल
एक दुर्बल लालिमा मे था बहा,
(विश्व विजयी प्रेम! औ' यह भीरुता!)

सुभग लगता है गुलाब सहज सदा,
क्या उपमाय का पुन कहना भला?
लालिमा ही से नही क्या टपकती
सेज की चिर सरसता, सुकुमारता?
पद नखो को गिन समय के भार को
जो घटाती थी भुलाकर, अवनितल
खुरच कर, वह जड पलो की धृष्टता
थी वहा मानो छिपाना चाहती।

प्रथम केवल मोतियो को हस जो
तरसता था, अब उस तर सलिल म
कमलिनी के साथ क्रीडा की सुखद
लालसा पल पल विकल थी कर रही।
प्रेमियों का कोश सा कोमल हृदय
कोटि कर सौंदय के कृश हाथ मे
सहज ही दब कर, नवल आसक्ति स
फूल उठता है पुन उन्मत्त हो!

रसिक वाचक! कामनाओ के चपल,
समुत्सुक व्याकुल पगो स प्रेम की
कृपण वीथी मे विचर कर, कुशल से
कौन लौटा है हृदय को साथ ला?

एक प्रात —

एक प्रात स्वण कर रवि के समुद
निज सुपरिचित वदन से थे खेलते,
वणमुक्ता चूम कोई गाल पर
प्रतिफलित थे ओस बूदो स धवल।
बैठ वातायन निकट, उत्सुक नयन
देखती थी प्रियतमा उद्यान को,
पूछता था कुशल फूलो स जहाँ
मधुर स्वर म मधुप, सुख स फूल कर।

भीग मालिन की तरल जलधार से
एक मधुकर मूल मे गिर कर, सजल
भग्न आशा स छदो को पोछ कर
पुन उडने को विकल था हो रहा।
मन्द मारुत से वसन्ती झूम कर
झुक रही थी तरल तिरछी पाँति मे
ललित लोल उमग सी लावण्य की
मानिनी सी, पीन यौवन भार से।

तूल सी मार्जार बाला सामने
निरत थी निज बाल क्रीडा मे—कभी
उछलती थी, फिर दुबक कर ताकती,
घूमती थी साथ फिर फिर पूछ के।
मन्द मुसकाती, चपल भ्रू वीचि मे
हृदय को प्रतिपल डबाती, आज भी
सगिनी सखियाँ वहाँ आयी, सहज
हास औ परिहास निरता, दोलिता।

देख कर अपनी सखी को पलक सो
ध्यान लग्ना एक ने सकेत कर,
यो वयस्या से दबे स्वर मे कहा—
'मग्न है नव कमल वन मे हसिनी!'

लख कर माजार वाला को पुन
दूसरी बोली—'अरी, ये, खेल अब
खो चुके हैं विभव सब, तारुण्य के
मुग्ध, तिरछे, चपल नयनो के लिए।

'प्रथम, भय से मीन के लघु बाल जो
थे छिप रहते गहन जल में, तरल
ऊर्मियो के साथ क्रीडा की उन्हें
लालसा अब है विकल करन लगी।
कमल पर जो चारु दो खजन, प्रथम
पख फडकाना नही थे जानते,
चपन चोखी चोट कर अब पख की
वे विकल करने लगे हैं भ्रमर को।

सकुचित थी प्रान जो नव क्यारियाँ
दुपहरी की, वे अरुण की ज्योति मे
फूलने अब हैं लगी, उन्मत्त कर
लोचनो को निज सुरा सी कान्ति स।'

सहम सखियो के निठुर आक्षेप से,
सुभ्रुवो के साथ मन को खीचती,
वह मगी सी चकित आँखो को फिरा
थी छिपाना चाहती अपनी दशा।
तरुणता की और मुख चिर सहचरी
चतुरता, जो तरुणियो के हृदय को
है बना देती अभेद्य रहस्य-सा,
वह किसे है सतत भटकाती नही?

'सजनि! आज विलम्ब सा कैसे हुआ?'
प्रियतमा बोली, कही क्या मधुकरी
बँध गयी थी नव नलिन की गोद मे,
मुग्ध हो मधु से, सुछबि से, सुरभि से।

'कुज के वा कुटिल काटो से कही
बिंध गयी थी विहगिनी? अथवा कही
सरल शफरी फँस गयी थी सुमन सी
तरल छबि के अलक के से जाल मे?'
साझ के नव जलद मे रवि रश्मि सी
रसिकता जिसके सुसस्मित वदन से
झलकती थी, वह सखी बोली पुन
सजल जलधर सी सरस, मृदु भाषिणी—

एक दिन स न्या समय मैंने सखी!
एक सुखमय दृश्य देखा,—एक अलि
पद्मिनी का बिम्ब सर म देख कर
डूबता है सलिल मे मधुपान को।

'बाँधती है एक मृदुल मृणालिनी
मत्त बाल गयंद को कृश सूत्र से,
गूथ मुक्ता हार एक मरालिनी
हंसपति को दे रही उपहार है।
दखता है निर्निमेष नयन चकोर
युगल चन्द्रों को,—सजनि! उस दृश्य की
चारु चर्चा न हमारा प्रिय समय
हर लिया उस हंसिनी के हृदय-सा।'

'याद आती है मुझे अपनी कथा,'
तीसरी बोली, 'बहुत दिन से बँधे
हृदय मे सधाम, गोपन से पला
प्रेम सम्प्रति फूटना है चाहता!
'पूर्णता स्मृतिहीन है, सद्प्रेम की
मूक वाणी एक अनुभव है सही,
बिम्ब भी मिलता नही सौंदर्य का,
घाव भी पर हाय! मिटता है नही।
'वायु विस्मित गूढ छाया म, तथा
सरल तुतले बिम्ब मे भी वारि के
ये नयन डूब अनेकों बार हैं
काव्य के प्रांगण पर भी है रुके।
'स्तब्ध रजनी म डरे, कौतुक भरे,
तारकों से भी लडे हैं कमल पर
ढुलकती लघु ओस बूँदें भी कई
हैं इन्होंने प्रात पकडी पलक म।
'साँझ को, उडते शरद के जलद से
सीख सहृदयता, उसी के साथ ये
लीन भी हैं हो चुके आकाश मे,
विहग बाला की व्यथा को खोजन।

'यह नही, जल वीचियो मे शशि कला
अलि! इन्होने किलकती देखी न हो,
शशि करो से कौमुदी को छीनकर
कुमुदिनी को मार भी ये हैं चुके।
'किंतु जिस मौनी मनोहर मूर्ति को
एक दिन देखा इन्होने, ये उसे
खोजते हैं नित्य तब से अश्रु से
हास से, उच्छ्वास से, अपनाव स।

'सजनि! पतले पत्र से चित्रित जलद
व्योम मे छाये हुए थे, तनिक भी
वृष्टि की आशा न थी, मैं पवन के
गीत अचल मे मधुर थी भर रही।

'जब, अचानक, अनिल की छबि में पला
एक जल कण, जलद शिशु सा, पलक पर
आ पड़ा सुकुमारता - सा, गान - सा
चाह सा, सुधि सा, सगुन-सा, स्वप्न सा।

'सुन चुकी हूँ विहग बाला के रँगे
गीत मैं तब से अरुण की ज्योति में,
हूँ विलोक चुकी उषा की अधखुली
लालिमामय सजल आँखें, कमल सी।
'तृषित चातक को तरसता देखकर
ले चुकी हूँ स्वाति जल का स्वाद भी,
सरल, उड़ते बुलबुलों को पकड़कर
करुण क्रन्दन भी श्रवण हूँ कर चुकी।
'देख इन्द्रधनुष अनको बार मैं
भ्रू युगल मटका चुकी हूँ मेनु - से,
देख मेले का थिरकता केतु - सा।
नृत्य भी हूँ कर चुकी एकान्त में,
'पकड़ उड़ते दीप वर्षा काल के,
रख हथेली पर, अँधेरी रात को,
मैं नियति की रेख भी हूँ पढ़ चुकी।
सजनि! उनकी खोजती लघु ज्योति में

'सुरसरी को प्रथम जिस जल बिन्दु ने
सरणि सागर की दिखायी थी, उसे
खोजने को भी बहा मैं हूँ चुकी
एक लघु नादान आँसू मोम - सा।
हरित प्रिय छोटे पगों से जगत की
वेदिका को पार करता देखकर
एक प्रात, दूब से भी मैं बहिन!
पग सहस्र मिला चुकी हूँ ओस से।
'दीप नीचे, म्लान मूच्छित तिमिर के
करुण अंचल को टटोल, छिपी हुई
दग्ध शलभों की विनीरव वेदना
धो चुकी हूँ आँसुओं की बाढ़ से।
'विरहिणी की कल्पना कर, एक दिन,
एक पीले पात में अपनी दशा
विविध यत्नों से सुलाकर मैं उसे
बार - बार लगा चुकी हूँ हृदय से।

'स्वप्न के सस्मित अधर पर, नींद में
एक बार किसी अपरिचित साँस का
अर्ध चुम्बन छोड़, मैं झट चौंक कर
जग पड़ी हूँ अनिल पीड़ित लहर - सी।

'हूँ विलोक चुकी उजेले भाग्य में
सखि! अचानक तारकों से टूटते,
करुण कोमल भेद भी हूँ पढ चुकी
मूक उर के, अश्रु अपलक नयन के।

'किंतु उस कण की सजल सुधि में हृदय
हूँ सदा तब मैं लपेटी, स्वर्ग के
उस अमत, अस्फुट, अलौकिक स्पर्श से
तार गुंजित कर चुकी हूँ प्रणय का।
'बालकों के हास से उसका चपल
चित्र अंकित कर चुकी हूँ हृदय में,
दे चुकी हूँ भेंट तारों से बडे
अश्रु-कण, शशि रश्मियों में गूथकर।
'मधुकरी की मधुभरी वीणा चुरा
गीत गाती हूँ कुसुम सुकुमार के,
सुरसरी की धार में हूँ ढूढती
शक्ति प्रियतम की अमित उपकारिणी।'

सुन प्रणय के इस अनूठे काव्य को
हृदय से लिपटा उसे, पहली सखी
तरुण अनुभव में तुले स्वर में उसे
मर्म समझाने लगी यों प्रेम का।

'निपट अनभिज्ञा अभी तुम हो बहिन!
प्रेमिका का गर्व रखती हो वृथा,
अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित हो न क्या
तरुणता तुमसे लडी अभिलाष सी?
'मत्त गज से पुरुष को जिसने नहीं
बाँध डाला दृष्टि के कृश सूत्र में,
बस, बिना सोचे, अचानक, प्रेम को
हृदय जिसने हो न अर्पण कर सका,
'प्रेम ही का नाम जप, जिसने नहीं
रात्रि के पल हो गिने, प्रतिशब्द से
चौंक कर, उत्सुक नयन जिसने उधर
हो न देखा,—प्यार क्या उसने किया?

'मन्द चलकर, रुक अचानक, अधखुले
चपल पलकों से हृदय प्राणेश का
गुदगुदाया हो नहीं जिसने कभी
तरुणता का गर्व क्या उसने किया?
'हास सरिता में सरोजों-से खिले
गाल के गहरे गढ़ों का, मधुर से
चुम्बनों में हो नहीं जिसने भरा,
उस खिली चम्पा कली ने क्या किया?

'देश के इतिहास के-से बहिन! तुम
वत्त कारे गिन रही हो', पुन वह
प्रेमिका बोली,—'सरस मेरी कथा
हाय! सब तुमने मिला दी धूल मे।'

अनिल कल्पित कमल कोमल गात को
अक भरकर, रसिक! किसकी चाह की
बाह तप्त हुई? तुहिन जल से हसित
किसलयो को चूम किसका मन बुझा?
इस तरह प्रतिदिवस सखियो मे हुई
प्रेम चर्चा सुन, मधुर मुसकान से
भाग लेती, वह सरलता की कला
हर रही थी कुमुद की प्रिय कुटिलता।

अब इधर—

अब इधर मेरी दशा उस समय की
श्रवण कर लें,—कठिन कण्टक कुसुम के
अधिक कोमल गात से बिंध, किस तरह
अलग जग के वृत्त से था हो गया।
नियति ने ही निज कुटिल कर से, सुखद
गोद मेरी लाड की थी छीन ली,
बाल्य में ही हो गयी थी लुप्त हा!
मातृ अचल की अभय छाया मुझे।

पेटिका दुहरी पिता के यत्न की
पचदश मे खो, स्व मातुल के यहाँ
उन दिनो मैं था, कृपण से दान सी
दैव से जब प्रेमिका मुझको मिली।
निठुर विधि ने स्वग की वह कीर्ति भी
तोडकर माता-पिता की गोद से
डाल दी थी बालका के हास-सी
अति सरल अनभिज्ञता के अधर पर।

एक सुखमय सूत्र मे कुछ काल को
गूथने ही के लिए क्या भाग्य ने
इस तरह हमको छुडाया वृत्त से?
वामता होती सहायक है कभी।
गूढ भावी! मलिन तम के गभ मे
स्वण छबि का भार रहता है छिपा!
सलिल कण के पतन मे भी गगन से,
भव्य मुक्ता गुप्त रहता है कही।

हाँ तरणि थी मग्न जब मेरी हुई
(सरम मोती के लिए ही?) उस समय
छलाता था वक्ष मेरा स्फीति मे,
मुग्ध विस्मय से, अतप्त मुलाव सा!

लग्न यौवन के अधीर दबाव से
हा सुपीन उभार सा हल्का हृदय
प्रति अजान खिंचाव से सौंदय के
ढुलकता था अमित सुख के स्वग को।

बाल्य की विस्मयभरी आखें, मदुल
कल्पना की कृश लटों मे उलझ के
रूप की सुकुमार कलिका के निकट
झूम, मँडराने लगी थी घूमकर।
चपल पलकों मे छिपे सौन्दय के
सहज दबकर, हृदय मादकता मिली
गुदगुदी के स्निग्ध पुलकित स्पश को
समुत्सुक होने लगा था प्रतिदिवस।

दृष्टि पथ मे दूर अस्फुट प्यास सी
खेलती थी एक रजत मरीचिका,
शरद के बिखरे सुनहले जलद सी
बदलती थी रूप आशा निरतर।
अह, सुरा का बुलबुला यौवन, धवल
चन्द्रिका के अधर पर अटका हुआ,
हृदय को किस सूक्ष्मता के छोर तक
जलद-सा है सहज ले जाता उडा!

प्रात-सा जो दृश्य जीवन का नया
था खुला पहिले सुनहले स्पश मे,
साँझ की मूर्च्छित प्रभा के पत्र पर
करण उपसहार हा! उसका मिला!!
गिर पडा वह स्वप्न मेरा अश्रु-सा
पलक दल को छू अचानक, कमल के
अक मे अटकातुहिन-जल अनिल की
एक हलकी थपथपी से सो गया!

वह स्पृहा जो ऊर्मि-सी उठ, इन्दु से
प्रणय गाथा बिम्बिता कर, प्राण को
भेजती सवाद थी, सहसा निठुर
नियति न निज कुटिल पद से कुचल दी।
हा! अभय भवितव्यते! किस प्रलय के
घोर तम से जन्म तेरा है हुआ!
वात, उल्का, वज्र औ' भूकम्प को
कूट, क्या तेरा हृदय विधि ने गढा?

तू सरल कोमल कुसुम दल म कहाँ
है छिपी रहती कठिन कण्टक बनी?
शान्त नभ मे कब, कहाँ है छोडती,
कौन जाने, तू छिपे तूफान को!

स्वर्ण मृग तेरा पिशाचिनि ! हर चुका
इष्ट कितनों के हृदय का है अहा !
भटकते कितने नहीं हैं मुग्ध हो
देख रजत मरीचिका तेरी सदा !

हाय ! मेरे सामने ही प्रणय का
ग्रंथि बन्धन हो गया, वह नव कमल
मधुप-सा मेरा हृदय लेकर, किसी
अन्य मानस का विभूषण हो गया !
पाणि ! कोमल पाणि ! निज बन्धूक की
मृदु हथेली में सरल मेरा हृदय
भूल से यदि ले लिया था, तो मुझे
क्यों न वह लौटा दिया तुमने पुनः ?

प्रणय की पतली अँगुलियाँ क्या किसी
गान से विधि ने गढ़ी ? जो हृदय को,
याद आते ही, विकल संगीत में
बदल देती हैं भुलाकर, मुग्ध कर !
याद है मुझको अभी वह जड समय
ब्याह के दिन जब विकल दुर्बल हृदय
अश्रुओं से तारकों को विजन में
गिन रहा था, व्यस्त हो, उद्भ्रान्त हो !

हाय रे मानव हृदय ! तुझसे जहाँ
वज्र भी भयभीत होता है, वहीं
देख तेरी मृदुलता तिल सुमन भी
संकुचित हो सहम जाता है अहा !
ग्रंथि बन्धन !—इस सुनहली ग्रंथि में
स्वर्ग की औ' विश्व की मंगलमयी
जो अनोखी चाह, जो उन्मत्त धन
है छिपा, वह एक है, अनमोल है !

शैवलिनि ! जाओ, मिलो तुम सिन्धु से,
अनिल ! आलिंगन करो तुम गगन को,
चन्द्रिके ! चूमो तरंगों के अधर,
उडुगणो ! गाओ, पवन वीणा बजा !
पर हृदय ! सब भाँति तू कंगाल है,
उठ, किसी निर्जन विपिन में बैठकर
अश्रुओं की बाढ़ में अपनी बिकी
भग्न भावी को डुबा दे आँख-सी !

देख रोता है चकोर इधर वहाँ
तरसता है तृषित चातक वारि को
वह मधुप बिंधकर तड़पता है, यही
नियम है संसार का रो हृदय रो !

शिथिल दर्शन! ज्ञान जृम्भा के अलस!
वृद्ध अनुभव की सिकोड़! वृथा मुझे
सान्त्वना मत दो, विरस उपदेश के
उपल मत मारो, न बहलाओ हृदय।

व्यथ मेरा धन न यों छीनो,—सजल
वेदना, यह प्रणय की दी वेदना,
मूक तम, वाचाल नग्न शिशिर, दवी
शून्य गर्जन, आह, मादक सुधि अटल,
और भी, हा, प्रियतमा के रूप का
भार, ध्रुव से अश्रु आँखों में, चुभे
कण्टकों का हार, कुछ उद्गार जो
बादलों-से उमड़ते हैं हृदय में।

छि सरल सौन्दर्य! तुम सचमुच बड़े
निठुर औ' नादान हो! सुकुमार, यों
पलक दल में, तारकों में, अधर में
खेलकर तुम कर रहे हो हाय! क्या?
जानते हो क्या? सुकोमल गाल पर
कृश अँगुलियों पर कटी कटि पर छिपे,
तुम मिचौनी खेलकर कितना गहन
घाव करते हो सुमन से हृदय में!

औ' अकेले चिबुक तिल से, कुछ उठी
कुछ गिरी भ्रू वीचि से, कुछ कुछ खुली
नयनता से कुछ रुकी मुसकान से
छीनते किस भाँति हो तुम धर्य को!
मुकुल के भीतर उषा की रश्मि से
जन्म पा, मधु की मधुरता, धूलि की
मृदुलता, कटु कण्टकों की प्रखरता,
मुग्धता ली मधुप की तुमने चुरा।

और भोले प्रेम! क्या तुम हो बने
वेदना के विकल हाथों से? जहाँ
झूमते गज से विचरते हो, वहीं
आह है, उन्माद है, उत्ताप है!
पर नहीं, तुम चपल हो, अज्ञान हो,
हृदय है, मस्तिष्क रखते हो नहीं,
बस, बिना सोचे, हृदय को छीनकर,
सौंप देते हो अपरिचित हाथ में!

स्मृति! यदपि तुम प्रणय की पदचिह्न हो,
पर निरी हो बालिका—तुम हृदय को
गुदगुदाती हो तरल जल बिम्ब सी
तैरती हो, बाल क्रीडा कर सदा।

नियति ! तुम निर्दोष और अछूत हो,
सहज ही सुकुमार, चकई या तुम्हें
खेल अति प्रिय है, सतत कृश सूत्र से
तुम फिराती हो जगत को समय - सा !

मंजु छाया के विपिन में पूर्णिमा
सजल पत्रों से टपकती है जहाँ,
विचरती हो वेश प्रतिपल बदलकर,
सुघर मोती से पदों से ओस के।
भ्रमत आशा ! चिर दुखी की सहचरी
नित नयी ! मिति सी, मनोरम रूप सी,
विभव वंचित, तृषित, लालायित नयन
देखते हैं सदय मुख तेरा सदा।

देवि ! ऊषा के खिले उद्यान में
सुरभि वेणी में भ्रमर को गूँथकर,
रेणु की साड़ी पहन, औं' तुहिन का
मुकुट रख, तुम खोलती हो मुकुल को !
मेघ - से उन्माद ! तुम स्वर्गीय हो,
कुमुद-कर से जन्म पा, तुम मधुप के
गीत पीकर मत्त रहते हो सदा,
मौन औं' अनिमेष निर्जन पुष्प - से !

आह !—सूखे आँसुओं की कल्पना,
कोहरे सी, मुक्त मग में झूमकर,
दग्ध उर का भार हर, तुम जलद सी
बरसती हो स्वच्छ हलकी शांति में !
अश्रु—हे अनमोल मोती दृष्टि के !
नयन के नादान शिशु ! इस विश्व में
आँख हैं सौंदर्य जितना देखती
प्रतनु ! तुम उससे मनोरम हो कहीं।

अश्रु !—दिल की गूढ़ कविता के सरल
औ' सलोने भाव ! माला की तरह
विकल पल में पलक जपते हैं तुम्हें
तुम हृदय के घाव धोते हो सदा।
वेदने ! तुम विश्व की कृश दृष्टि हो,
तुम महा संगीत, नीरव हास हो,
है तुम्हारा हृदय माखन का बना,
आँसुओं का खेल भाता है तुम्हें !

वेदना !—कैसा करुण उद्गार है !
वेदना ही है अखिल ब्रह्माण्ड यह,
तुहिन में, तृण में उपल में, लहर में
तारकों में, व्योम में है वेदना !

वेदना !—कितना विशद यह रूप है !
यह अँधेरे हृदय की दीपक शिखा !
रूप की अंतिम छटा ! औ' विश्व की
अगम चरम अवधि, क्षितिज की परिधि सी !

कौन दोषी है ? यही तो न्याय है !
वह मधुप बिंधकर तड़पता है, उधर
दग्ध चातक तरसता है—विश्व का
नियम है यह, रो, अभागे हृदय ! रो !!

× × × ×

कौन वह बिछुड़े दिलों की दुर्दशा
पोंछ सकता है ? दृगों की बाढ़ में
विकल, बिखरे, बुदबुदों की बूड़ती
मौन आहें हाथ ! कौन समझ सका ?
शून्य जीवन के अकेले पृष्ठ पर
विरह !—अहह, कराहते इस शब्द को
किस कुलिश की तीक्ष्ण, चुभती नोक से
निठुर विधि ने अश्रुओं से है लिखा !!

प्रेम वंचित—

प्रेम वंचित को तथा कंगाल को
है कहाँ आश्रय ? विरह की वह्नि में
भस्म होकर हृदय की दुर्बल दशा
हो गयी परिणत विरति सी शक्ति में।
सुहृद्वर ! कंगाल, कृश कंकाल-सा,
भैरवी से भी सुरीला है अहा !
किस गहनता के अधर से फूटकर
फैलते हैं शून्य स्वर इसके सदा !

आज मैं कंगाल हूँ—क्या यह प्रथम
आज मैंने ही कहा ? जो हृदय ! तुम
बह रहे हो मुक्त हलके मोद में
भूलकर दुर्दैव के गुरु भार को !
मैं अकेला विपिन में बैठा हुआ
सोचता हूँ विजनता से हृदय को,
और उसकी भेदती कृश दृष्टि से
ढूँढ़ता हूँ विश्व के उन्माद को।

विश्व,—यह कैसी मनोहर भूल है !
मधुर दुर्बलता !—कई छोटी बड़ी
अल्पताएँ जोड़, लीला के लिए,
यह निराला खेल क्या विधि ने रचा ?

कौन सी ऐसी परम वह वस्तु है
भटकते हैं मनुजगण जिसके लिए ?
कौन सा ऐसा चरम सौंदय है
खींचता है जो जगत के हृदय को ?

ग्राह, उस सर्वोच्च पद की कल्पना
विश्व का कैसा उपन्न उन्माद है !
यह विशाल महत्त्व कितना रिक्त है,
विपुलता कितनी अबल, असहाय है !
कौन सी ऐसी निरापद है दशा
लोग अभ्युत्थान कहते हैं जिसे ?
पतन इसमे कौन-सा अभिशाप है
जो कँपाता है जगत के धैय को ?

निपट नग्न निरीहता को छोडकर
कौन कर सकता मनोरथ पूर्ति है ?
कौन अज्ञ दरिद्रता से अधिकतर
शक्तिमय है, श्रेष्ठ है सम्पन्न है ?
सौख्य ? यह तो साधना का शत्रु है,
रिक्त, कुण्ठित क्षीणता है शक्ति की,
हा ! अलस के इस अपाहज स्वांग मे
हो गयी क्यो मग्न जग की गहनता !

ज्ञान ? यह तो इन्द्रियो की भ्रान्ति है,
शून्य जृम्भा मात्र निद्रित बुद्धि की,
जुगनुओ की ज्योति से वन मे विजन,
जन्म पीपल के तले इसका हुआ।
वेदना के ही सुरीले हाथ से
है बना यह विश्व, इसका परम पद
वेदना का ही मनोहर रूप है,
वेदना का ही स्वतन्त्र विनोद है।

वेदना से भी निरापद क्या अहा !
और कोई शरण है ससार में ?
वेदना से भी अधिक निर्मय तथा
निष्कपट साम्राज्य है क्या स्वर्ग का ?
कर्म के किस जटिल विस्तृत जाल मे
है गुथी ब्रह्माण्ड की यह कल्पना !
योग बल का अटल आसन है अडा
वेदना के किस गहन स्तर मे अहा !

आज मैं सब भाँति सुख सम्पन्न हूँ
वेदना के इस मनोरम विपिन मे,
विजन छाया मे द्रुमो की योग सी
विचरती है आज मेरी वेदना !

विपुल कुंजो की सघनता मे छिपी
ऊँघती है नींद सी मेरी स्पृहा,
ललित लतिका के विकम्पित अधर मे
कापती है आज मेरी कल्पना !

ओस - जल से सजल मेरे अश्रु है
पलक दल मे दूब के बिखरे पड़े !
पवन पीले पात मे मेरा विरह
है खिलाता दलित मुरझे फूल सा !
सुमन दल मे फूट, पागल सी, अखिल
प्रणय की स्मृति हँस रही है मुकुल मे
वास है अज्ञात भावी कर रही
आज मेरी द्रौपदी सी परवशा !

गव सा गिर उच्च निर्झर स्रोत से
स्वप्न सुख मेरा शिलामय हृदय मे
घोष भीषण कर रहा है वज्र सा,
वात सा, भूकम्प सा, उत्पात सा !
तारका के अचल पलको से विपुल
मौन विस्मय छीनकर मेरा पतन
निर्निमेष विलोकता है विश्व की
भीरुता को चन्द्रमा की ज्योति मे !

तिमिर के अज्ञात अचल म छिपी
झूमती है भ्रांति मेरी भ्रमर सी,
चंद्रिका की लहर मे है खेलती
भग्न आशा आज शत-शत खण्ड हो !
तिमिर !—यह क्या विश्व का उन्माद है,
जो छिपाता है प्रकृति के रूप को ?
या किसी की यह विनीरव आह है
खोजती है जो प्रलय की राह को !

या किसी के प्रेम-वंचित पलक की
मूक जड़ता है ? पवन मे विचरकर,
पूछती है जो सितारों से सतत—
'प्रिय ! तुम्हारी नींद किसने छीन ली ?'
यह किसी के रुदन का सूखा हुआ
सिंधु है क्या ? जो दुखों की बाढ़ मे
सृष्टि की सत्ता डुबाने के लिए
उमड़ता है एक नीरव लहर मे !

आह, यह किसका अँधेरा भाग्य है ?
प्रलय छाया सा अनन्त विषाद सा !
कौन मेरे कल्पना के विपिन मे
पागलो-सा यह अभय है घूमता ?

हृदय ! यह क्या दग्ध तेरा चित्र है ?
धूम ही है शेष अब जिसमे रहा !
इस पवित्र दुकूल से तू दैव का
वदन ढँकने के लिए क्या व्यग्र है ?

× × × ×

विज्ञ वाचक ! और भी उपकरण है
शेष मेरे पास दुख का इस समय,
किन्तु मैं सब भाति सुख सम्पन्न हूँ
वेदना के इस मनोहर विपिन म।

पतन के नीले अधर पर भाग्य का
जो निठुर उपहास मैंने आपको
आज दिखलाया, उस किसकी दया
कर सकी है मन्द ? क्या लोकेश की ?
कुटिल भावी के अँधेरे कूप मे
और कितने है अभी आँसू छिपे,—
छलकती आखें उ हे प्रिय ! फिर कभी
भेंट देंगी कर-कमल म आपके।

पल्लव

[प्रथम प्रकाशन वर्ष १९२६]

विज्ञापन

महाकवि कालिदास ने, रघुवश के प्रारम्भ मे, अपने लिए 'तितीर्षुर्दुस्तर मोहादुडुपेनास्मि सागरम्' लिखकर, हम लोगो के लिए विनम्रता प्रदशन करने का द्वार एकदम ही बन्द कर दिया। और हिन्दी के कवियो ने महात्मा सूरदास के समय से जिस प्रकार—सूर से शशि, शशि से उडगन, उडगन से खद्योत—उन्नति का अटूट क्रम रखा है, उनके अनुसार भी हम लोग चमकीले रेत के कणो तथा बुझती हुई चिनगारियो से अवश्य ही कही आगे बढ गये होगे। ऐसी दशा मे समझ मे नही आता कि अपने को प्रभात का टिमटिमाता तारा, दीपक का फूल, सील खायी हुई गन्धक की दियासलाई आदि क्या बतलाया जाय! अत नम्रता दिखलाने को अपने लिए असख्य बार अल्पाति लिखना साहित्य की दृष्टि से, राम नाम प्रचार करने के लिए एक लक्ष राम नामो की पुस्तक छपवाकर बिना मूल्य वितरण करने के प्रयत्न के समान हास्यास्पद तथा व्यथ जानकर मैंने इस विषय मे चुप रहना ही ठीक समझा, 'मौन स्वीकृति-लक्षणम्' कहा भी है। मुझे आशा है कि वैज्ञानिक लोग शीघ्र ही अणु परमाणुओ को और भी छोटे-छोटे खण्डो मे विभक्त कर, एव 'अब के कवि' के लिए नवीन उपमा का आविष्कार कर, हिन्दी साहित्य को इस उपमा की परिक्षीणता (बकरप्सी) से उबारेंगे।

इसमे सन्देह नही कि अपनी वाणी को सजधज के साथ पुस्तक रूप मे प्रकाशित होते देखकर मन मे बडी प्रसन्नता होती है। ऐसे अवसर पर ज्ञान गम्भीर मुद्रा बनाकर हृदय के इस बालोचित स्वभाव की ओर उपेक्षापूर्ण विरक्ति अथवा उदासीनता दिखलाना बडा कठोर जान पडता है। अतएव भीतर ही भीतर आनन्द को पीकर होठ पोछकर लोगो के सामने निकलने की अधिक आवश्यकता न समझकर, मैं प्रसन्नतापूवक अपने इन 'पल्लवों' को हिन्दी के कर पल्लवो मे अपण करता हूँ। इन्हे मैं 'पत्र पुष्पम्' नही कह सकता, ये केवल पल्लव हैं—

'न पत्रो का मधुर सगीत,
न पुष्पो का रस राग पराग।'

बालको की तरह कौतूहलवश मैंने जो यह कागज की नाव साहित्य-समुद्र मे छोड दी है, इसका मेरे चापल्य के सिवा और क्या कारण हो सकता है? देखू यह बडी-बडी नावो के बीच मे कैसी लगती है! गिरिधर कविराय की तरह इस नय्या मेरी तनिक सी को 'चहुँदिसि के भँवरा का भय नही' यह तो अपने ही हलकेपन के कारण डूबने से बच जायेगी, न महापुरुषो के ही इसके पास आने की सम्भावना है, जो मुझे 'पाँव पखारने' की आवश्यकता पडे। इसमे पार जाने की बात कैसी?

यह तो केवल मनोविनोद की वस्तु है। यदि वह भी न कर सकी तो फिर सोचूगा। प्रस्तु—

पल्लव में मैंने १९१९ से १९२५ तक की, प्रत्येक वर्ष की दो दो तीन तीन कृतियाँ रख दी हैं, जिनमें से अधिकांश 'सरस्वती' तथा 'श्री शारदा' में समय समय पर प्रकाशित हो चुकी हैं। प्रत्येक कविता के नीचे उनका रचना काल—वर्ष तथा मास—दे दिया है। छाया, स्वप्न, बालापन, नक्षत्र बादल इन कविताओं में बीच में, एक दो बार कहीं कहीं परिवर्तन परिवर्धन भी हुआ है।

पुस्तक के आरम्भ में एक भूमिका भी जोड दी है, मेरी इच्छा थी उसमें 'काव्य कला' के आभ्यन्तरिक रूप पर भी एक साधारण दृष्टिपात किया जाय, पर विस्तार भय से ऐसा न हो सका, काव्य के बाह्य रूप पर ही थोडा बहुत लिखकर सन्तोष करना पडा।

मैंने अपनी रचनाओं में, कारणवश, जहाँ तहाँ व्याकरण की लोह की कडियाँ तोडी हैं, यहाँ कुछ उसके विषय में भी लिख देना उचित समझता हूँ। मुझे अर्थ के अनुसार ही शब्दों को स्त्रीलिंग पुल्लिंग मानना अधिक उपयुक्त लगता है। जो शब्द केवल अकारान्त इकारान्त के अनुसार ही पुल्लिंग अथवा स्त्रीलिंग हो गये हैं, और जिनमें लिंग का अर्थ के साथ सामंजस्य नहीं मिलता, उन शब्दों का ठीक ठीक चित्र ही आँखों के सामने नहीं उतरता, और कविता में उनका प्रयोग करते समय कल्पना कुण्ठित सी हो जाती है। वास्तव में जो शब्द स्वस्थ तथा परिपूर्ण क्षणों में बने हुए होते हैं उनमें भाव तथा स्वर का पूर्ण सामंजस्य मिलता है, और कविता में ऐसे ही शब्दों की आवश्यकता भी पडती है। मुझे तो ऐसा जान पडता है कि यदि संस्कृत का 'देवता' शब्द हिन्दी में आकर पुल्लिंग न हो गया होता तो स्वयं देवता ही हिन्दी कविता के विरुद्ध हो गये होते।

'प्रभात' और प्रभात के पर्यायवाची शब्दों का चित्र मेरे सामने स्त्रीलिंग में ही आता है चेष्टा करने पर भी मैं कविता में उनका प्रयोग पुल्लिंग में नहीं कर सकता।

> 'सौ सौ साँसों में पत्रों की
> उमडी हिमजल सस्मित भोर', के बदले
> 'उमडा हिमजल सस्मित भोर',—तथा
> रुधिर में फूट पडी रविमान
> पल्लवों की यह सजल प्रभात' के बदले
> 'रुधिर से फूट पडा रविमान
> पल्लवों का यह सजल प्रभात

इसी प्रकार अन्य स्थानों में भी 'प्रभात' आदि को पुल्लिंग मान लेने पर मेरे सामने प्रभात का सारा जादू स्वर्ण, श्री सौरभ सुकुमारता आदि नष्ट भ्रष्ट हो जाते हैं उनका चित्र ही नहीं उतरता।

'बूँद कम्पन' आदि शब्दों को मैं उभय लिंगों में प्रयुक्त करता हूँ। जहाँ छोटी सी बूँद हो वहाँ 'स्त्रीलिंग' जहाँ बडी हो वहाँ पुल्लिंग, जहाँ हल्की सी हृदय की कम्पन हो वहाँ 'स्त्रीलिंग'—जहाँ जोर जोर से धडकने का भाव हो वहाँ पुल्लिंग।

'पल्लव' शीर्षक पहली ही कविता मे 'मरुताकाश' समास आ
मुझे 'मरुदाकाश' ऐसा लगा जैसे आकाश म धूल भर गयी हो या
घिर आये हो—स्वच्छ आकाश देखने ही को नही मिलता, इसलिए
उसके बदले मरुताकाश ही लिखना उचित समझा।

'बालिका मेरी मनोरम मित्र थी' के बदले मेरा मनोरम
थी' लिखना मुझे श्रुतिमधुर नही लगता। इसी प्रकार—

'हा! मेरे बचपन से कितने
बिखर गये जग के शृगार,
जिनकी अविकच दुर्बलता ही
थी उसकी शोभालकार
जिनकी निर्भयता विभूति थी,
सहज सरलता शिष्टाचार
औ जिनकी अबोध पावनता
थी जग के मगल की द्वार।

उपर्युक्त पद्य मे शोभालकार' तथा 'द्वार' का लिंग 'दुर्बलता' तथा
'पावनता' के अनुसार ही लेना मुझे श्रुतिमधुर जान पडता है, इसी
प्रकार अन्यत्र भी।

कही कही अन्त्यानुप्रास मिलाने के लिए आवश्यकतानुसार 'कण'
'गण' 'मरण' आदि णकारान्त शब्दो को नकारान्त कर दिया है। यथा—

'एक छवि के असख्य उडगन
एक ही सब मे स्पन्दन।'

यहाँ दूसरा चरण पहले म छोटा होने के कारण 'उडगन' के 'न' पर दीर्घ
काल तक स्वर ठहरता है, अत 'न' के स्थान पर 'ण' रख देने से कर्कशता
आ जाती है। पुन

'अचिर म चिर का अन्वेषन
विश्व का तत्त्वपूर्ण दर्शन

मे 'अन्वेषन' के स्थान पर 'अन्वेपण' कर देने स दूसरा चरण फीका पड
जाता है।

ऐसे ही 'कर दे मन्त्रमुग्ध नत फन' मे 'फण' का उद्धत 'ण' मन्त्रमुग्ध
हो विनम्र 'न' बन जाता है और 'छेड कर शस्त्रो की झकार' इस चरण
की झकार', 'झीगुरो की झीनी झनकार' म झीनी बनकर झनकार,
इसी प्रकार अन्यत्र भी। भौंहो से मुझे भोहो मे अधिक स्वाभाविकता
मिलती है, 'भौंहे' ऐसी जान पडती हैं जैसे उनके बाल-बाल क्रोध
स कठोर रूप धारण कर खडे हो गये हो। 'नवल कलियो के घोर झूम'
इस चरण म 'घोरे' शब्द प्रान्तिक होने पर भी उसके 'झूम' के घोरे
आ जाने स भौंरे की गूज अधिक स्पष्ट सुनायी पडती है इसलिए उसका
प्रयोग कर दिया है। अन्यत्र भी इसी प्रकार कही कही मैंने शब्दो को
अपनी आवश्यकतानुसार बदल लिया है। अत म व्याकरण स अपनी इस
ईडिओसिनक्रेसी (स्वभाव-वैषम्य) के लिए क्षमा प्रार्थना कर, मैं बिदा
होता हूँ।

३ म्योर रोड प्रयाग
१ माघ १६२६

सुमित्रानदन पत

(क)

हिन्दी कविता की नीहारिका, सम्प्रति अपने प्रेमियो के तरुण उत्साह के तीव्र ताप से प्रगति पा साहित्याकाश मे अत्यन्त वेग से घूम रही है, समय समय पर जो छोटे मोटे तारक पिण्ड उससे टूट पडते हैं, वे अभी ऐसी शक्ति तथा प्रकाश सगृहीत नही कर पाये हैं कि अपनी ही ज्योति मे अपने लिए नियमित पथ खोज सकें, जिसमे हमारे ज्योतिषी उनकी गतिविधि पर निश्चित सिद्धात निर्धारित कर लें, ऐसी दशा मे कहा नही जा सकता कि यह अस्तव्यस्त केन्द्र परिधिहीन द्रवित वाष्प पिण्ड निकट भविष्य मे किस स्वस्थ स्वरूप मे घनीभूत होगा, कैसा आकार प्रकार ग्रहण करेगा, हमारे सूय की कैसी प्रभा होगी, चाँद की कैसी सुधा, हमारे प्रभात म कितना सोना होगा, रात मे कितनी चादी !

पर मनुष्य के ज्ञान का विकास पदार्थों की अज्ञात परिधि पर निभर न रहकर अपने ही परिचय के अतरिक्ष के भीतर परिपूणता प्राप्त करता जाता है, जब तक वह पृथ्वी की गोलाई तक नही पहुचा था, वह उसे चिपटी मानकर भी चलता रहा हम अपने प्रौढ पगो के लिए नहीं ठहरते, घुटनो के बल चलने के नियमों को सीखकर ही आगे बढते हैं। सच तो यह कि हम भूमिका बाँधना नही छोड सकते।

अब ब्रजभाषा और खडी बोली के बीच जीवन सग्राम का युग बीत गया, उन दिनो मैं साहित्य का ककहरा भी नही जानता था। उस सुकुमार मा के गभ से जो यह ओजस्विनी कन्या पैदा हुई है, आज सवत्र इसी की छटा है, इसकी वाणी मे विद्युत है। हिन्दी ने अब तुतलाना छोड दिया, वह 'पिय' को 'प्रिय' कहने लगी है। उसका किशोर कण्ठ फूट गया, अस्फुट अग कट छँट गय, उनकी अस्पष्टता म एक स्पष्ट स्वरूप की झलक आ गयी, वक्ष विशाल तथा उन्नत हो गया, पदो की चचलता दृष्टि मे आ गयी, वह विपुल विस्तत हो गयी, हृदय में नवीन भावनाएँ, नवीन कल्पनाएँ उठने लगी ज्ञान की परिधि बढ गयी चारो दिशाओ से त्रिविध समीर के झोके उसके चित्त को रोमाचित करने लगे, उसे चाद मे नवीन सौन्दय, मेघ मे नवीन गजन सुनायी देने लगा। वह अज्ञात यौवन कलिका अब विकसित हो गयी, प्रभात के सूय ने उसका उज्ज्वल मुख चूम उसे अजस्र आशीर्वाद दे दिया चारो ओर से भौंरे आकर उसे नव सन्देश सुनाने लगे, उसके सौरभ को वायुमण्डल इधर उधर वहन करने लग गया, विश्वजननी प्रकृति ने उसके भाल पर स्वय अपने हाथ से केशर का सुहाग टीका लगा दिया, उसके प्राणो मे अक्षय मधु भर दिया है।

उस व्रज की बाँसुरी मे अमृत था नन्दन की मधु ऋतु थी, उसमे रसिक श्याम के प्रेम की फूक थी, उसके जादू से सूरसागर लहरा उठा, मिठास स तुलसी मानस[1] उमड चला। आज भी वह कुछ हाथो की तूबी बनी हुई है, जो प्राचीन जीण शीण खण्डहरो के टूटे फूटे कोना तथा गन्दे छिद्रो स दो एक दन्तहीन बूढे सापा को जगा, उनका अंतिम जीवन नत्य दिखला, साहित्य की टोकरी भरन तथा प्रवीण कलाकुशल बाजीगर कहलाने की चेष्टा कर रहे हैं, दस बरस बाद, ये प्राणहीन केंचुलिया, शायद, इनके आम्न झाडने के काम आयेंगी। लेकिन यह अपवाद ही खडी बोली की विजय का प्रमाण है। अब भारत के कृष्ण ने मुरली छोड पाचजन्य उठा लिया, सुप्त देश की सुप्त वाणी जाग्रत हो उठी, खडी बोली उस जागति की शख ध्वनि है। व्रज भाषा मे नीद की मिठास थी, इसमे जागृति का स्पन्दन, उसम रात्रि की अकमण्य स्वप्नमय ज्योत्स्ना, इसम दिवस का सशब्द कार्यव्यग्र प्रकाश।

व्रज भाषा के मोम म भक्ति का पवित्र चित्र, उसके माखन म शृगार की कोमल करुण मूर्ति खूब उतरी है। वह सुख सम्पन्न भारत के हृत्तन्त्री की झकार है, उसके स्वर मे शान्ति प्रेम, करुणा है। देश की तत्कालीन मानसिक और भौतिक शान्ति ही व्रज भाषा के रूप मे बदल गयी। वह था सम्राट अकबर, जहाँगीर तथा शाहजहा का सुव्यवस्थित राज्यकाल, जिनकी निद्वन्द्व छत्रछाया मे उनकी शान्तिप्रियता, कला-प्रेम तथा शासन प्रबन्ध रूपी विपुल खाद्य सामग्री पाकर चिरकाल से पीडित भारत एक बार फिर विविध ऐश्वर्यों मे लहलहा उठा। राजा महाराजाओ ने स्वय अपने हाथो स सगीत, शिल्प चित्र तथा काव्य कला के मूलो को सीचा कलाविदो को तरह तरह से प्रोत्साहित किया। सगीत की आकाश लता अनन्त झकारो मे खिल खिलकर समस्त वायुमण्डल मे छा गयी मृग चरना भूल गये मगराज उन पर टूटना। तानसेन की सुधा सिंचित राग-रागिनियाँ—जिन्हे कही शेप नाग सुन ले तो उसके सिर पर रक्खे हुए धरा मेरु डावाडोल हो जायें इस भय से विधाता ने उसे कान नही दिये—अभी तक हमारे वसन्तोत्सव मे कोकिलाओ के कण्ठो से मधुस्रवण करती हैं। शिल्प तथा चित्रकलाओ की पावस हरीतिमा ने सवत्र भीतर बाहर राजप्रासादो को लपेट लिया। चतुर चित्रकारो ने अपन चित्रो मे भावो की सूक्ष्मता और सुकुमारता सुरा की सजधज तथा सम्पूणता, जान पडता है, अपनी अनिमेष चितवन की अचचल बरुनियो, अपन भाव मुग्ध हृदय के तन्मय रोओ से चित्रित की। शाहजादा दारा का 'अलबम' चित्रकारी के चमत्कार की चकाचौंध है। शिल्पकला के अनेक शतदल दिल्ली, लखनऊ, आगरा आदि शहरो मे अपनी सम्पूणता तथा उत्कष मे अमर और अम्लान खडे हैं, ताजमहल म मानो शिल्पकला ही गलाकर ढाल दी गयी।

देव बिहारी, केशव आदि कवियो के अनिन्द्य पुष्पोद्यान अभी तक अपनी अमन्द सौरभ तथा अनन्त मधु मे राशि राशि भौंरो को मुग्ध कर रहे हैं —यहाँ कूल, केलि, कछार, कुजो म, सवत्र असुप्त वसन्त शोभित

---

१ व्रज भाषा से मेरा अभिप्राय प्राचीन साहित्यिक हिन्दी से है जिसमें अवधी भी शामिल है।

है। बीचोबीच बहती हुई नीली यमुना मे, उसकी फेनोज्ज्वल चचल
तरगो सी, असख्य सुकुमारियाँ श्याम के अनुराग मे डूब रही हैं। वहा
बिजली छिपे अभिसार करती, भौंरे सदेश पहुचाते, चाँद चिनगारियाँ
बरसाता है। वहा छहो ऋतुएँ कल्पना के बहुरगी पखा म उडकर, स्वग
की अप्सराओ की तरह, उस नन्दन वन के चारो ओर अनवरत परिक्रमा
कर रही है। उस "चन्द्रिकाधौतहर्म्या वसतिरलका" के आस पास 'आनन
ओप उजास" से नित प्रति पूनो ही रहती है। चपला की चचल
डोरिया मे पेंग भरते हुए नये बादलो के हिंडोरे पर झूलती हुई इन्द्रधनुष
सुकुमारिया झरी की झमक और घटा की घमक मे हिंडोर की रमक
मिला रही हैं। वहा सौन्दय अपनी ही सुकुमारता म अतर्धान हो रहा,
समस्त नक्षत्र मण्डल उसके श्रीचरणो पर निछावर हो नखावलि बन गया,
अलकारो की झनक न देह वीणा से फूटकर रूप को स्वर दे दिया है।
वहा फूलो मे काटे नही, फूल ही विरह से सूखकर काटो म बदल गय
हैं,—यह कल्पना का अनिवचनीय इन्द्रजाल है, प्रेम की पलका पर
सौन्दय का स्वप्न है, मत्य के हृदय म स्वग का बिम्ब है, मनोवेगो की
अराजकता है। सच है 'पल पल पर पलटन लगे जावे अग अनूप"
ऐसी उस ब्रज बाला के स्वरूप को कौन वणन कर सकता है? उस
माधुय की मेनका की कल्पना का अचल छोर उसके उपासको के
श्वासोच्छ्वासो के चार वायु मे उडता हुआ, नीलाकाश की तरह फलकर,
कभी आध्यात्मिकता के नीरव पुलिनो को भी स्पश कर आता है, पर
कामना के झोके शीघ्र ही सौ सौ हाथा से उसे खीच लेते हैं। वह ब्रज
के दूध, दही और माखन से पूण प्रस्फुटित यौवना अपनी बाह्य रूप राशि
पर इतनी मुग्ध रहती है कि उसे अपने अतजगत के सौन्दय के उपभोग
करने, उसकी ओर दृष्टिपात करने का अवकाश ही नही मिलता।
निसन्देह उसका सौन्दय अपूव है, भावातीत है,—यह उस युग का
नन्दन कानन है। जहाँ सौन्दय की अप्सरा अपनी ही छवि की प्रभा म
स्वच्छन्दतापूवक विहार करती है। अब हम उस युग का कलास देखेंगे
जहाँ सुन्दरता मूर्तिमती तपस्या बनी हुई, कामना की अग्नि परीक्षा म
उत्तीण हो, प्रेम की लोकोज्ज्वलकारिणी स्निग्ध चद्रिका मे, सयम की
स्थिर दीपशिखा सी, शुद्ध एव निष्कलुष सुशोभित है। वह उस युग का
शात नात ध्वनिपूण कल्लोलो म विलोडित बाह्य स्वरूप है, यह उसका
गम्भीर निस्तब्ध अतस्तल!

जिस प्रकार उस युग के स्वण गभ स भौतिक सुख शान्ति के स्थापक
प्रसूत हुए, उसी प्रकार मानसिक सुख शान्ति के नासक भी जो प्रात
स्मरणीय पुरुष इतिहास पष्ठो पर रामानुज, रामानन्द, कबीर महा
प्रभु वल्लभाचाय, नानक इत्यादि के नामो स स्वर्णाकित हैं इतिहास के ही
नहो, देश के हृत्पृष्ठ पर उनकी अक्षय अष्टछाप, उसकी सभ्यता के वक्ष
पर उनका श्रीवत्स चिह्न अमिट और अमर है। इन्ही युग प्रवतको के
गम्भीर अतस्तल स ईश्वरी अनुराग के अनन्त उदगार उमडकर, देश के
आकाश म घनाकार छा गय। ब्राह्मणो के शुष्क ज्ञान तत्त्वो की ऊष्मा
स नीरस निष्क्रिय वायुमण्डल भक्ति के विशाल श्यामघन स सरस तथा
सजल हो गया, रामकृष्ण के प्रेम की अखण्ड रसधाराओ ने, मानो

बौछारों मे बरस, भारत का हृदय प्लावित तथा उर्वर कर दिया। एक ओर सूरसागर भर गया, दूसरी ओर तुलसी मानस!

सीही के उस अन्तर्नयन सूर का सूरसागर? वह अतल, अकूल, अनन्त प्रेमाम्बुधि?—उसमे अमूल्य रत्न हैं! उसकी प्रत्येक तरंग श्याम की वंशी की भुवन मोहिनी तान पर नाचती, थिरकती, भक्तों के भूरि हृत्स्पन्दन से ताल मिलाती, मँझधार में पड़ी सौ सौ पुरानी नावों को पार लगाती, असीम की ओर चली गयी है! वह भगवद्भक्ति के आनन्दा धिक्य का जल प्रलय है, जिसमे समस्त संसार निमग्न हो जाता है। वह ईश्वरीय प्रेम की पवित्र भूल भुलैया है जिसमें एक बार पैठकर बाहर निकलना कठिन हो जाता है। कुएँ में गिर हुए को जदुपति भले ही बाँह पकड़कर निकाल सकें, पर जो एक बार "सागर" में डूब जाता है उसे सूर के श्याम भी बाहर नहीं खींच सकते! सूर सूर की वाणी! भारत के 'हिरदै सो जब जाइ हौ मरद बदौंगो तोहि!"

और रामचरित मानस? उस 'जायो कुल मगन' का "रत्नावली" से ज्योतित मानस? उस—

"जन्म सिन्धु, पुनि बन्धु विष, दिन मलीन, सकलंक,

उन सन समता पाय किमि, चन्द्र बापुरो रंक'—"तुलसी शशी' की उज्ज्वल ज्योत्स्ना से परिपूर्ण मानस? वह हमारी सनातन धर्म प्राण जातीयता का अविनश्वर सूक्ष्म शरीर है। भारतीय सभ्यता का विशाल आदर्श है जिसमे उसका सूर्योज्ज्वल मुख स्पष्ट दिखलायी पड़ता है। वह तुलसीदासजी के निर्मल मानस में अनन्त का अक्षय प्रतिबिम्ब है। उसकी सौ सौ तारक चुम्बित सरल तरल वीचियों के ऊपर जो भक्ति का अमर सहस्रदल विकसित है, वह मर्यादापुरुषोत्तम की पवित्र पद रेणु से परिपूर्ण है! मानस इतिहास मे महाकाव्य, महाकाव्य में इतिहास है। उस युग के ईश्वरीय अनुराग का नक्षत्रोज्ज्वल ताजमहल है, जिसमें श्री सीताराम की पुण्यस्मृति चिरन्तन सुप्ति मे जाग्रत है।—ये दोनों काव्य रत्न भारती के अक्षय भण्डार के दो सिंह द्वार हैं जो उस युग के भगवत्प्रेम की पवित्र धातु से ढाल दिये गये हैं।

जिन अन्य कवियों की पावन वाणी से ईश्वरानुराग का अवशिष्ट रस अनेक सरिता और निर्झरों के रूप में फूटकर ब्रज भाषा के साहित्य समुद्र मे भर गया, उनमे हम उस साखियों के सम्राट, उस फूलों की देह के भगत कबीर साहब, उस लहरतारा के तालाब के गोत्र-कुल हीन स्वर्ण पंकज, उस स्वर्गीय संगीत के जुलाहे के साथ—जिसने अपने सूक्ष्म ताने बाने में गगन का "सबद अनाहद' बुन दिया—एकान्त मे अपने गोपाल की मूर्ति से बातें करनेवाली उस मीरा को भी नहीं भूल सकते। वह भक्ति के तपोवन की शकुन्तला है, राजपूताने के मरुस्थल की मन्दाकिनी है! उसने वासना के विष को पीकर प्रेमामृत बना दिया है उसने शब्दों में नहीं गाया, अपने प्रेमाधिक्य से भावना को ही वाणी के रूप में घनीभूत कर दिया, अरूप को स्वरूप दे दिया!—ऐसा था अपार उस युग के मधु का भण्डार, जिसने ब्रज भाषा के छत्ते को लबालब भर दिया, उस अमृत ने उस भाषा को अमर कर दिया, उस भाषा ने उस अमृत को सुलभ!

पर उस व्रज के वन मे भाड भखाड करील बबूर भी बहुत हैं। उसके
स्वर मे दादुरो का बेसुरा आलाप, उसके कृमिल पत्रिल गर्भ म जीण
अस्थिपजर, रोडे, सिवार और घोघा की भी कमी नही। उसके बीचो
बीच बहती हुई अमत जाह्नवी के चारो ओर जो शुष्क कदममय बालुका
तट है, उसमे विलास की मृगतृष्णा के पीछे भटके हुए अनेक कवियो के
अस्पष्ट पदचिह्न, कालानिल के झोको से बचे हुए, यत्र तत्र बिखरे पडे
हैं। उस व्रज की उवशी के दाहिने हाथ मे अमृत का पात्र, और बायें मे
विष से परिपूण कटोरा है जो उस युग के नैतिक पतन स भरा छलछला
रहा है। ओह, उस पुरानी गूदडी म असख्य छिद्र, अपार सकीणताएँ हैं।
अधिकाश भक्त कवियो का समग्र जीवन मथुरा से गोकुल ही जाने
मे समाप्त हो गया। बीच मे उन्ही की सकीणता की यमुना पड गयी,
कुछ किनारे पर रहे, कुछ उसी मे बह गये, बडे परिश्रम से कोई पार
भी गये तो व्रज से द्वारका तक पहुच सके, ससार की सारी परिधि यही
समाप्त हो गयी। रूप के उस श्यामावरण के भीतर झाँक न सके, अनत
नीलाकाश को एक छोट से तालाब के प्रतिबिम्ब मे बाधने के प्रयत्न में
स्वय बँध गये। सहस्र दादुर उसमे छिपकर टरान लगे समस्त वायुमण्डल
घायल हो गया, यमुना की नीली नीली लहरें काली पड गयी। भक्ति
के स्वर मे भारत की जन्म जन्मा तर की सुप्त मूक आसक्ति बाधाविहीन
बौछारो मे बरसा दी। ईश्वरानुराग की बाँसुरी अन्धबिलो मे छिपे हुए
वासना के विषधरो को छेड छेडकर नचाने लगी। श्याम तथा राधा की
खोज मे, सौ सौ यत्नो मे लपेटी हुई देश की समस्त आबाल वृद्धाएँ नग्न
प्राय कर, भारतीय गृहस्थ के बन्द द्वारो से बाहर निकाल दी, उनके
कभी इधर उधर न भटकनेवाल सुकुमार पाँव ससार के सारे विषपूण
काँटो से जजरित कर दिये। गहलक्ष्मियाँ दूतियाँ बन गयी।
शृगारप्रिय कवियो के लिए शेष रह ही क्या गया? उनकी अपरि
मेय कल्पना शक्ति कामना के हाथो द्रौपदी के दुकूल की तरह फैलकर
'नायिका' के अग प्रत्यग स लिपट गयी। बाल्यकाल से वृद्धावस्था
पय न्त—जब तक कोई 'चन्द्रवदनि मृगलोचनी' तरस खाकर, उनस
'बाबा न कह द'—उनकी रसलोलुप सूक्ष्मतम दृष्टि केवल नख से शिख
तक, दक्षिणी ध्रुव से उत्तरी ध्रुव तक, यात्रा कर सकी। ऐसी विश्व
व्यापी अनुभूति! ऐसी प्रखर प्रतिभा! एक ही शरीरयष्टि म समस्त
ब्रह्माण्ड देख लिया! अब इनकी अक्षय कीर्ति काया को जरामरण का
भय? क्या इनकी 'नायिका,' जिसके वीक्षण मात्र से इनकी कल्पना
तिलक की डाल की तरह खिल उठती थी, अपने सत्यवान को काल के
मुख से न लौटा लायेगी?
इसी विराट रूप का दशन कर ये पुष्प धनुधर कवि रति के
महाभारत मे विजयी हुए। समस्त देश की वासना के वीभत्स समुद्र को
मथकर इन्होने कामदेव को नव जन्म दान दे दिया वह अब सहज ही
भस्म हो सकता है? इन वीरो ने ऐसा सम्मोहनास्त्र देश के आकाश मे
छोडा कि सारा ससार कामिनीमय हो गया। 'एक के भीतर बीस'
डिब्बेवाले खिलौने की तरह एक ही के अन्दर सहस्र नायिकाओ के
स्वरूप दिखला दिय। सारे देश को, जादू के बल स, वासना के चमकीले

पारे से मढ़े हुए कच्चे कांच के टुकड़ा का एक ऐसा विचित्र पजायत पर, 'सब जग जीतन का काम का ऐसा 'काय व्यूह शीशमहल' बना दिया कि प्राय नारी की एकनिष्ठ, निश्चल पवित्र प्रतिमा वासनाग्रो के असख्य रग बिरगे बिम्बो म बदल गयी,—जिनकी भूलभुलया म फँसकर, देश के लिए अपनी सरल सुशील सती का पहचानना कठिन हो गया।

और इनकी वियोग वह्नि ने क्या किया? इनकी ग्रीव के नओ की ज्वाला सी आह ने? देश की प्राणसचारिणी, शक्ति सञ्जीवनी वायु को ग्रीष्म की प्रचण्ड लू मे बदल दिया! सरल सद्भावनाओ के सुकुमार पौधे जलकर छार हो गय, शान्ति, सुख, स्वास्थ्य, सदाचार सब भस्म हो गये, पवित्र प्रेम का चन्दन पक सूख गया, भारत का मानस भी दरक गया, और उसकी सती इन कवियो की नुकीली लगनी स उस गहरी गुदी हुई दरार म समा गयी, शक्ति की कमर टूट गयी, समस्त दुर्बलता का नाम अबला पड गया।

ऐसी थी इनकी बीभत्स, विकारग्रस्त विलासपुरी! और इनकी भाषालकारिता? जिसकी रगीन डोरियो म वह कविता का हिंडोला—वह विश्व वैचित्र्य झूलता है, जिसके हृत्पट पर वह चित्रित है?

बहत्तर ग्रन्थो के रचयिता, नभ मण्डल के समान दर, 'दखन म छोटे लगें घाव करें गम्भीर' तीर छोडनवाले कुसुमायुध विहारी, जिन्हें 'तरनाई आई सुखद बसि मथुरा सुसराल', रामचन्द्रिका के इक्कीस पाठ कर मुक्त होन वाल, कठिन काव्य क प्रेत, पिगलाचार्य भाषा के मिल्टन, उडगन केशवदास जी, तथा जहाँ-तहाँ प्रकाश करन वाल मतिराम, पद्माकर, बेनी, रसखान आदि—जितने नाम आप जानते हो, और इन साहित्य के मालियो म स जिसकी विलास वाटिका म भी आप प्रवेश करें, सबम अधिकतर वही कदली क स्तम्भ, कमल नाल, दाडिम क बीज, शुक, पिक, खजन, शख, पद्म, सर्प सिंह मृग चन्द्र, चार आँखें होना, कटाक्ष करना, आह छोडना, रोमाचित होना, दूत भेजना, कराहना, मूर्छित होना, स्वप्न देखना, अभिसार करना,—बस इसके सिवा और कुछ नही! सबकी बावडियो मे कुत्सित प्रेम का फुहारा शत शत रसधारो मे फूट रहा है, सीढियो पर एक अप्सरा जल भरती या स्नान करती है, कभी एक सग रपट पडती, कभी नीर भरी गगरी ढरका देती है! वीथियो मे परायी पीर न जाननेवाली स्वच्छन्द दूती विचर रही है, जिसका 'घूतपन' वापी नहाने का बहाना करन पर भी स्वेद की अधिकाई तथा पीकलीक की ललाई क कारण प्रकट हो ही जाता है, कुजो स उद्दाम यौवन की दुग ध आ रही है, जिनके सघन पत्रो के झरोखो स 'दीरघ दृग प्रीतम की बाट मे दौड लगा रहे हैं।

भाव और भाषा का ऐसा शुक प्रयोग राग और छन्दो की ऐसी एक-स्वर रिमझिम, उपमा तथा उत्प्रेक्षाओ की एक ऐसी दादुरावृत्ति, अनुप्रास एव तुकों की ऐसी अश्रान्त उपल वृष्टि क्या ससार के और किसी साहित्य मे मिल सकती है? धन की घहर, भेकी की भहर, झिल्ली की झहर, बिजली की बहर मोर की कहर, समस्त सगीत तुक की एक ही नहर मे बहा दिया। और बचारे औपकायन की बेटी उपमा को तो बाध ही दिया!—आख की उपमा? खजन मग, कज, मीन इत्यादि, हाठो की?

गोलार्ध, जल स्थल, अनिल आकाश, ज्योति अन्धकार, वन पर्वत, नदी घाटी, नहर खाडी, द्वीप उपनिवेश, उत्तरी ध्रुव से दक्षिण तक का प्राकृतिक सौन्दर्य, उष्ण शीत प्रधान देशों के वनस्पति वृक्ष, पुष्प पौध पशु पक्षी, विविध प्रदेशों की जलवायु, आचार व्यवहार,—जिसके शब्दों में वात उत्पात, वह्नि-बाढ, उल्का-भूकम्प सब कुछ समा सके, बाधा जा सके, जिसके पृष्ठों पर मानव जाति की सभ्यता का उत्थान पतन, वृद्धि विनाश, आवर्तन विवर्तन, नूतन पुरातन सब कुछ चित्रित हो सके, जिसकी अलमारियों में दर्शन, विज्ञान, इतिहास, भूगोल, राजनीति, समाजनीति कला कौशल, कथा कहानी, काव्य नाटक सब कुछ सजाया जा सके।

हम भाषा नहीं, राष्ट्र भाषा की आवश्यकता है, पुस्तकों की नहीं, मनुष्यों की भाषा, जिसमें हम हँसते रोते, खेलते कूदते, लडते, गले मिलते, साँस लेते और रहते हैं, जो हमारे देश की मानसिक दशा का मुख दिखलाने के लिए आदर्श हो सके, जो कालानिल के ऊँच नीच, ऋजु कुंचित, कोमल कठोर घात प्रतिघातों की ताल पर विशाल समुद्र की तरह शत शत स्पष्ट स्वरूपों में तरंगित कल्लोलित हो, आलोडित विलोडित हो हँसती गरजती, चढ़ती गिरती, संकुचित पसारित होती, हमारे हर्ष रुदन, विजय पराभव, चीत्कार, किलकार, संधि, संग्राम को प्रतिध्वनित कर सके, उसमें स्वर भर सके।

यह अत्यन्त हास्यजनक तथा लज्जास्पद हत्वाभास है कि हम सोचें एक स्वर में, प्रकट करें उसे दूसरे में, हमारे मन की वाणी मुह की वाणी न हो, हमारे गद्य का कोष भिन्न, पद्य का भिन्न हो, हमारी आत्मा के सा रे ग म पृथक हों, वाद्ययन्त्र के पृथक, हमारी भावतन्त्री तथा शब्दतन्त्री के स्वरों में मेल न हो, मूधन्य 'प' की तरह हमारे साहित्य का हृदय, देश की आत्मा, एक कृत्रिम दीवार देकर दो भागों में बाट दी जाय। हम इस ब्रज की जीर्ण शीर्ण छिद्रों से भरी, पुरानी छींट की चोली को नहीं चाहते, इसकी संकीर्ण कारा में बन्दी हो हमारी आत्मा वायु की न्यूनता के कारण सिमक उठती है हमारे शरीर का विकास रुक जाता है। हम यह पुराने फैशन की मिस्सी पसन्द नहीं, जिसमें हमारी हँसी की स्वाभाविक उज्ज्वलता रंग जाती, फीकी और मलिन पड़ जाती है। यह बिल्कुल आउट आफ डेट हो गयी है! यह नकाब पहना हुआ हास्य-प्रद चेहरों का नाच हमारी सभ्यता के प्रतिकूल है। हमारे विचार अपने ही समय के चरखे में कते बुने, अपनी ही इच्छा के रंग में रँगे वस्त्र चाहते हैं, चाहे वे मोटे और खुरदुरे ही क्या न हों, इसी में हमारे वाणिज्य व्यवसाय कला कौशल की कुशलक्षेम है कल्याण है। हमारे युग की रम्भा अपने नवीन नूपुर नृत्य के जो मधुर मुखरित अविरत पदचिह्न हमारे देश के वक्ष स्थल पर छोड़ रही है उन्हें अपने ही हृत्स्पन्दन में प्रतिध्वनित करने के बदले हम ब्रज के मधूमल के कृत्रिम साँचे में अंकित करना नहीं चाहते। हमें देश काल की उपेक्षा करनेवाले अपने राष्ट्र के भाग्य विधाता के विरुद्ध खड़े भाड़ भड़ाटग्य नवीन कुरूप सृष्टि करनेवाले इन ब्रजभाषा के महर्षि विश्वामित्रों से सहानुभूति नहीं, इनकी प्राचीन ब्रज भाषा की काशी, हमारे ससार ने बाहर दूर ही रही प्रद्युम्नयता के त्रिशूल पर अटकी रहे, वह हमारा तीर्थ नहीं हो सकती, उसकी अन्धी गलियाँ

किसलय, प्रवाल, लाल, लाग इत्यादि, और इन धुरन्धर साहित्याचार्यों की ? गुर दादुर ग्रामोफोन इत्यादि। ब्रज भाषा के उन्नत भाल में इन कवियों की लालसा के मोप, इनकी उपमाओं के शाप भ्रष्ट न हुए, उसके कोमल वक्ष में इनके अत्याचार के नख दान, उसके सुकुमार अंगों में इनकी वासना का विरहाग्नि का असह्य ताप सदा के लिए बना रहेगा! उसकी उदार छाती पर इन्होंने पहाड़ रख दिया! ऐसा निमोचार रूप उस युग के भाग्य ने ग्रहण किया कि यदि काल ही अगस्त्य की तरह उसका शिखर मूल से लुण्ठित न कर देता तो उस युग की उच्छृंखलता के विन्ध्य ने, भव का स्वरूप धारण करने की चेष्टा में, हमारे 'सूर', 'शशि' की प्रभा को भी पास आने से रोक लिया जाता!

इस तीन फुट के नखशिख के संसार से बाहर ये कवि पुंगव नहीं जा सके। हास्य, अद्भुत, भयानक आदि रसों में तो लेखनी को,—नायिका के अंगों को चाटते-चाटते, रूप की मिठास से बँध रहे मुँह को खोलने, सँवारने के लिए—कभी कभी कुल्ला मात्र करा दिए हैं। और वीर तथा रौद्र रस की कविता लिखने के समय तो ब्रज भाषा की लेखनी भय के मारे जैसे हकलाने लगती है। दो एक भूषणादि रसावतारों को, जिन्हें मूछों पर हाथ फिरवा देने का दावा रहा है, जिन्होंने गर्व लाख रुपय के नोन की तीव्रता शायद अपनी कविता ही में भर दी, और जिनका हृदय 'सरसरसुन धुन, जज्जज्जरि जन डड्डुरि हिय', 'धड्ढड्डकृत इत्यादि अनुप्रासों के कम्पज्वर की उच्छृंखल खड़खड़ाहट को सुनकर 'धड्ढड्डकने' लगा, अपनी वीर गर्भा कविता के कवच में इधर उधर से कड़ी कड़ियाँ छानबीन कर लगानी पड़ी।

यह है केवल दिग्दर्शन मात्र नयन चित्र मात्र। यह अस्वाभाविक नहीं कि उस तीन चार शताब्दियों के ओर छोर व्यापी विशाल युग का संक्षिप्त सिंहावलोकन मात्र करने में मुझसे उसके स्वर्ण सिंहासनासीन भारती के पुत्र रत्नों के अमर सम्मान की यथेष्ट रक्षा न हो सकी हो, पर मेरा उद्देश्य, केवल, ब्रज भाषा के अलंकृत काल के अंतर्देश में अंतर्हित उस काव्यादर्श के बहुत चुम्बक की ओर इंगित भर कर देने का रहा है, जिसकी ओर आकर्षित होकर उस युग की अधिकांश शक्ति तथा चेष्टाएँ, काव्य की धाराओं के रूप में प्रवाहित हुई है। यह लिखने की आवश्यकता नहीं कि उस युग की वाणी में जो कुछ सुंदर, सत्य तथा शाश्वत है उसका जीर्णोद्धार कर, उस पर प्रकाश डाल, तथा उसे हिन्दी प्रेमियों के लिए सुलभ तथा सुगम बना हमें उसका घर घर प्रचार करना चाहिए। जो ज्ञानवृद्ध वयोवृद्ध का यममन उस ओर झुके हैं उनके ऋण से हिन्दी कभी मुक्त नहीं हो सकेगी।

× × ×

ब्रज भाषा की उपत्यका में, उसकी स्निग्ध अंचल छाया में, सौंदर्य का कश्मीर भले ही बसाया जा सके, जहाँ चाँदनी के झरने राशि राशि मोती बिखराते हों, विहग कुल का कलरव द्यावापृथ्वी को स्वर के तारों में गूँथ देता हो सहस्र रंगों की पुष्प शय्या पर कल्पना का इन्द्रधनुष अर्ध प्रसुप्त पड़ा हो जहाँ सौंदर्य की वासंती नंदन वन स्वप्न रचती हो—पर उसका वक्ष स्थल इतना विशाल नहीं कि उसमें पूर्वी तथा पश्चिमी

गोलाध, जल स्थल, अनिल आकाश, ज्योति अधकार, वन पवत, नदी घाटी, नहर खाडी, द्वीप उपनिवेश, उत्तरी ध्रुव स दक्षिण तक का प्राकृतिक सौदय, उष्ण शीत प्रधान दशा क वनस्पति वृक्ष, पुष्प पौध पशु-पक्षी, विविध प्रदशो की जलवायु, आचार व्यवहार,—जिसके शब्दो मे वात उत्पात, वह्नि-बाढ, उल्का भूकम्प सब कुछ समा सके, बाँधा जा सके, जिसके पृष्ठो पर मानव जाति की सभ्यता का उत्थान पतन, वृद्धि विनाश, आवतन विवतन, नूतन पुरातन सब कुछ चित्रित हो सके, जिसकी अल मारियो म दशन, विनान, इतिहास, भूगोल, राजनीति, समाजनीति, कला कौशल, कथा कहानी, काव्य-नाटक सब कुछ सजाया जा सके।

हम भाषा नही, राष्ट्र भाषा की आवश्यकता है, पुस्तका की नही, मनुष्यो की भाषा, जिसमे हम हँसत रोते, खलत कूदत, लडत, गले मिलत, सास लेत और रहत हैं, जा हमारे देश की मानसिक दशा का मुख दिखलाने के लिए आदश हो सके, जो मलानिल के ऊँच नीच, ऋजु-कुचित, कोमल कठोर घात प्रतिघातो की ताल पर विशाल समुद्र की तरह नत शत स्पष्ट स्वरूपो मे तरगित कल्लोलित हो, आलोडित विलोडित हो हँसती-गरजती, चढती गिरती, सकुचित प्रसारित होती, हमार हष रुदन, विजय पराभव, चीत्कार, किलकार, सधि, सग्राम को प्रतिध्वनित कर सके, उसम स्वर भर सके।

यह अत्यन्त हास्यजनक तथा लज्जास्पद दुर्भाग्य है कि हम सोचें एक स्वर मे, प्रकट करें उसे दूसरे मे, हमारे मन की वाणी मुह की वाणी न हो, हमारे गद्य का कोष भिन्न, पद्य का भिन्न हो, हमारी आत्मा के सा रे ग म पृथक हो, वाद्ययन्त्र के पृथक, हमारी भावतन्त्री तथा शब्दत न्त्री के स्वरो मे मेल न हो, मूधन्य 'ष' की तरह हमारे साहित्य का हृदय देश की आत्मा एक कृत्रिम दीवार दकर दो भागो मे बाट दी जाय। हम इस ब्रज की जीण शीण छिद्रो स भरी पुरानी छीट की चोली को नही चाहत, इसकी सकीण कारा मे बन्दी हो हमारी आत्मा वायु की न्यूनता के कारण सिमट उठती है हमारे शरीर का विकास रुक जाता है। हम यह पुराने फैशन की मिस्सी पसन्द नहीं, जिसम हमारी हँसी की स्वाभाविक उज्ज्वलता रग जाती, फीकी और मलिन पड जाती है। यह बिल्कुल आउट आफ डेट हो गयी है। यह नकाब पहना हुआ हास्य-प्रद चेहरा का नाच हमारी सभ्यता के प्रतिकूल है। हमार विचार अपने ही समय के चरखे मे कत बुन, अपनी ही इच्छा के रग मे रँगे वस्त्र चाहते हैं, चाहे वे मोटे और खुरदुरे ही क्या न हो, इसी मे हमार वाणिज्य व्यवसाय कला कौशल की कुशलक्षेम है, कल्याण है। हमारे युग की रम्भा अपन नवीन नपुर नृत्य के जो मधुर मुखरित अविरत पदचिह्न हमारे देश के वक्ष स्थल पर छोड रही है उन्हें अपने ही हृत्स्पन्दन मे प्रतिध्वनित करने के बदले, हम ब्रज के मखमल के कृत्रिम साँचे मे अकित करना नही चाहत। हम देश काल की उपेक्षा करनेवाले, अपन राष्ट्र के भाग्य विधाता के विरुद्ध खडे झाड झखाडमय नवीन कुरूप सष्टि करनेवाले इन ब्रजभाषा के महर्षि विश्वामित्रो से सहानुभूति नही, इनकी प्राचीन ब्रज भाषा की काशी हमार ससार मे बाहर इसी की अहमन्यता के त्रिशूल पर अटकी रहे, वह हमारा तीथ नही हो सकती उसकी अन्धी गलियो

म आधुनिक सभ्यता का विशद यार नहीं जा सकता, काल की त्रिवेणी मे—जहा वतमान की उज्ज्वल जाह्नवी तथा भविष्य की अस्पष्ट नीली यमुना का विशाल सगम है—भूत की सरस्वती का मिलकर लुप्त हो जाना ही स्वाभाविक है।

खडीबोली म चाहे ब्रज भाषा की श्रेष्ठतम इमारतो के होड जोड की अभी कोई इमारत भले ही न हो, उसके मदिरो म वसी बल बूटे दार मीनाकारी तथा पच्चीकारी, उसकी गुहाओ मे अजता का सा अदभुत अध्यवसाय, चमत्कार, विविध वर्णो की मैत्री, तथा अपूव हस्त कौशल, उसकी छोटी मोटी इस पत्थर के काल की मूर्तियो मे, वह सूक्ष्मता, सजधज, निपुणता अथवा परिपूणता न मिले, उसमे अभी मानस के स पवित्र घाटो का अभाव हो —पर उसके राजपथा मे जो विस्तार और व्यापकता, भि न भि न स्थाना को आने जानेवाले यात्रियो के लिए जो रथ तथा यानों के सुप्रब ध की ओर चेष्टा, उसकी हाट बाट विपणियो मे जो वस्तु वैचित्र्य वण वैचित्र्य, विषय तथा वि यास वैचि य का आयोजन है, देश प्रदेशा के उपभोग्य पदार्थों के विनिमय तथा क्रय विक्रय को सुलभ करने का जो प्रयत्न किया जा रहा है, उसके पार्को मे जो नवीनता, आधुनिकता, विपुलता, पुष्पो की भि न भि न ढाँचो मे खिली वतुलाकार, आयताकार मीनाकार, वर्गाकार रग बिरगी क्यारिया, सामयिक रुचि की कैंची से कटी छटी जो विविध स्वरूपो की झाडियाँ, गुल्म, वक्षावलियाँ, नव-नव आकार प्रकारो म विकसित तथा सिंचित कुज, लता भवन और केलि वितान अभी है वे अस तोषप्रद नहीं, उसमे नये हाथो का प्रयत्न जीवित सासो का स्प दन, आधुनिक इच्छाओ के अकुर, वतमान के पद चिह्न, भूत की चेतावनी, भविष्य की आशा, अथच नवीन युग की नवीन सष्टि का समावेश है। उसम नये कटाक्ष नये रोमाच, नये स्वप्न, नया हास नया रुदन, नया हृत्कम्पन, नवीन बस त नवीन कोकिलाओ का गान है।

इन बीस-पच्चीस बरसो के छोटे से बित्ते मे खडी बोली की कविता के मूल देश के हृदय मे कितने गहरे चले गये, उसकी शाखा प्रशाखाएँ चारो ओर फलकर हमारी खिडकियो से धीरे धीरे किस तरह भीतर झाँकने लगी, किस तरह वायु के झाको के साथ उसके राशि राशि पुष्पो की अधस्फुट सौरभ हमारे कमरो म समाने सासों के साथ हृदय मे प्रवश करने लगी, उसकी सघन हरीतिमा के नीडो मे छिप कितने पक्षी, बाल कोकिलाएँ, तरुण पपीहे, तथा प्रौढ शुक, सहस्र स्वरो मे चहचहान तथा सुधावपण करने लगे उसके पत्र हिल हिलकर किस तरह हमारी ओर सकेत करने लगे, उनकी अस्फुट ममर मे हमे अपनी विश्व यापी उत्थान, पतन, देशव्यापी आशा निराशा, घट घटव्यापी हष विषाद की, वतमान के मनोवेगो भविष्य की प्रवत्तियो की कसी सहज प्रतिध्वनि मिलन लगी है, यह दिवस की ज्योति मे भी स्पष्ट है, इसके लिए दपण की आवश्यकता नहीं।

खडी बोली आगे की सुवर्णाशा है उसकी बाल कला म भावी की लोकोज्ज्वल पूर्णिमा छिपी है। वह हमारे भविष्याकाश की स्वगगा है, जिसके अस्पष्ट ज्योतिपुञ्ज मे, न जाने कितने जाज्वल्यमान सूय शशि,

असख्य ग्रह उपग्रह, अमन्द नक्षत्र तथा अनिन्द्य लावण्य लोक अन्तर्हित हैं। वह समस्त भारत की हृत्कम्पन है, देश की शिरोपशिराओं मे नवजीवन सञ्चारिणी सजीवनी है, वह हमारे भगीरथ प्रयत्नो स अर्जित, भारत के भाग्य विधाता की वरदान स्वरूप, विश्व कवि के हृत्कमण्डलु से नि सत अमृत स्वरो की जाह्नवी है, जिसने सुप्त देश के कण कुहर मे प्रवेश कर उसे जगा दिया, जिसकी विशाल धारा मे हमारे राष्ट्र का विशद स्वणयान, आय जाति के गौरव का अभ्रभेदी मस्तूल ऊँचा किये, धम और ज्ञान की निमल पालो को फहराता हुआ अपनी सूर्योज्ज्वल आध्यात्मिकता, चन्द्रिकोज्ज्वल कलाकौशल, तथा नीतिविज्ञान की विपुल रत्न राशियो से सुसज्जित बाधा बन्धनो की तरगो को काटता, दिव्य विहगम की तरह क्षिप्र वेग से उडता हुआ ससार के विशाल सागर सगम की ओर अग्रसर हो रहा है। उसके चारो ओर शीघ्र ही हमारे धम के पुण्य तीथ तथा पवित्राश्रम स्थापित हो, हमारी सभ्यता के नवीन नगर तथा पुर केन्द्रित हो।

(ख)

भाषा ससार का नादमय चित्र है, ध्वनिमय स्वरूप है। यह विश्व के हृत्तन्त्री की झकार है जिसके स्वर मे वह अभिव्यक्ति पाता है। विश्व की सभ्यता के विकास तथा ह्रास के साथ वाणी का भी युगपत विकास तथा ह्रास होता है। भिन्न भिन्न भाषाओं की विशेषताएँ भिन्न भिन्न जातियो तथा देश की सभ्यताओं की विशेषताएँ है। सस्कृत की देव वीणा मे जो आध्यात्मिक सगीत की परिपूणता है वह ससार की अन्य शब्द तन्त्रियो मे नही, और पाश्चात्य साहित्य के विशद यन्त्रालय मे जो विज्ञान के कल पुर्जों की विचित्रता, बारीकी तथा सजधज है, वह हमारे भारती भवन म नही।

प्रत्येक युग की विशेषता भी ससार की वाणी पर अपनी छाप छोड जाती है। एक नित्य सत्य है एक अनित्य, अनित्य सत्य के क्षणिक पदचिह्न ससार की सभ्यता के राजपथ पर बदलते जाते, पुराने मिटते नवीन उनके स्थान पर स्थापित होते रहते हैं। नित्य सत्य उसके शिलालेखो मे गहरा अकित हो जाता है, उसे कालानिल के झोके नही मिटा सकते। प्रत्येक युग इस अखण्डनीय सत्य के अपरिमेय वस्त्र का एक छोटा सा खण्ड मात्र, इस अनन्त सिन्धु की एक स्वल्प तरग मात्र है जिसका अपना विशेष स्वरूप, विशेष आकार प्रकार, विशेष विस्तार एव विशेष ऊँचाई होती है, जो अपने सद्य स्वर मे सनातन सत्य के एक विशेष अश को वाणी देता है। वही नाद उस युग के वायुमण्डल मे गूज उठता उसकी हृत्तन्त्री से नवीन छन्दो-तालो मे, नवीन रागो स्वरो मे प्रतिध्वनित हो उठता, नवीन युग अपने लिए नवीन वाणी, नवीन जीवन, नवीन रहस्य नवीन स्पन्दन कम्पन तथा नवीन साहित्य ले आता, और पुराना जीण पतझड इस नवजात वसन्त के लिए बीज तथा खाद स्वरूप बन जाता है। नूतन युग ससार की शब्द तन्त्री मे नूतन ठाठ जमा देता, उसका विन्यास बदल जाता, नवीन युग की नवीन आकाक्षाओं, क्रियाओ, नवीन इच्छाओ के अनुसार उसकी वीणा से नये गीत नये छन्द नये राग, नयी रागिनियाँ, नयी कल्पनाए तथा भावनाएँ फूटने लगती हैं।

इस प्रकार भाषा का कुछ परिवतनशील अश उसके लिए खाद्य-सामग्री

मँडराता रहता है।

राग का अर्थ आकर्षण है, यह वह शक्ति है जिसके विद्युत्स्पर्श से खिचकर हम शब्दो की आत्मा तक पहुचते है, हमारा हृदय उनके हृदय मे प्रवेश कर एक भाव हो जाता है। प्रत्येक शब्द एक सकेत मात्र, इस विश्वव्यापी सगीत की अस्फुट झकार मात्र है। जिस प्रकार समग्र पदार्थ एक-दूसरे पर अवलम्बित है, ऋणानुबध हैं, उसी प्रकार शब्द भी, ये सब एक विराट परिवार के प्राणी है। इनका आपस का सम्बन्ध, सहानुभूति, अनुराग विराग जान लेना कहाँ कब एक की साडी का छोर उडकर दूसरे का हृदय रोमाचित कर देता, कैसे एक की ईर्ष्या अथवा क्रोध दूसरे का विनाश करता, कमे फिर दूसरा बदला लेता, कैसे ये गले लगते, बिछुडते, कैसे जन्मोत्सव मनाते तथा एक दूसरे की मृत्यु से शोकाकुल होते,—इनकी पारस्परिक प्रीति मैत्री, शत्रुता तथा वैमनस्य का पता लगा लेना क्या आसान है ? प्रत्येक शब्द एक-एक कविता है, लक्ष और मल द्वीप की तरह कविता भी अपने बनाने वाले शब्दो की कविता को खा खाकर बनती है।

जिस प्रकार शब्द एक ओर व्याकरण के कठिन नियमो स बद्ध होते उसी प्रकार दूसरी ओर राग के आकाश मे पक्षियो की तरह स्वतन्त्र भी होते हैं। जहाँ राग की उन्मुक्त स्नेहशीलता तथा व्याकरण की नियमवश्यता म सामजस्य रहता है वहाँ कोमल मा तथा कठोर पिता के घर मे लालित पालित सन्तान की तरह शब्दो का भरण पोषण अग विन्यास तथा मनोविकास स्वाभाविक और यथेष्ट रीति म होता है। कौन जानता है, कब, कहाँ और किस नदी के किनारे न जाने कौन एक दिन साझ या सुबह के समय वायु का सेवन कर रहा था, शायद बरसात बीत गयी थी, शरद की निर्मलता कलरव की लहरो मे उच्छवसित हो न जाने, किस ओर वह रही थी! अचानक, एक अप्सरा जल से बाहर निकल, मुँह से रेशमी घूघट हटा, अपने सुनहले पख फैला, क्षण भर चचल लहरो की ताल पर मधुर नृत्य कर, अन्तर्धान हो गयी! जसे उस परिस्फुट यौवना सरिता ने अपने मीन लोचन से कटाक्षपात किया हो! तब मीन आँखो का उपमान भी न बना होगा, न जाने रूप तथा विस्मयातिरेक से किस अज्ञात कवि के हृदय से क्या कुछ निकल पडा—'मत्स्य!' उस कवि का समस्त आनन्द आश्चर्य, भय प्रेम रोमाच तथा सौन्दर्यानुभूति जस सहसा 'मत्स्य' शब्द के रूप मे प्रतिध्वनित तथा सगीत हो साकार बन गयी। अब भी यह शब्द उसी चटुल मछली की तरह पानी म छप-छप शब्द करता हुआ, एक बार क्षिप्रगति से उछलकर फिर अपनी ही चचलता मे जैसे डूब जाता है। शकुतला नाटक के "पश्चार्धेन प्रविष्ट शरपतनभयात भूयसा पूर्वकायम" मृग की तरह इस शब्द का पूर्वार्ध भी जस अपने पश्चार्ध मे प्रवेश करना चाहता है।

भिन्न भिन्न पर्यायवाची शब्द प्राय सगीत भेद के कारण एक ही पदार्थ के भिन्न भिन्न स्वरूपो का प्रकट करते हैं। 'भ्रू' म क्रोध की वक्रता 'भृकुटि' से कटाक्ष की चचलता, 'भौहो' से स्वाभाविक प्रसन्नता ऋजुता का हृदय म अनुभव होता है। ऐसे ही 'हिलोर' म उठान, लहर मे सलिल के वक्ष स्थल की कोमल कम्पन, 'तरग' म लहरो क समूह का

का, भारती की नाड़ियों में नवीन रक्त का संचार, हृदय में नवीन स्फूर्ति तथा स्पंदन पैदा कर, उसके शरीर को सुन्दर सुडौल विकसित तथा पुष्ट बनाता रहता है। यह संगीत हमारे हृदयगत संस्कारों, विचारों, हमारी प्रवृत्तियों, भावनाओं, हमारी इंद्रियों तथा दैनिक क्रिया कलापों से ऐसा एकाकार हो जाता, इतनी अधिक प्रीति तथा घनिष्ठता स्थापित कर लेता है कि वास्तव में जो अविच्छिन्न भाव है उससे हम अपने को पृथक् नहीं कर सकते, वह हमारा जीवन ही बन जाता, हमारे प्राणों का स्पंदन उसी की लय में ध्वनित होने लगता, दोनों अभिन्न तथा अभेद्य हो जाते हैं।

हिंदी के जिन वयोवृद्ध आचार्यों को ब्रज भाषा ही में काव्योचित माधुर्य मिलता है जो खड़ीबोली का काव्य की भाषा का स्थान देने में भी सशंकित रहते हैं, उसका मुख्य कारण उनके यही हृदयगत संस्कार हैं, जिनमें उनकी रुचि का रक्त घुल चुका, जो उनके भाव अनुभावों की स्थूल सूक्ष्म नाड़ियों में प्रवाहित होकर, उनके भावना की अपने रंग में रंग चुके, अपने स्वर में गूंथ चुके हैं। मुझे तो उस तीन चार सौ वर्षों की वृद्धा के दाँत बिलकुल रक्त मांस हीन लगते हैं, जैसे भारती की वीणा की झंकार बीमार पड़ गयी हो उसके उपवन के लहलहाते फूल मुरझा गये हों, जैसे साहित्याकाश का 'तरणि', ग्रहण लग जाने से निष्प्रभ 'तरनि' बन गया हो, भाषा के 'प्राण' चिरकाल से क्षय रोग से पीड़ित तथा निःशक्त होकर अब 'प्रान' वह जाने योग्य रह गये हों। 'पत्थर' जैसे ज्वालामुखी के उदर में दग्ध हो जाने से अपने ओजपूर्ण कोना को खोकर, गल, घिसकर 'पाहन' बन गये हों। खड़ी बोली का स्थान मुझे साफ सुथरा, निवास के उपयुक्त जान पड़ता है, और 'थान' जैसे बहुत दिनों से लिपा-पुता न हो, श्रीहीन, बिछाली बिछा हुआ, ढोरों के रहने योग्य, वैसे ही ब्रजभाषा की क्रियाएँ भी—बहुत 'लहन' 'हरहु' 'भरहु'—ऐसी लगती हैं, जैसे शीत या किसी अन्य कारण से मुंह की पेशियां ठिठुर गयी हों, अच्छी तरह खुलती न हों अतः स्पष्ट उच्चारण करते न बनता हो, पर यह सब खड़ीबोली के शब्दों को सुनने पढ़ने उनके स्वर में सोचने आदि का अभ्यास पड़ जाने से।

भाषा का और मुख्यतः कविता की भाषा का, प्राण राग है। राग ही के पंखों की अबाध उन्मुक्त उड़ान में लयमान होकर कविता सान्त को अनन्त से मिलाती है। राग ध्वनिलोक निवासी शब्दों के हृदय में परस्पर स्नेह तथा ममता का सम्बन्ध स्थापित करता है। संसार के पृथक् पृथक् पदार्थ पृथक् पृथक् ध्वनियों के चित्र मात्र हैं। समस्त ब्रह्माण्ड के रोओं में व्याप्त यही राग उसकी शिराप्रशिराओं में प्रवाहित हो, अनेकता में एकता का संचार करता यही विश्व वीणा के अगणित तारों से जीवन की अँगुलियों के कोमल कठोर घात प्रतिघातों लघु गुरु सम्पर्कों ऊँच-नीच प्रहारों से अनन्त झंकारों असंख्य स्वरों में फूटकर हमारे चारों ओर आनन्दाकाश के स्वरूप में व्याप्त हो जाता यही संसार के मानस समुद्र में अनेकानेक इच्छाओं आकांक्षाओं भावनाओं कल्पनाओं की तरंगों में प्रतिफलित हो, सौन्दर्य के सौ सौ स्वरूपों में अभिव्यक्ति पाता है। प्रेम के अक्षय मधु में सने मंजन के बीज रूप पराग में परिपूर्ण संसार के मानस शतदल के चारों ओर यह चिर अप्रसुप्त स्वर्ण भृंग एक अनन्त गुञ्जार में

मँडराता रहता है।

राग का अर्थ आकर्षण है, यह वह शक्ति है जिसके विद्युत्स्पर्श से खिंचकर हम शब्दों की आत्मा तक पहुँचते हैं, हमारा हृदय उनके हृदय में प्रवेश कर एक भाव हो जाता है। प्रत्येक शब्द एक संकेत मात्र, इस विश्वव्यापी संगीत की अस्फुट झंकार मात्र है। जिस प्रकार समग्र पदार्थ एक-दूसरे पर अवलम्बित हैं, ऋणानुबन्ध है, उसी प्रकार शब्द भी, ये सब एक विराट परिवार के प्राणी हैं। इनका आपस का सम्बन्ध, सहानुभूति, अनुराग विराग जान लेना, कहाँ कब एक की साड़ी का छोर उड़कर दूसरे का हृदय रोमांचित कर देता, कैसे एक की ईर्ष्या अथवा क्रोध दूसरे का विनाश करता, कैसे फिर दूसरा बदला लेता, कैसे ये गले लगते, बिछुड़ते, कैसे जन्मोत्सव मनाते तथा एक दूसरे की मृत्यु से शोकाकुल होते,—इनकी पारस्परिक प्रीति मैत्री, शत्रुता तथा वैमनस्य का पता लगा लेना क्या आसान है ? प्रत्येक शब्द एक-एक कविता है, लक्ष और मल द्वीप की तरह कविता भी अपने बनाने वाले शब्दों की कविता को खा खाकर बनती है।

जिस प्रकार शब्द एक ओर व्याकरण के कठिन नियमों से बद्ध होते उसी प्रकार दूसरी ओर राग के आकाश में पक्षियों की तरह स्वतन्त्र भी होते हैं। जहाँ राग की उन्मुक्त स्नेहशीलता तथा व्याकरण की नियमवश्यता में सामंजस्य रहता है वहाँ कोमल मा तथा कठोर पिता के घर में लालित पालित सन्तान की तरह शब्दों का भरण पोषण अंग विन्यास तथा मनोविकास स्वाभाविक और यथेष्ट रीति से होता है। कौन जानता है, कब, कहाँ और किस नदी के किनारे न जाने कौन एक दिन साँझ या सुबह के समय वायु का सेवन कर रहा था, शायद बरसात बीत गयी थी, शरद की निर्मलता कलरव की लहरों में उच्छ्वसित हो न जाने किस ओर बह रही थी। अचानक, एक अप्सरा जल से बाहर निकल मुँह से रेशमी घूँघट हटा, अपने सुनहले पंख फैला क्षण भर चंचल लहरों की ताल पर मधुर नृत्य कर, अन्तर्धान हो गयी। जैसे उस परिस्फुट यौवना सरिता ने अपने मीन लोचन से कटाक्षपात किया हो। तब मीन आँखों का उपमान भी न बना होगा, न जाने हर्ष तथा विस्मयातिरेक से किस अज्ञात कवि के हृदय से क्या कुछ निकल पड़ा—'मत्स्य।' उस कवि का समस्त आनन्द आश्चर्य, भय, प्रेम रोमांच तथा सौन्दर्यानुभूति जैसे सहसा 'मत्स्य' शब्द के रूप में प्रतिध्वनित तथा संगृहीत हो साकार बन गयी। अब भी यह शब्द उसी चटुल मछली की तरह पानी में छप छप शब्द करता हुआ, एक बार क्षिप्रगति से उछलकर फिर अपनी ही चंचलता में जैसे डूब जाता है। शकुन्तला नाटक के "पश्चार्धेन प्रविष्ट शरपतनभयात् भूयसा पूर्वकायम्" मृग की तरह इस शब्द का पूर्वार्ध भी जैसे अपने पश्चार्ध में प्रवेश करना चाहता है।

भिन्न भिन्न पर्यायवाची शब्द प्रायः संगीत भेद के कारण एक ही पदार्थ के भिन्न भिन्न स्वरूपों को प्रकट करते हैं। 'भ्रू' से क्रोध की वक्रता, 'भृकुटि' से कटाक्ष की चंचलता, 'भौंहों' से स्वाभाविक प्रसन्नता ऋजुता का हृदय में अनुभव होता है। ऐसे ही 'हिलोर' में उठान, 'लहर' में सलिल के वक्षःस्थल की कोमल कम्पन, 'तरंग' में लहरों के समूह का

एक-दूसरे को धकेलना, उठकर गिर पडना, 'बढो बढो' कहने का शब्द मिलता है, 'वीचि' से जैसे किरणो मे चमकती, हवा के पलने मे हौले-हौले झूमती हुई हसमुख लहरियो का, 'ऊर्मि' से मधुर मुखरित हिलोरो का, हिल्लोल कल्लोल से ऊँची ऊँची बाँहें उठाती हुई उत्पातपूर्ण तरगो का आभास मिलता है। 'पख' शब्द मे केवल फडक ही मिलती है, उडान के लिए भारी लगता है, जैसे किसी ने पक्षी के पखो मे शीशे का टुकडा बाध दिया हो, वह छटपटाकर बार-बार नीचे गिर पडता हो, अगरजी का 'विग' जैसे उडान का जीता जागता चित्र है। उसी तरह 'टच' म जो छूने की कोमलता है, वह स्पश मे नही मिलती। स्पश जैसे प्रेमिका के अगो का अचानक 'स्पश' पाकर हृदय मे जो रोमाच हो उठता है, उसका चित्र है व्रज भाषा के 'परस' मे छूने की कोमलता अधिक विद्यमान है, 'जाय से जिस प्रकार मुह भर जाता है, 'हृष' स उसी प्रकार आनन्द का विद्युत स्फुरण प्रकट होता है। अग्रेजी के 'एअर' मे एक प्रकार की ट्रासपरेसी मिलती है, मानो इसके द्वारा दूसरी ओर की वस्तु दिखायी पडती हो, 'अनिल' से एक प्रकार की कोमल शीतलता का अनुभव होता है, जैसे खस की टट्टी मे छनकर आ रही हो, 'वायु' मे निर्मलता तो है ही, लचीलापन भी है, यह शब्द रबर के फीते की तरह खिंचकर फिर अपने ही स्थान पर आ जाता है 'प्रभजन' विड की तरह शब्द करता, बालू के कण और पत्तो को उडाता हुआ बहता है 'श्वसन' की सनसनाहट छिप नही सकती 'पवन' शब्द मुझे ऐसा लगता है जैसे हवा रुक गयी हो, 'प' और 'न' की दीवारो से घिर सा जाता है, समीर' लहराता हुआ बहता है।

कविता के लिए चित्र भाषा की आवश्यकता पडती है, उसके शब्द, सस्वर होने चाहिए जो बोलते हो, सेब की तरह जिनके रस की मधुर लालिमा भीतर न समा सकने के कारण बाहर झलक पडे, जो अपने भावो को अपनी ही ध्वनि मे आखो के सामने चित्रित कर सकें जो झकार मे चित्र चित्र मे झकार हो जिनका भाव सगीत विद्युतधारा की तरह रोम रोम मे प्रवाहित हो सके जिनका सौरभ सूघते ही सासो द्वारा अन्दर पैठकर हृदयाकाश मे समा जाय जिनका रस मदिरा की फेन राशि की तरह अपने प्याले से बाहर छलक उसके चारो ओर मोतियो की झालर की तरह झूमने लगे, छत्ते मे न समाकर मधु की तरह टपकने लगे, अधनिशीथ की तारावली की तरह जिनकी दीपावली अपनी मौन जडता के अन्धकार को भेदकर अपने ही भावो की ज्योति मे दमक उठे जिनका प्रत्येक चरण प्रियगु की डाल की तरह अपने ही सौन्दय के स्पश से रोमाचित रहे, जापान की द्वीपमालिका की तरह जिनकी छोटी छोटी पक्तिया अपने अन्तस्तल मे सुलगी ज्वालामुखी को दबा न सकने के कारण अनन्त श्वासोच्छ्वासो के भूकम्प मे कापती रहें।

भाव और भाषा का सामजस्य उनका स्वरैक्य ही चित्र राग है। जब भाव ही भाषा मे घनीभूत हो गये हो निर्झरिणी की तरह उनकी गति और रव एक बन गये हो छुडाये न जा सकते हो, कवि का हृदय जब नीड म सुप्त पक्षी की तरह किसी अज्ञात स्वर्ण रश्मि के स्पर्श से जगकर एक अनिर्वचनीय आकुलता से, सहसा अपने स्वर की

सम्पूर्ण स्वतन्त्रता म कूक उठा हो, एक रहस्यपूर्ण सगीत के स्रोत म उमड चला हो, अन्तर का उल्लास जसे अपने फूट पडने के स्वभाव से बाध्य होकर, वीणा के तारो की तरह, अपने आप झकारो मे नृत्य करने लगा हो, भावनाओ की तरुणता, अपने ही आवेश स अधीर हो, जैसे शब्दो के चिरालिगन पाश मे बँध जाने के लिए, हृदय के भीतर स अपनी बाहें बढाने लगी हो, —यही भाव और स्वर का मधुर मिलन, सरस सधि है। हृदय के कुज मे छिपी हुई भावना मानो चिरकाल तक प्रतीक्षा करने के बाद अपन प्रियतम से मिली हो, और उसके रोएँ रोए आनन्दोद्रेक से झनझना उठे हो।

जहा भाव और भाषा मे मैत्री अथवा ऐक्य नही रहता, वहा स्वरो के पावस मे केवल शब्दो के 'बटु समुदाय' ही, दादुरो की तरह, इधर-उधर कूदते, फुदकते तथा सामध्वनि करते सुनायी देते है। ब्रज भाषा के अलकृत काल की अधिकाश कविता इसका उदाहरण है। अनुप्रासो की ऐसी अराजकता तथा अलकारो का ऐसा व्यभिचार और कही देखने को नही मिलता। स्वस्थ वाणी म जो एक सौन्दय मिलता है उसका कही पता ही नही! उस "सूधे पाव न धरि सकत शोभा ही के भार" वाली व्रज की वासकसज्जा का सुकुमार शरीर अलकारो के अस्वाभाविक बोझ से ऐसा दबा दिया गया, उसके कोमल अगो म कलम की नाक से असस्कृत रुचि की स्याही का ऐसा गोदना भर दिया गया कि उसका प्राकृतिक रूप रग कही दीख ही नही पडता, उस बालिका के अस्थिहीन अग खीच-खाँच, तोड मरोडकर प्रोक्रस्टीज की तरह किसी प्रकार छन्दो की चार पाई मे बाध दिये फिट कर दिये गये हैं! प्रत्येक पद्य, म्यसरस वाइट अवे लेडला एड को० के कैटेलाग मे दी हुई नर नारियो की तस्वीरो की तरह, —जिनकी सत्ता ससार मे और कही नही —एक नये फैशन के गाउन या पेटीकोट नयी हैट या अण्डरवियर नये विन्यास के अलकार आभूषण अथवा वस्त्रो के नये नये नमूनो का विज्ञापन देने के लिए ही जस बनाया गया हो।

अलकार केवल वाणी की सजावट के लिए नही, वे भाव की अभिव्यक्ति के विशेष द्वार हैं। भाषा की पुष्टि के लिए, राग की परिपूर्णता के लिए आवश्यक उपादान हैं, वे वाणी के आचार, व्यवहार, रीति, नीति हैं, पथक स्थितियो के पथक स्वरूप, भिन्न अवस्थाओ के भिन्न चित्र हैं। जैसे वाणी की झकारें विशेष घटना से टकराकर फेनाकार हो गयी हो, विशेष भावो के झोके खाकर बाल लहरियो तरुण तरगो म फूट गयी हो, कल्पना के विशेष बहाव म पड आवर्तों मे नृत्य करने लगी हों। वे वाणी के हास अश्रु, स्वप्न, पुलक, हाव भाव हैं। जहाँ भाषा की जाली केवल अलकारो के चौखटे मे फिट करने के लिए बुनी जाती है, वहाँ भावो की उदारता शब्दो की कृपण जडता म बधकर सेनापति के दाता और सूम की तरह 'इकसार' हो जाती है।

जिस प्रकार सगीत मे सात स्वर तथा उनकी श्रुति मूर्च्छनाएँ केवल राग की अभिव्यक्ति के लिए होती हैं, और विशेष स्वरो के योग, उनके विशेष प्रकार के आरोह अवरोह से भिन्न राग का स्वरूप प्रकट होता है, उसी प्रकार कविता मे भी विशेष अलकारों, लक्षणा-व्यजना आदि

विशेष शब्द शक्तियां तथा विशेष छन्दों में सम्मिश्रण और सामंजस्य से विशेष भाव की अभिव्यक्ति करने में सहायता मिलती है। जहाँ उपमा उपमा के लिए, अनुप्रास अनुप्रास के लिए, श्लेष अपह्नुति गूढ़ोक्ति आदि अपने-अपने लिए हो जाते—जैसे पक्षी का प्रत्येक पंख यह इच्छा करे कि मैं भी पक्षी की तरह स्वतन्त्र रूप से उड़ूँ—वे अभीप्सित स्थान में पहुँचने के मार्ग न रहकर स्वयं अभीप्सित स्थान, अभीप्सित विषय बन जाते हैं, वहाँ बाजे के सब स्वरों के साथ चिल्ला उठने से राग का स्वरूप अपने ही तत्त्वों के प्रलय में लुप्त हो जाता है, काव्य के साम्राज्य में अराजकता पैदा हो जाती है, कविता सम्राज्ञी हृदय के सिंहासन से उतार दी जाती, और उपमा, अनुप्रास, यमक, रूपक आदि उसके अमात्य, सचिव, शरीर रक्षक तथा राजकर्मचारी, शब्दों की छोटी मोटी सेनाएं संगृहीत कर, स्वयं शासक बनने की चेष्टा में विद्रोह खड़ा कर देते, और सारा साम्राज्य नष्ट भ्रष्ट हो जाता है।

कविता में शब्द तथा अर्थ की अपनी स्वतन्त्र सत्ता नहीं रहती, वे दोनों भाव की अभिव्यक्ति में डूब जाते हैं, तब भिन्न भिन्न आकारों में कटी छँटी शब्दों की शिलाओं का अस्तित्व ही नहीं मिलता, राग के लेप से उनकी संधियाँ एकाकार हो जाती हैं, उनका अपना रूप भाव के बहुत्स्वरूप में बदल जाता, किसी के कुशल करों का मायावी स्पर्श उसकी निर्जीवता में जीवन फूँक देता, वे अहल्या की तरह शापमुक्त हो जग उठते, हम उन्हें पाषाण खण्डों का समुदाय न कह, ताजमहल कहने लगते, वाक्य न कह, काव्य कहने लगते हैं। जिस प्रकार संगीत में भिन्न भिन्न स्वर राग की लय में ऐसे मिल जाते हैं कि हम उन्हें पृथक् नहीं कर सकते, यहाँ तक कि उनके होने न होने की ओर हमारा ध्यान ही नहीं जाता, हम केवल राग के सिंधु में डूब जाते हैं, उसी प्रकार कविता में भी शब्दों के भिन्न भिन्न वर्ण एक होकर रस की धारा के स्वरूप में बहने लगते उनकी लँगड़ाहट में गति आ जाती, हम केवल रस की धारा को ही देख पाते हैं, कणों का हमें अस्तित्व ही नहीं मिलता।

जिस प्रकार किसी प्राकृतिक दृश्य में, उसके रंग बिरंगे पुष्पों, लाल हरे पीले, छोटे बड़े तृण गुल्म लताओं, ऊँची नीची सघन विरल वृक्षावलियों झाड़ियों, छाया ज्योति की रेखाओं, तथा पशु पक्षियों की प्रचुर ध्वनियों का सौंदर्य रहस्य उनके एकांत सम्मिश्रण पर ही निर्भर रहता और उनमें से किसी एक को अपनी मैत्री अथवा सम्पूर्णता में अलग कर देने पर वह अपना इन्द्रजाल खो बैठता है, उसी प्रकार काव्य के शब्द भी परस्पर अन्योन्याश्रित होने कारण, एक दूसरे के बल से सशक्त रहते, अपनी संकीर्णता की झिल्ली तोड़, तितली की तरह, भाव तथा राग के रंगीन पंखों में उड़ने लगते, और अपनी डाल से पृथक् होते ही शिशिर की बूँद की तरह अपना अमूल्य मोती गवाँ बैठते हैं।

व्रज भाषा के अलंकृत काल में संगीत के आदर्श का जो अधःपात हुआ उसका एक मुख्य कारण तत्कालीन कवियों के छन्दों का चुनाव भी है। कविता तथा छन्द के बीच बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है, कविता हमारे प्राणों का संगीत है, छन्द हृत्कम्पन कविता का स्वभाव ही छन्द में लयमान होना है। जिस प्रकार नदी के तट अपने बंधन से धारा

की गति को सुरक्षित रखते,—जिनके बिना वह अपनी ही बन्धनहीनता मे अपना प्रवाह खो बैठती है, उसी प्रकार छन्द भी अपने नियन्त्रण से राग को स्पन्दन, कम्पन तथा वेग प्रदान कर, निर्जीव शब्दो के रोडो मे एक कोमल, सजल कलरव भर, उन्हे सजीव बना देते हैं। वाणी की अनियमित साँसें नियन्त्रित हो जाती, तालयुक्त हो जाती, उसके स्वर मे प्राणायाम, रोओ मे स्फूर्ति आ जाती, राग की असम्बद्ध झकारें एक वत्त मे बँध जाती, उनमे परिपूर्णता आ जाती है। छन्दबद्ध शब्द, चुम्बक के पार्श्ववर्ती लोहचूर्ण की तरह अपने चारो ओर एक आकर्षण क्षेत्र (मैग्नेटिक फील्ड) तैयार कर लते, उनमे एक प्रकार का सामजस्य, एक रूप, एक विन्यास आ जाता, उनमे राग की विद्युतधारा बहने लगती, उनके स्पर्श मे एक प्रभाव तथा शक्ति पैदा हो जाती है।

कविता हमारे परिपूर्ण क्षणो की वाणी है। हमारे जीवन का पूर्ण रूप, हमारे अन्तरतम प्रदेश का सूक्ष्माकाश ही सगीतमय है, अपने उत्कृष्ट क्षणो मे हमारा जीवन छन्द ही मे बहने लगता, उसमे एक प्रकार की सम्पूर्णता, स्वरैक्य तथा सयम आ जाता है। प्रकृति के प्रत्येक कार्य, रात्रि दिवस की आँखमिचौनी, षडऋतु परिवर्तन, सूर्य शशि का जागरण शयन, ग्रह उपग्रहो का अश्रान्त नर्तन,—सृजन, स्थिति, सहार,—सब एक अनन्त छन्द, एक अखण्ड सगीत ही मे होता है।

भौगोलिक स्थिति, शीत ताप, जलवायु, सभ्यता आदि के भेद के कारण ससार की भिन्न भिन्न भाषाओ के उच्चारण सगीत मे भी विभिन्नता आ जाती है। छन्द का भाषा के उच्चारण, उसके सगीत के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है। सस्कृत का सगीत समास सन्धि की अधिकता, शब्द और विभक्तियो की अभिन्नता के कारण शृखलाकार, मेखलाकार हो गया है उसमे दीर्घ श्वास की आवश्यकता पडती है। उसके शब्द एक दूसरे का हाथ पकड, कन्धे मे कन्धा मिलाकर मालाकार घूमते, एक के बिना जसे दूसरा रह नही सकता, एक शब्द का उच्चारण करते ही सारा वाक्य मुह से स्वय बाहर निकल आना चाहता, एक कोना पकडकर हिला देने से सारा चरण जजीर की तरह हिलने लगता है। शब्दो की इस अभिन्न मैत्री, इस अन्योन्याश्रय ही के कारण सस्कृत मे वर्णवृत्तो का प्रादुर्भाव हुआ, उसका राग ऐसा सान्द्र तथा सम्बद्ध है कि सस्कृत के छन्दो मे अन्त्यानुप्रास की आवश्यकता ही नही रहती, उसके लिए स्थान ही नही मिलता। वर्णिक छन्दो मे जो एक नृपोचित गरिमा मिलती है वह 'तुक' के सकेतो तथा नियमो के अधीन होकर चलना अस्वीकार करती है, वह ऐरावत की तरह अपने ही गौरव मे झूमती हुई जाती, तुक का अकुश उसकी मान मर्यादा के प्रतिकूल है। जिस प्रकार सस्कृत के सगीत की गरिमा की रक्षा करने के लिए उसे पूर्ण विकास देने के लिए, उसमे वर्णवृत्तो की आवश्यकता पडी, उसी प्रकार वर्णवृत्तो के कारण सस्कृत मे अधिकाधिक पर्यायवाची शब्दो की। उसमे पर्यायो की तो प्रचुरता है, पर भावो के छोटे-बडे चढाव-उतार, उनकी श्रुति तथा मूर्च्छनाओ, लघु गुरु भेदो को प्रकट करने के लिए पर्याप्त शब्दो का प्रादुर्भाव नही हो सका। वर्णवृत्तो के निर्माण मे विशेषणो तथा पर्यायो से अधिक सहायता मिलने के कारण उपर्युक्त अभाव

विशेषणो की मीडो से ही पूरा कर लिया गया। यही कारण है कि रिपल विलो, वेव, टाइड आदि वस्तु के सूक्ष्म भेदोपभेद द्योतक शब्दो को गढने की ओर संस्कृत के कवियो का उतना ध्यान नही रहा, जितना तुल्यार्थ शब्दो को बढाने की ओर।

संस्कृत का संगीत जिस तरह हिल्लालाकार मालोपमा म प्रवाहित होता है, उस तरह हिन्दी का नही। वह लोल लहरो का चचल कलरव, बाल झकारो का छेकानुप्रास है। उसम प्रत्येक शब्द का स्वतन्त्र हृत्स्पन्दन, स्वतन्त्र अगभगी, स्वाभाविक सासें हैं। हिन्दी का संगीत स्वरो की रिमझिम मे बरसता, छनता छनकता, बुदबुदो म उबलता, छोटे-छोटे उत्सो के कलरव मे उछलता किलकता हुआ बहता है। उसके शब्द एक दूसरे के गले पडकर, पगो से पग मिलाकर, सेनाकार नही चलते, बच्चो की तरह अपनी ही स्वच्छन्दता मे थिरकते कूदते हैं। यही कारण है कि संस्कृत मे संयुक्ताक्षर के पूर्व अक्षर को गुरु मानना आवश्यक सा हो जाता, वह अच्छा भी लगता है, हिन्दी मे ऐसा नियम नही और वह कर्ण कटु भी हो जाता है।

हिन्दी का संगीत केवल मात्रिक छन्दो ही मे अपना स्वाभाविक विकास तथा स्वास्थ्य की सम्पूर्णता प्राप्त कर सकता है, उन्ही के द्वारा उसमे सौन्दर्य की रक्षा की जा सकती है। वर्णवृत्तो की नहरो मे उसकी धारा अपना चचल नृत्य अपनी नैसर्गिक मुखरता, कल कल छल छल तथा अपने क्रीडा, कौतुक, कटाक्ष एक साथ ही खो बैठती, उसकी हास्य दृप्त सरल मुखमुद्रा गम्भीर, मौन तथा अवस्था मे अधिक प्रौढ हो जाती, उसका चचल भृकुटि भग दिखलावटी गरिमा से दब जाता है। ऐसा जान पडता है कि उसके चचल पदो से स्वाभाविक नृत्य छीनकर किसी ने बलपूर्वक, उन्हे सिपाहियो की तरह गिन गिनकर पाँव उठाना सिखला कर, उनकी चचलता को पदचालन के व्यायाम की बेडी से बाध दिया है। हिन्दी का संगीत ही ऐसा है कि उसके सुकुमार पद क्षेप के लिए वर्णवृत्त पुराने फैशन के चादी के कडो की तरह बडे भारी हो जाते हैं, उसकी गति शिथिल तथा विकृत हो जाती, उसके पदा मे वह स्वाभाविक नूपुर ध्वनि नही रहती।

बँगला के छन्द भी हिन्दी कविता के लिए सम्यक वाहन नही हो सकते, बगला भाषा का संगीत आलापप्रधान होने से अनियन्त्रित सा है। उसकी धारा पहाडी नदी की तरह ओठो के तटो से टकराती, ऋजु कुचित चक्कर काटती मन्द क्षिप्र गति बदलती, स्वरपात के रोडो का आघात पाकर फेनाकार शब्द करती अपनी शब्द राशि को झकोरती, धकेलती चढती, गिरती, उठती पडती हुई आगे बढती है। उसके अक्षर हिन्दी की रीति स ह्रस्व दीर्घ के पलडो म सूक्ष्म रूप स नही तुले मिलत, उनका मात्रा काल उच्चारण की सुविधानुसार न्यूनाधिक होता जाता है। अँगरेजी की तरह बँगला म भी स्वरपात (एक्सेंट) अधिक परिस्फुट रूप मे मिलता है। यदि अँगरेजी तथा बँगला के शब्द हिन्दी के छन्दो म कम्पोज कर कस दिये जायँ तो वे अपना स्वर खो बैठें। संस्कृत के शब्द जैसे नपे-तुले कटे छँटे (डायमण्ड कट के) होत हैं वैसे बँगला और अँगरेजी के नही, वे जैसे लिखे जाते वैसे नही पढे जात। बँगला

के शब्द, उच्चारण की धारा मे पड, स्पज के टुकडे की तरह स्वर से फूल उठते, और अंगरेजी के शब्दो का कुछ नुकीला भाग, उच्चारण करते समय, विलायती मिठाई की तरह, मुह के भीतर ही गलकर रह जाता वे चिकने चुपडे, गोल तथा कोमल होकर बाहर निकलते हैं।

बँगला म, अधिकतर, अक्षर मात्रिक छ दा मे कविता की जाती है। पुराने वष्णव कवियो के अतिरिक्त,—जि होने सस्कृत और हि दी के ह्रस्व दीघ का ढग अपनाया —अ यत्र, ह्रस्व दीघ के नियमो पर बहुत कम कविता मिलती है, इस प्रणाली पर चलने से बँगला का स्वाभाविक सगीत विनष्ट भी हो जाता रवी द्र के ह्रस्व दीघ म बँगला का प्रकृतिगत राग अधिक प्रस्फुटित तथा परिपूण मिलता है, उसके अनुसार ए 'ओ तथा सयुक्ताक्षर के पूव वण को छोडकर और सवत्र— आ, ई ऊ, ए, ओ मे—एक ही मात्राकाल माना जाता, और वास्तव मे बँगला मे इनका ठीक ठीक दीघ उच्चारण भी नही। पर हि दी मे तो सोने की तोल है, उसम आप रत्ती भर भी किसी मात्रा को, उच्चा रण की सुविधा के लिए घटा बढा नही सकते, उसकी आवश्यकता ही नही पडती, इसलिए बँगला छ दो की प्रणालिया मे ढालने मे उसके सगीत की रक्षा नही हो सकती।

ब्रज भाषा के अलङ्कृत काल मे 'सवया' और 'कवित्त का ही बोल-बाला रहा, दोहा, चौपाई महात्मा तुलसीदास जी न इतने ऊँच उठा दिये ऐसे चमका दिये, तुलसी की प्रगाढ भक्ति के उद्गारो को बहाते-बहाते उनका स्वर ऐसा सध गया, ऐसा उज्ज्वल, पवित्र तथा परिणत हो गया था कि एक-दो को छोड, अ य कवियो की उन पवित्र स्वरो को अपनी शृगार की त त्री म चढाने का साहस ही नही हुआ उनकी लेखनी द्वारा वे अधिक परिपूण रूप पा भी नही सकते थे। इसके अति रिक्त सवैया तथा कवित्त छ दो मे रचना करना आसान भी होता है, और सभी कवि सभी छ दो मे सफलतापूवक रचना कर भी नही सकते। छ दो को अपनी अँगुलियो मे नचाने के पूव कवि को छ दो के सकेतो पर नाचना पडता है, सरकस के नवीन अदम्य अश्वो की तरह उ ह साधना, उनके साथ साथ घूमना, दौडना चक्कर खाना पडता है, तब कही वे स्वेच्छानुसार इगित मात्र पर वतुलाकार, अण्डाकार आयताकार नचाये जा सकते हैं। जिस प्रकार सा रे ग म आदि स्वर एक होने पर भी पृथक पृथक वाद्य य त्रो मे उनकी पृथक पृथक् रीति से साधना करनी पडती है, उसी प्रकार भिन्न भि न छ दो के तारो, परदो तथा तन्तुओ से भाव नाओ का राग जाग्रत करने के पूव भि न भि न प्रकार से निहित प्रत्येक की स्वर योजना से परिचय प्राप्त कर लेना पडता है, तभी छ दो की त त्रियो से कल्पना की सूक्ष्मता, सुकुमारता, उसके बोल, तान, आलाप, भावना की मुरकिया तथा मीडें स्वच्छ दता तथा सफलतापूवक झकारित की जा सकती हैं। प्राय देखा जाता है कि प्रत्येक कवि के अपने विशेष छ द होते है जिनम उसकी छाप सी लग जाती, जिनके ताने बाने मे वह अपने उदगारों को कुशलतापूवक बुन सकता है। खडी बोली के कवियो म गुप्त जी को हरिगीतिका, हरिऔध जी को चौपदो, सनेही जी को षट्पदियो मे विशेष सफलता प्राप्त हुई है।

पिंगलाचार्य केशवदास जी अपनी रामचंद्रिका को जिन जिन छंदो ढियो तथा सुरंगो से ले गये हैं, उनमे अधिकांश उनसे अपरिचित सी जान पड़ती हैं, जिनके रहस्यो से वे पूर्णतया अनभिज्ञ थे। ऐसा जान पड़ता है, उन्होने बलपूर्वक शब्दो की भीड़ को ठेल, छंदो के कंधे पिचकाकर अपनी कविता की पालकी को आगे बढ़ाया है, नौसिखिये साइकिलिस्ट की तरह, जिसे साइकिल पर चढ़ने का अधिक शौक होता है, उनके छंदो के पहिये, बैलेन्स ठीक ठीक न रहने के कारण, डगमगाते, आवश्यकता से अधिक हिलते डुलते हुए जाते हैं।

सवैया तथा कवित्त छंद भी मुझे हिंदी की कविता के लिए अधिक उपयुक्त नही जान पड़ते। सवैया मे एक ही सगण की आठ बार पुनरावृत्ति होने से, उसमे एक प्रकार की जड़ता, एकस्वरता (मानोटनी) आ जाती है। उसके राग का स्वरपात बार बार दो लघु अक्षरो के बाद आनेवाले गुरु अक्षर पर पड़ने से सारा छंद एक तरह की कृत्रिमता तथा राग की पुनरुक्ति से जकड़ जाता है। कविता की लड़ी मे, छंद की डोरी पर दानो के बीच दी हुई स्वरो की गाँठें तो बड़ी बड़ी होकर सामने आ जाती हैं, और भावद्योतक शब्दो की गुरियाँ छोटी पड़, उन गाँठो के बीच छिप जाती हैं। चूने के पक्के किनारो के बीच बहती हुई धारा की तरह, रस की स्रोतस्विनी से, अपने वेगानुसार तटो मे स्वाभाविक काट छाँट करने का अधिकार छीन लिया जाता है, अपने पुष्प गुल्म लताओ के कोमल पुलिनो से चुम्बन आलिंगन बदलने, प्रवाह के बीच पड़े हुए रंग बिरंगे रोड़ो से फेनिल हास परिहास करने, क्षिप्र आवर्तों के रूप मे भ्रूपात करने का उस अवसर ही नही मिलता, वह अपने जीवन की विचित्रता (रोमांस), स्वतंत्रता तथा स्वच्छंदता खो बैठती है।

कवित्त छंद, मुझे ऐसा जाना पड़ता है, हिंदी का औरसजात नही, पोष्यपुत्र है, न जाने यह हिंदी मे कैसे और कहाँ से आ गया, अक्षर मात्रिक छंद बंगला मे मिलते हैं हिंदी के उच्चारण संगीत की ये रक्षा नही कर सकते। कवित्त को हम सलापोचित (क्लाकियल) छंद कह सकते हैं, सम्भव है, पुराने समय मे भाट लोग इस छंद मे राजा महाराजाओ की प्रशंसा करते हो और इसमे रचना सौकर्य पाकर, तत्कालीन कवियो ने धीरे धीरे इसे साहित्यिक बना दिया हो।

हिंदी का स्वाभाविक संगीत ह्रस्व दीर्घ मात्राओ को स्पष्टतया उच्चारित करने के लिए पूरा पूरा समय देता है। मात्रिक छंद मे बद्ध प्रत्येक लघु गुरु अक्षर को उच्चारण करने मे जितना काल तथा विस्तार मिलता, उतना ही स्वाभाविक वार्तालाप में भी साधारणतः मिलता है, दोनो मे अधिक अंतर नही रहता। यही हिंदी के राग की सुंदरता अथवा विशेषता है। पर कवित्त छंद हिंदी के इस स्वर और लिपि के सामंजस्य को छीन लेता है। उसमे यति के नियमो के पालनपूर्वक, चाहे आप इकत्तीस गुरु अक्षर रख दें, चाहे लघु, एक ही बात है कि छंद की रचना मे अन्तर नही आता। इसका कारण यह है कि कवित्त मे प्रत्येक अक्षर को चाहे वह लघु हो या गुरु, एक ही मात्रा काल मिलता है जिससे छंदबद्ध शब्द एक दूसरे को झकोरते हुए, परस्पर टकराते हुए उच्चारित होते हैं, हिंदी का स्वाभाविक संगीत नष्ट हो जाता है। सारी

शब्दावली जैसे मद्यपान कर लडखडाती हुई, अडती, खिचती, ए
जित तथा विदेशी स्वरपात के साथ बोलती है। कवित्त छन्द के
चरण के अधिकाश शब्दों को किसी प्रकार मात्रिक छन्द म बाध
यथा—

'कूलन म केलिन कछारन मे कुजन मे क्यारिन मे कलित
किलकन्त है"—इस लडी को या सोलह मात्रा के छन्द मे रख दीजि

"सु कूलन मे केलिन म (और)
कछारन कुजन मे (सब ठौर)
कलित क्यारिन म (कल) किलकन्त
बनन मे बगर्यो (विपुल) वसन्त।"

अब दोनो को पढिए और देखिए कि उन्ही 'कूलन केलिन
शब्दों का उच्चारण सगीत इन दोनो छन्दो मे किस प्रकार भिन्न
जाता है, कवित्त म परकीय, मात्रिक छन्द मे स्वकीय, हिन्दी का
उच्चारण मिलता है।

इस अनियन्त्रित छन्द मे नायक नायिकाओ तथा अलकारो क
पन मात्र देने मे केवल स्याही का ही अधिक अपव्यय नही हुआ, त
कविता का राग भी शब्द प्रधान हो गया। वाणी के स्वाभाविक रू
सगीत का विकास तो रुक गया, उनकी पूर्ति अनुप्रासो तथा अलक
अधिकता स करनी पडी। कवित्त छन्द म जब तक अलकारो की
न हो तब तक वह सजता भी नही, अपनी कुलवधू की तरह दो
आभूषण उपहार पाकर ही वह प्रसन्नता से प्रदीप्त नही हो
गणिका की तरह अनेकानेक वस्त्र भूषण ऐंठ लेने पर ही कही अ
रसालाप करने देता है।

इसका कारण यह है कि काव्य सगीत के मूल तन्तु स्वर हैं,
व्यजन, जिस प्रकार सितार मे राग का रूप प्रकट करने के लि
'स्वर के तार' पर ही कर सचालन किया जाता और शेष तार केव
पूर्ति के लिए, मुख्य तार को सहायता देन भर के लिए झकारि
जाते, उसी प्रकार कविता म भी भावना का रूप स्वरो के स
उनकी यथोचित मैत्री पर ही निर्भर रहता है, ध्वनि चित्रण को
(जिसम राग व्यजन प्रधान रहता, यथा—"घन घमण्ड नभ
घोरा) अन्यत्र व्यजन सगीत भावना की अभिव्यक्ति को प्रस्फुटि
म प्राय गौण रूप से सहायता मात्र करता है। जिस छन्द म स्वर
की रक्षा की जा सकती उसके सकोच प्रसार को यथावकाश
सकता है, उसमे राग का स्वाभाविक स्फुरण, भाव तथा व
सामजस्य पूर्ण रूप से मिलता है, जहाँ राग केवल व्यजनो की
म झूलता वहा अलकारो की झलक के साथ केवल हिडोरे
रमक सुनायी पडती है। कवित्त का राग व्यजनप्रधान है, उस
अथवा मात्राओ के विकास के लिए अवकाश नही मिलता। नी
उदाहरण देकर इसे स्पष्ट करूँगा—

"इन्द्रधनु-सा आशा का छोर
अनिल म अटका कभी अछोर इस मात्रिक छन्द मे 'सा मा
इन चार वर्णों मे

की तरह अनिल मे अछोर अटका देता है द्वितीय चरण मे 'अ' की पुनरावत्ति भी कल्पना का इस काम मे सहायता देती है, उसी प्रकार,

"कभी अचानक भूतो का सा
प्रकटा विकट महा आकार' इन चरणो मे स्वर के प्रसार द्वारा ही भूतो का महा आकार प्रकट होता है, 'क' 'ट' आदि व्यजना की आवत्ति उसे भीषण बनाने मे सहायता मात्र देती है, पुन —

"हमे उडा ले जाता जब द्रुत
दल बल युत घुस वातुल चोर' इसमे लघु अक्षरो की आवत्ति ही वातुल चोर के दल बल युत घुसने के लिए माग बनाती है। यदि आप उपयुक्त चरणा म किसी एक को कवित्त छन्द मे बाँधकर पढें, यथा —

'इन्द्रधनु सा आशा का छोर
अनिल म अटका कभी अछोर'
इस, 'इन्द्रधनु सा आशा का छोर अटका अछोर
अनिल मे, (अनिल के अचल आकाश मे)"

इस प्रकार रखकर पढें तो प्रत्येक अक्षर की कडी अलग अलग हो जाने, तथा स्वरो का प्रस्तार रुक जाने के कारण, राग के आकाश मे कल्पना का अछोर इन्द्रधनुष नही बनने पाता। उसी प्रकार—'अरी सलिल की लोल हिलोर,' इस पद मे 'ई' तथा 'ओ' की आवृत्ति जिस प्रकार 'हिलोर' को गिराती और उठाती तथा "पल पल परिवर्तित प्रकृति वेश' इस चरण मे लघु मात्राओ का समुदाय अथवा स्वरो का सकोच, गिलहरी की तरह दौडकर, जिस प्रकार प्रकृति के वेश को पल पल परिवर्तित कर दता, कवित्त छन्द की प्रेसिंग मशीन मे कस जाने पर उपयुक्त वाक्यो के पख उस प्रकार स्वच्छन्दतापूवक स्वराकाश मे नही उड सकते, क्योंकि वह छन्द हिन्दी के उच्चारण सगीत के अनुकूल नही है।

कविता विश्व का अन्तरतम सगीत है, उसके आनन्द का रोमहास है, उसमे हमारी सूक्ष्मतम दृष्टि का मम प्रकाश है। जिस प्रकार कविता मे भावो का अन्तरस्थ हृत्स्पन्दन अधिक गम्भीर, परिस्फुट तथा परिपक्व रहता है उसी प्रकार छन्दबद्ध भाषा मे भी राग का प्रभाव, उसकी शक्ति, अधिक जाग्रत प्रबल तथा परिपूण रहती है। राग ध्वनि लोक की कल्पना है। जो काय भाव जगत मे कल्पना करती, वह काय शब्द जगत मे राग, दोनो अभिन्न हैं। यदि किसी भाषा के छन्दो मे, भारती के प्राणो मे शक्ति तथा स्फूर्ति सचार करनेवाले उनके सगीत को अपनी उन्मुक्त झकारो के पखो मे उडने के लिए प्रशस्त क्षेत्र तथा विशदाकाश न मिलता हो, वह पिंजर बद्ध कीर की तरह छन्द के अस्वाभाविक बन्धनो स कुण्ठित हो, उडने की चेष्टा मे छटपटाकर गिर पडता हो, तो उस भाषा मे छन्द बद्ध काव्य का प्रयोजन ही क्या ? प्रत्येक भाषा के छन्द उसके उच्चारण सगीत के अनुकूल होने चाहिए। जिस प्रकार पतग डोर के लघु गुरु सकेतो की सहायता से और भी ऊँची ऊँची उडती जाती है, उसी प्रकार कविता का राग भी छन्द के इगितो स दप्त तथा प्रभावित होकर अपनी ही उन्मुक्ति म अनन्त की ओर अग्रसर होता जाता है। हमारे साधारण वार्तालाप म भाषा सगीत को जो यथेष्ट क्षेत्र नही प्राप्त होता उसी की पूर्ति के लिए काव्य म छन्दो का प्रादुर्भाव हुआ है। कविता मे भावो क

प्रगाढ सगीत के साथ भाषा का सगीत भी पूर्ण परिस्फुट होना चाहिए, तभी दोना मे सन्तुलन रह सकता है। पद्य को हम गद्य की तरह नही पढते, यदि ऐसा करें तो हम उसके साथ अन्याय ही करेंगे। पद्य मे वाणी का रोम्रॉ रोम्रा सगीत म सनकर, रस मे डूबे हुए किशमिश की तरह फूल उठना है, सुरो म सधी हुई वीणा की तरह उसके तार, किसी अज्ञात वायवीय स्पश से, अपने आप, अनवरत झकारो मे कापते रहते हैं, पावस की अँधियारी मे जुगुनुम्रो की तरह अपनी ही गति म प्रभा प्रसारित करते रहते हैं।

अब कुछ तुक की बाते होनी चाहिए। तुक राग का हृदय हैं, जहाँ उसके प्राणो का स्पन्दन विशेष रूप से सुनायी पडता है। राग की समस्त छोटी-बडी नाडिया मानो अन्त्यानुप्रास के नाडी चक्र मे केन्द्रित रहती, जहाँ से नवीन बल तथा शुद्ध रक्त ग्रहण कर वे छ द के शरीर मे स्फूर्ति सचार करती रहती हैं। जो स्थान ताल तरल मे 'सम' का है वही स्थान छन्द मे 'तुक' का, वहाँ पर राग शब्दो के सरल तरल ऋजुकुजित परनो म घूम-फिरकर विराम ग्रहण करता, उसका सिर जैसे अपनी ही स्पष्टता मे हिल उठता है। जिस प्रकार अपन अवरोह म राग सवादी स्वर पर बार बार ठहरकर अपना रूप विशेप व्यक्त करता है, उसी प्रकार वाणी का राग भी तुक की पुनरावृत्ति से स्पष्ट तथा परिपुष्ट होकर लययुक्त हो जाता है। तुक उसी छन्द मे अच्छा लगता है जो पद विशेष म गुथी हुई भावना का आधार स्वरूप हो। प्रत्येक वाक्य के प्राण शब्द-विशेष पर निहित अथवा अवलम्बित रहते है शेष शब्द उसकी पूर्ति के लिए, भाव को स्पष्ट करने के लिए सहायक मात्र होते हैं। उस शब्द का हटा देने से सारा वाक्य अर्थशून्य, हृदयहीन सा हो जाता है। वाक्य की डाल मे, अपने अन्य सहचरो की हरीतिमा से सुसज्जित, यह शब्द नीड की तरह छिपा रहता है, जिसके भीतर से भावना की कोकिला बोल उठती और वाक्य का प्रत्येक पत्र उसके राग की अपनी ममर ध्वनि मे प्रतिध्वनित कर परिपुष्ट करता है, इसी शब्द सम्राट के भाल पर तुक का मुकुट शोभा देता है। इसका कारण यह है कि अन्त्यानुप्रासवाला शब्द राग की आवृत्ति स सशक्त होकर हमारा ध्यान आकर्षित करता रहता है अत वाक्य का प्रधान शब्द होने के कारण वह भाव को हृदयगम कराने म भी सहायता देता है।

हमे अपनी दिनचर्या मे भी, प्राय एक प्रकार का तुक मिलता है, जो उसे नयमित तथा सीमाबद्ध रखता, जिसकी ओर दिन की छोटी-मोटी कार्यकारिणा वृत्तियाँ आकर्षित रहती हैं। जब हम उस सीमा को असावधानी के कारण उल्लघन कर बैठते हैं, तब हमारे काय हम तृप्ति नही देते, हमारे हृदय मे एक प्रकार का असतोष जमा हो जाता हम अपनी दिनचर्या का केन्द्र खो बठते, और स्वय अपनी ही आँखो मे बेतुके-स लगते हैं। एक और कारण से भी हम अपने जीवन का तुक खो बैठते हैं—जब हम अधिक काय व्यग्र अथवा भाराक्रान्त रहते उस समय काम काज का ऐसा ताप क्रिया का ऐसा स्पन्दन कम्पन रहता है कि हम अपनी स्वाभाविक दिनचर्या मे करने जानेवाले व्यवहार के लिए जीवन के स्वतन्त्र क्षणो मे प्रत्यक काय के साथ जो एक आनन्द की सृष्टि मिल

सोलह मात्रा का अरिल्ल छन्द भी निर्झरिणी की तरह कल्-कल् छल् छल करता हुआ बहता है। इसके तथा चौदह मात्रा के सखी छन्द की गति मे कितना अन्तर है? सखी छन्द के प्रत्येक चरण मे अन्त्यानुप्रास अच्छा नही लगता, दूर-दूर तुक रखने से यह अधिक करुण हो जाता है, अन्त म मगण के बदले भगण अथवा नगण रखन से इसकी लय म एक प्रकार का स्वर भग आ जाता है, जो करुणा का सचार करने मे सहायता देता है। पन्द्रह मात्रा का चौपाई छन्द अनमोल मोतियो का हार है, बाल साहित्य के लिए इससे उपयुक्त छन्द मुझे कोई नही लगता। इसकी ध्वनि म बच्चो की साँसें, बच्चो का कण्ठरव मिलता है, बच्चो की ही तरह यह चलन मे इधर उधर देखता हुआ, अपन को भूल जाता है। अरिल्ल भी बाल-कल्पना के पखो मे खूब उडता है।

हिन्दी मे मुक्त काव्य का प्रचार भी दिन दिन बढ रहा है, कोई इसे रबर काव्य कहते हैं, कोई कगारू। सन् १९२१ मे जब 'उच्छवास' मेरी विरह कृश लेखनी से यक्ष के कनक वलय' की तरह निकल पडा था, तब "निगम जी न 'सम्मेलन पत्रिका मे उस बीसवी' सदी के 'महा-काव्य' की आलोचना करत हुए लिखा था, 'इसकी भाषा रँगीली, छन्द स्वच्छन्द है।" पर उस वामन ने, जो कि लोकप्रियता के रात दिन घटने-बढन वाले चाँद को पकडने के लिए बहुत छोटा था कुछ ऐसी टागें फैला दी कि आज, सौभाग्य अथवा दुर्भाग्यवश हिन्दी मे सवत्र 'स्वच्छन्द छन्द ही की छटा दिखलायी पडती है।

यह 'स्वच्छन्द छन्द' ध्वनि अथवा लय (रिद्म) पर चलता है। जिस प्रकार जलौघ पहाड स निर्झर नाद मे उतरता, चढाव मे मन्द गति, उतार मे क्षिप्रवेग धारण करता, आवश्यकतानुसार अपने किनारो को काटता छाटता, अपने लिए ऋजु कुचित पथ बनाता हुआ आगे बढता है उसी प्रकार यह छन्द भी कल्पना तथा भावना के उत्थान पतन, आवतन-विवतन के अनुरूप सकुचित प्रसारित होता, सरल तरल, ह्रस्व दीघ गति बदलता रहता है।

इस मुक्त छन्द की विशेषता यह है कि इसमे भाव तथा भाषा का सामजस्य पूण रूप से निभाया जा सकता है। हरिगीतिका, पद्धरि, रोला आदि छन्दो मे प्रत्येक चरण की मात्राएँ नियमित रूप से बद्ध होने के कारण भावना को छन्द के अनुसार ले जाना किसी प्रकार खीच खाचकर उसके ढाँचे मे फिट कर देना पडता है, कभी पाद पूर्ति के लिए अनावश्यक शब्द भी रख देने पडते हैं। उग्रसाम्यवादियो की तरह ये छन्द बाह्य समानता चाहते हैं। मुक्त काव्य आन्तरिक ऐक्य, भाव जगत के साम्य को ढूढता है। उसमें छन्द के चरण भावानुकूल ह्रस्व दीघ हो सकत हैं। क्वार्टरो मे रहनेवाले बाबुओं की तरह, भावना को परतन्त्रता के हाथो बने हुए घरो के अनुसार, अपनी खाने पीने उठने-बैठन, सोन रहने की सुविधा को, कुछ इने गिने कमरो मे ही येन केन प्रकारेण ठूस ठाँसकर जीवन-निवाह नही करना पडता, वह अपनी स्वतन्त्र इच्छा स्वाभाविक रुचि के अनुरूप, अपनी आत्मा के सुविधानुसार, अपना निकेतन बनाता है जिसमे उसका जीवन अपने कुटुम्ब के साथ स्वेच्छानुसार हाथ पाँव फैलाकर सुखपूर्वक रह सके।

जाती, उसके लिए, अवकाश ही नहीं मिलता, हमारे काय प्रवाह म तीव्र गति रहती, हमारा जीवन एक प्रथा त दौड सा, कुछ समय के लिए, बन जाता है। यही ब्लव वस ययवा अतुकान्त कविता है। इसम कम (एक्शन) का प्राधान्य रहता है, दिन की उज्ज्वल ज्योति म काम का अधिक प्रकाश रहता, उनम हमे तुक नही मिलता, प्रभात और स ध्या के अवकाशपूण घाटो पर हमे इस तुक के दशन मिलत हैं, प्रत्यक पदाथ म एक सोन की भावपूर्ण, शात, सगीतमय छाप सी लग जाती, यही गीति-काव्य है।

हिन्दी म रोला छन्द अत्यानुप्रासहीन कविता के लिए विशेष उपयुक्त जान पडता है, उसकी सीमा म प्रशस्त जीवन तथा स्पन्दन मिलता है। उसके तुरही के समान स्वर स निर्जीव शब्द भी फडक उठत हैं। ऐसा जान पडता है, उसके राजपथ म मला लगा है प्रत्यक शब्द 'प्रवाल शोभा इव पादपाना' तरह तरह के सकेत तथा चेष्टाए करता, हिलता डुलता आगे बढता है।

भिन्न भिन्न छदो की भिन्न भिन्न गति होती, और तदनुसार वे रस-विशेष की सष्टि करने मे भी सहायता देत हैं। रघुवश म 'अज विलाप का वैतालीय छन्द करुण रस की अवतारणा के लिए कितना उपयुक्त है? उसके स्वर मे कितनी कातरता, दीनता तथा व्याकुलता भरी है? जैस अधिक उद्वेग के कारण उनका कण्ठ गदगद हो गया हो भर गया हो। यदि विहाग राग की तरह उस छन्द का चित्र भी खीचा होता तो उसकी आँखो म अवश्य आँसुओ का समुद्र उमडता हुआ मिलता। मालिनी छन्द मे भी करुण आह्वान अच्छा लगता है।

हिन्दी के प्रचलित छन्दो म पीयूष वषण, रूपमाला, सखी, और प्लवगम छन्द करुण रस के लिए मुझे विशेष उपयुक्त लगते हैं। पीयूष वषण की ध्वनि से कैसी उदासीनता टपकती है? मरुभूमि मे बहनवाली निजन तटिनी की तरह, जिसके किनारे पन्न पुष्पो के शृगार से विहीन, जिसकी धारा लहरो के चचल कलरव तथा हास परिहास स वचित रहती, यह छन्द भी वैधव्य वेश म, अकेलेपन म सिसकता हुआ, श्रान्त जिह्म गति से, अपने ही अश्रुजल से सिक्त धीरे धीरे बहता है। हरिगीतिका छन्द भी करुण रस के लिए अच्छा है।

रोला और रूपमाला दोनो छन्द चौबीस मात्रा के है पर इन दोनो की गति मे कितना अन्तर है? रोला जहाँ बरसाती नाले की तरह अपने पथ की रुकावटो को लाँघता तथा कलनाद करता हुआ आगे बढता है, वहा रूपमाला दिन भर के काम धन्धे के बाद अपनी ही थकावट के बोझ से लदे हुए किसान की तरह चिन्ता मे डूबा हुआ, नीची दष्टि किये ढीले पावो से जैस घर की ओर जाता है।

राधिका छन्द मे ऐसा जान पडता है जैसे इसकी क्रीडाप्रियता अपने ही परदो मे 'गत' बजा रही हो। जैसे परियो की टोली परस्पर हाथ पकड, चचल नूपुर नत्य करती हुई लहरो की तरह अग भगियो मे उठती झुकती कोमल कण्ठ स्वरो से गा रही हो। इस छन्द म जितनी ही अधिक लघु मात्राएँ रहेंगी, इसके चरणो मे उतनी ही मधुरता तथा नत्य रहेगा।

सोलह मात्रा का अरिल्ल छन्द भी निर्झरिणी की तरह कल-कल छल् छल् करता हुआ बहता है। इसके तथा चौदह मात्रा के सखी छन्द की गति में कितना अन्तर है? सखी छन्द के प्रत्येक चरण में अन्त्यानुप्रास अच्छा नहीं लगता, दूर दूर तुक रखने से यह अधिक करुण हो जाता है, अन्त में मगण के बदले भगण अथवा नगण रखने से इसकी लय में एक प्रकार का स्वर भंग आ जाता है, जो करुणा का संचार करने में सहायता देता है। पन्द्रह मात्रा का चौपाई छन्द अनमोल मोतियों का हार है, बाल साहित्य के लिए इससे उपयुक्त छन्द मुझे कोई नहीं लगता। इसकी ध्वनि में बच्चों की साँसें, बच्चा का कण्ठरव मिलता है, बच्चों की ही तरह यह चलने में इधर उधर देखता हुआ, अपने को भूल जाता है। अरिल्ल भी बाल-कल्पना के पंखों में खूब उड़ता है।

हिन्दी में मुक्त काव्य का प्रचार भी दिन दिन बढ़ रहा है, कोई इसे रबर काव्य कहते हैं, कोई केंचुआ। सन १९२१ में जब 'उच्छ्वास' मेरी विरह क्षुधा लेखनी से यक्ष के कनक वलय' की तरह निकल पड़ा था, तब "निगम' जी ने 'सम्मेलन पत्रिका' में उस 'बीसवीं' सदी के 'महा काव्य' की आलोचना करते हुए लिखा था, 'इसकी भाषा रँगीली छन्द स्वच्छन्द है।" पर उस वामन ने, जो कि लोकप्रियता के रात दिन घटने बढ़ने वाले चाँद को पकड़ने के लिए बहुत छोटा था, कुछ ऐसी टाँगें फैला दीं कि आज, सौभाग्य अथवा दुर्भाग्यवश, हिन्दी में सर्वत्र 'स्वच्छन्द छन्द' ही की छटा दिखलायी पड़ती है।

यह 'स्वच्छन्द छन्द ध्वनि अथवा लय (रिद्म) पर चलता है। जिस प्रकार जलौघ पहाड़ से निर्झर नाद में उतरता, चढ़ाव में मन्द गति, उतार में क्षिप्रवेग धारण करता, आवश्यकतानुसार अपने किनारों को काटता छाँटता, अपने लिए ऋजु कुंचित पथ बनाता हुआ आगे बढ़ता है, उसी प्रकार यह छन्द भी कल्पना तथा भावना के उत्थान पतन, आवर्तन विवर्तन के अनुरूप संकुचित प्रसारित होता, सरल तरल, ह्रस्व दीर्घ गति बदलता रहता है।

इस मुक्त छन्द की विशेषता यह है कि इसमें भाव तथा भाषा का सामंजस्य पूर्ण रूप से निभाया जा सकता है। हरिगीतिका, पद्धरि रोला आदि छन्दों में प्रत्येक चरण की मात्राएँ नियमित रूप से बद्ध होने के कारण भावना को छन्द के अनुसार ले जाना, किसी प्रकार खींच खाँचकर उसके ढाँचे में फिट कर देना पड़ता है, कभी पाद पूर्ति के लिए अनावश्यक शब्द भी रख देने पड़ते हैं। उग्रसाम्यवादियों की तरह ये छन्द बाह्य समानता चाहते हैं। मुक्त काव्य आन्तरिक ऐक्य, भाव जगत के साम्य *को ढूँढ़ता है। उसमें छन्द के चरण भावानुकूल ह्रस्व-दीर्घ हो सकते हैं।* क्वार्टरों में रहनेवाले बाबुओं की तरह, भावना को, परतन्त्रता के हाथों बने हुए घरों के अनुसार, अपनी खाने पीने, उठने बैठने सोने रहने की सुविधा को, कुछ इने गिने कमरों में ही येन केन प्रकारेण ठूँस ठाँसकर जीवन निर्वाह नहीं करना पड़ता, वह अपनी स्वतन्त्र इच्छा, स्वाभाविक रुचि के अनुरूप अपनी आत्मा के सुविधानुसार अपना निकेतन बनाता है जिसमें उसका जीवन अपने कुटुम्ब के साथ स्वेच्छानुसार हाथ पाँव फैलाकर सुखपूर्वक रह सके।

इस प्रकार की कविता मे अगो के गठन की ओर विशेष ध्यान रखना पडता है। इसमे चरण इसलिए घटाये बढाये जाते हैं कि काव्य सम्बद्ध सयमित रहे, उसकी शरीर यष्टि न गणेश जी की तरह स्थूल तथा मासल हो, न व्रज भाषा की विरहिणी के सदृश अस्पष्ट अस्थि पजर। जहाँ छद के पद भावानुसार नही जाते, और मोहवश अपनी सजावट ही के लिए घटते बढते, चीन की सुन्दरियो अथवा पाश्चात्य महिलाओ की तरह केवल अपने चरणो को छोटा रखने के लिए लोहे के तग जूते, कमर को पतली रखने के लिए चुस्त पेटी पहनने लगते, वहाँ उनके स्वाभाविक सौ दय का विकास तो रुक ही जाता है, कविता अस्वस्थ तथा लक्ष्यभ्रष्ट भी हो जाती है।

अन्य छदो की तरह मुक्त काव्य भी हिन्दी मे ह्रस्व दीर्घ मात्रिक सगीत की लय पर ही सफल हो सकता है। छद का राग भाषा के राग पर निर्भर रहता है दोनो मे स्वरैक्य रहना चाहिए। जिस प्रकार गवैया तानपूरा के स्वरो मे कण्ठस्वर मिलाकर गाता, और स्वतन्त्रतापूर्वक तान तथा आलाप लेने पर भी उसके कण्ठ का तम्बूरे के स्वरो के साथ सामजस्य बना ही रहता, तथा ऐक्य भग होते ही वह बेसुरा हो जाता, उसी प्रकार छद का राग भी भाषा के तारो पर झूलता है, और जहा दोनो मे मैत्री नही रहती वहा छद अपना 'स्वर' खो बैठता है। उदाहरणार्थ मेरे मित्र हिन्दी के भावुक सहृदय कवि 'निराला' जी के छदो को लीजिए।

उनके कुछ छद बँगला की तरह अक्षर मात्रिक राग पर, कुछ हिन्दी के ह्रस्व दीर्घ मात्रिक सगीत पर चलते है, तथा कुछ इस प्रकार मिश्रित हैं कि उनमे कोई भी नियम नही मिलता। जहा पर उनकी कविता ह्रस्व दीर्घ सगीत पर चलती उनकी उज्ज्वल भाव राशि उनके रचना चातुर्य सूत्र मे गुथी हुई, हीरा के हार की तरह चमक उठती है। किन्तु जहा पर बँगला के अनुसार चलती, वहा उसका राग हिन्दी के लिए अस्वाभाविक हो जाता है। उदाहरणार्थ बँगला की कुछ लाइनें लीजिए,—

हे सम्राट कवि
एइ तव हृदयेर छबि,
एइ तव नव मेघदूत,
अपूर्व अद्भुत
छन्दे गाने
उठियाछे अलक्खेर पाने
जेथा तव विरहिणी प्रिया
रयेछे मिशिया
प्रभातेर अरुण आभासे,
क्लान्त सन्ध्या दिगन्तेर करुण निश्वासे
पूर्णिमाय देहहीन चामेलिर लावण्य विलासे,
भाषार अतीत तीरे
कागाल नयन जेथा द्वार हते आसे फिरे फिरे

—रवीन्द्रनाथ ठाकुर

इन्हे पहले बँगला उच्चारण के साथ पढिए फिर हिन्दी उच्चारण के अनुसार पढ़ने की चेष्टा कीजिए, बँगला उच्चारण का प्रवाह ज्यो ही

इनके ऊपर से हटा दिया जाता है, सारी शब्द राशि जलधारा के सूख जाने पर नदी की तह मे पडे हुए निष्प्रभ रोडो की तरह, अपने जीवन का कलरव, अपनी कोमलता चचलता, अपनी चमक दमक तथा गति गँवाकर अपनी ही लँगडाहट म डगमगाती हुई गिर पडती है। इसका कारण यह है कि बँगला के उच्चारण की मासलता हिन्दी मे नही, इसका ह्रस्व दीघ राग बँगला छन्दो म स्वाभाविक विकास नही पाता। बँगला उच्चारण के श्वासवायु म उपयुक्त पद्य के चरण रबर के रगीन गुब्बारो की तरह फूल उठत, जिसके निकलत ही छ द के पद ढीले पड जात, शब्द पिचक जाते, और उनका परस्पर का सम्बन्ध टूट जाने के कारण राग की विद्युतधारा का प्रवाह रुक जाता है। श्रीयुत 'निराला' जी के भी दो एक छन्द देखिए—

(१) देख यह कपोत कण्ठ—
बाहु वल्ली कर सरोज—
उन्नत उरोज पीन—क्षीण कटि—
नितम्ब भार—चरण सुकुमार—
गति मन्द मन्द
छूट जाता धैय ऋषि मुनियो का,
देवो भोगियो की तो बात ही निराली है। —अनामिका

(२) कहाँ ?—
मेरा अधिवास कहा ?
क्या कहा ?—'रुकती है गति जहाँ ?'
भला इस गति का शेष—
सम्भव है क्या—
करुण स्वर का जब तक मुझमे रहता है आवेश ?
मैंने 'मैं' शैली अपनाई
देखा दुखी एक निज भाई,
दुख की छाया पडी हृदय मे मेरे
झट उमड वेदना आयी। —अनामिका

पहले छ द के चरण अक्षर मात्रिक राग की गति पर दूसरे के ह्रस्व दीघ मात्रिक राग की गति पर चलते हैं। पहले छन्द म, 'यह, कण्ठ वल्ली सरोज, उन्नत, पीन' इत्यादि शब्दो पर एक प्रकार का स्वरपात देकर, रुककर, आगे बढना पडता नितम्ब भार चरण सुकुमार' इस चरण को एक साथ पढना पडता है राग की गति भग हो जाती है। दूसरे छन्द म राग की एक धारा व्याप्त मिलती है उसका स्वर भग नही होता, शब्दो की कडिया अलग अलग असम्बद्ध नही दिखायी पडती, उनकी दरारें लय से भरकर एकाकार हो जाती उनम एक प्रकार का सामजस्य आ जाता है। पहले छन्द का राग हिन्दी के उच्चारण सगीत के अनुकूल नही दूसरे का अनुकूल है।

मुक्त काव्य मे ऐसे चरण, जिनकी गति भिन्न हो—जसे पीयूषवपण तथा रोला के चरण—साथ साथ अच्छे नही लगते, राग का प्रभाव कुण्ठित हो जाता है गति बदलने के पूव लय को विराम द देना चाहिए। 'पल्लव' म मेरी अधिकाश रचनाए इसी छन्द मे हैं, जिनम 'उच्छ्वास

'आसू' तथा परिवतन' विशेप बडी हैं।

परिवतन' मे जहा भावना का क्रिया कम्पन तथा उत्थान पतन अधिक है, जहाँ कल्पना उत्तेजित तथा प्रसारित रहती, वहा रोला आया है, अन्यत्र सोलह मात्रा का छन्द। बीच-बीच मे छन्द की एकस्वरता तोडने तथा भावाभिव्यक्ति की सुविधा के अनुसार उसके चरण घटा बढा दिये गये हैं। यथा—

"विभव की विद्युत ज्वाल

चमक, छिप जाती है तत्काल।" ऊपर के चरण मे चार मात्राए घटाकर, उसकी गति मन्द कर देन से नीचे के चरण का प्रभाव बढ जाता है। यदि ऊपर के चरण मे चार मात्राएँ जोडकर उसे "विभव की चन्चल विद्युत ज्वाल"—इस प्रकार पढा जाय, तो नीच के चरण मे विभव की क्षणिक छटा का, चमककर छिप जाने के भाव का, स्वाभाविक स्फुरण मन्द पड जाता है। इसी प्रकार अन्यत्र भी भावनानुसार छन्दों मे काट छाँट कर दी गयी है।

'उच्छ्वास' और 'आसू' मे भी छन्द इसी प्रकार बदले गये, और आवश्यकतानुसार राग को विश्राम भी दे दिया गया है। यथा—

"शैशव ही है एक स्नेह की वस्तु सरल कमनीय" के बाद

"बालिका ही थी वह भी,"—इस चरण म वाणी को विश्राम मिल जाता, तब नया छन्द—

"सरलपन ही था उसका मन

निरालापन था आभूषन" इत्यादि प्रारम्भ होता है। उसी प्रकार—

"सुमनदल चुन चुन कर निशि भोर

खोजना है अजान वह छोर"—इस सोलह मात्रा के छन्द की गति को "नवल कलिका थी वह" वाले चरण मे विश्राम देकर तब—

"उसके उस सरलपने से

मैंने था हृदय सजाया"—यह चौदह मात्रा का छन्द रक्खा है, इसकी गति पूववर्ती छन्द की गति से मन्द है। जहाँ समगति के भिन्न भिन्न छन्द आये हैं वहाँ विराम देने की आवश्यकता नही समझी गयी। इसके बाद प्रकृति वणन है, उसमे निर्झरो का गिरना दृश्यो का बदलना, पवत का सहसा बादलो के बीच ओझल हो जाना आदि अद्भुत रस का मिश्रण है। इसलिए वहाँ पूर्वोक्त शिथिल गतिवाले छन्द के बाद तुरन्त ही—

"पावस ऋतु थी पवत प्रदेश

पल पल परिवर्तित प्रकृति वेश'—यह क्षिप्रगामी छन्द मुझे अधिक उपयुक्त जान पडा। इस छन्द का सारा वेग—"वह सरला उस गिरि को कहती थी बादल घर"—यह विस्तृत चरण रोक देता, और

'सरल शैशव की सुखद सुधि सी वही

बालिका मेरी मनोरम मित्र थी" इस सुख दुख मिश्रित भावना को ग्रहण करने के लिए हृदय को तैयार कर देता है।

आँसू मे वही रही एक ही छन्द के चरणा मे अधिक काट छाँट हुई है। यथा—

"देखता हूँ जब उपवन

पियाला मे फूलो के

प्रिये ! भर भर अपना यौवन
पिलाता है मधुकर को !
नवोढा बाल लहर
अचानक उपकूलो के
प्रसूनो के ढिग रुककर
सरकती है सत्वर,
अकेली आकुलता-सी, प्राण !
कही तब करती मृदु आघात,
सिहर उठता कृश गात,
ठहर जाते हैं पग अज्ञात।"

इन चरणा मे शकाकुलता के कारण स्वर भग हो जाने का भाव आया है, लय की गति रुकती जाती है, तुक भी पास पास नही आये हैं। इसी प्रकार "सिहर उठता कृश गात" इस चरण की गति को कुण्ठित कर देने से अनुवर्ती चरण मे पगो के अज्ञात ठहर जाने का भाव अपने आप प्रकट हो जाता है। अन्यत्र भी—

"पिघल पडते है प्राण
उबल चलती है दग जल धार", इन लाइनो मे प्रथम चरण के बाद जो विराम मिलता, उससे प्राणो के पिघल पडने तथा द्वितीय चरण मे आसुओ के उबल चलने का भाव अधिक स्पष्ट हो जाता है।—मुझे अपने इस बाल प्रयास मे कहाँ तक सफलता मिली है, इसे सहृदय काव्य ममज्ञ ही जानें।

खडी बोली की कविता मे क्रियाओ और विशेषत सयुक्त क्रियाओ का प्रयोग कुशलतापूवक करना चाहिए, नही तो कविता का स्वर (एक्स-प्रेशन) शिथिल पड जाता है, और खडी बोली की कविता मे यह दोष सबसे अधिक मात्रा मे विराजमान है। "है" को तो, जहा तक हो सके निकाल ही देना चाहिए, इसका प्रयोग प्राय व्यथ ही होता है। इन दो सीगोवाले हरिण को 'आश्रम मग समझ इस पर दया दिखलाना ठीक नही, यह 'कनक मग है, इसे कविता की पञ्चवटी के पास फटकने न दना ही अच्छा है। 'समासो' का भी अधिक प्रयोग अच्छा नही लगता, समास का काम तो व्यथ बढकर इधर उधर बिखरी तथा फैली हुई शब्दो की टहनियो को काट छाटकर उन्ह सुदर आकार-प्रकार देने तथा उनकी मासल हरीतिमा मे छिपे हुए भावो क पुष्पो को व्यक्त भर कर दने का है। समास की कैंची अधिक चलाने से कविता की डाल ठूठी तथा श्रीहीन हो जाती है।

सबस अधिक आश्चय की बात तो यह है कि हिन्दी मे अभी समस्या पूर्ति का स्वाग जारी ही है। जो लोग 'क्वय कि न जल्पन्ति कागा कि न भक्षन्ति' के समथक और कवियो को कौओ के समकक्ष बैठाने तथा कविता को केवल काले-काले अक्षरो की अधेरी उडान समभनेवाले हैं उनकी बात दूसरी है पर जो कवि को राष्ट्र का निर्माता मानते हैं, जिन्ह कविता मे देवताओ का भोजन, ससार का अन्तरतम हृत्स्पन्दन मिलता है उन्हे तो उसे इस अस्वाभाविक बन्धन से छुडान की चेष्टा करनी चाहिए। ब्रज भाषा की कविता मे अधिक कृत्रिमता आने का एक मुख्य

कारण यह समस्या पूर्ति भी है। क्या कवि की विश्वव्यापी प्रतिभा को तागे की तरह सुई की आँख मे डाल देना ही कविता है ? सरकस के खिलाडियो की तरह दूर स दौड लगाकर गल्ले के एक कृत्रिम परिमित वत्त (रिंग) के भीतर से होकर उस पार निकल जाना ही कवि का काम है ? क्या बहुपतियो को वरने की असभ्य प्रथा, कलक की तरह, हिन्दी द्रौपदी के भाल पर सदा के लिए लगी ही रहगी ? इस लक्ष्यवेध का, इस तुकबन्दी की चाँदमारी का अब भी अन्त नही होगा ?

हिन्दी मे सत्समालोचना का बडा अभाव है। रसगगाधर, काव्यादश आदि की वीणा के तार पुराने हो गये, वे स्थायी सचारी, व्यभिचारी आदि भावो से जो कुछ सचार अथवा व्यभिचार करवाना चाहते थे, करवा चुके। जब तक समालोचना का समयानुकूल रूपान्तर न हो वह विश्व भारती के आधुनिक, विकसित तथा परिष्कृत स्वरो म न अनुवादित हो जाय, तब तक हिन्दी म सत्साहित्य की सृष्टि भी नही हो सकती। बडे हर्ष की बात है कि अब हिन्दी यूनिवर्सिटी की चिर वञ्चित उच्चतम कक्षाओ म भी प्रवेश पा गयी, वहा उसे अपनी बहन अँगरेजी के साथ वार्तालाप तथा हेल मेल बढाने का अवसर तो मिलेगा ही उनम घनिष्ठता भी स्थापित हो जायेगी। आशा है विश्वविद्यालय के उत्साही हिन्दी प्रेमी छात्र, जब तक हमारे वयोवद्ध समालोचक, बेचारे देव और बिहारी मे कौन बडा है इसके निणय के साथ उनके भावो का निबटारा करने, तथा 'सहित' शब्द मे ष्यञ प्रत्यय जोडकर सत्साहित्य की सृष्टि करने म व्यस्त है, तब तक हिन्दी मे अँगरेजी ढग की समालोचना का प्रचार कर, उसके पथ मे प्रकाश डालने का प्रयत्न करेंगे। हम लोग अब 'काव्य रसात्मक वाक्यम', 'रमणीयार्थ प्रतिपादक शब्द काव्यम' को अच्छी तरह समझ गये हैं।

यही पर मैं इस भूमिका को समाप्त करता हूँ। हम खडी बोली से अपरिचित हैं, उसमे हमने अपने प्राणो का सगीत अभी नही भरा, उसके शब्द हमारे हृदय के मधु से सिक्त होकर अभी सरस नही हुए, वे केवल नाम मात्र हैं, उनमे हम रूप रस गन्ध भरना होगा। उनकी आत्मा से अभी हमारी आत्मा का साक्षात्कार नही हुआ, उनके हृत्स्पन्दन स हमारा हृत्स्पन्दन नही मिला, वे अभी हमारे मनोवेगो के चिरालिंगन पाश मे नही बँधे, —इसीलिए उनका स्पर्श अभी हमे रोमाचित नही करता वे हमे रसहीन ग धहीन लगते हैं। जिस प्रकार बडी चुवाने स पहले उडद की पीठी को मथकर हलका तथा कोमल कर लेना पडता है, उसी प्रकार कविता के स्वरूप म भावो के ढाँचो मे ढालने के पूर्व भाषा को भी हृदय के ताप मे गलाकर कोमल, करुण, सरस प्राञ्जल कर लेना पडता है। इसके लिए समय की आवश्यकता है, उसी के प्रवाह मे बहकर खडी बोली के खुरदरे रोडे हमे धीरे धीरे चिकने तथा चमकील लगन लगेंगे। हमे आशा है भविष्य इसके समुद्र को मथकर इसके चौदह रत्नो को किसी दिन ससार के सामन रख देगा, और शीघ्र ही कोई प्रतिभाशाली पथु अपनी प्रतिभा के बछडे से इस भारत की भारती को दुहकर तथा राष्ट्र के साहित्य को अनन्त उवर बनाकर, एक बार फिर दुर्भिक्ष पीडित ससार को परितप्ति प्रदान करेगा। शुभमस्तु।

पल्लव

अरे, ये पल्लव बाल !
सजा सुमनों के सौरभ हार
गूथते वे उपहार,
अभी तो हैं ये नवल प्रवाल,
नहीं छूटी तरु डाल,
विश्व पर विस्मित चितवन डाल,
हिलाते अधर प्रवाल !
न पत्रों का मर्मर संगीत,
न पुष्पों का रस, राग, पराग,
एक अस्फुट, अस्पष्ट, अगीत,
सुप्ति की ये स्वप्निल मुसकान,
सरल शिशुओं के शुचि अनुराग,
वन्य विहगों के गान !
हृदय के प्रणय कुंज में लीन
मूक कोकिल का मादक गान,
बहा जब तन मन बन्धन हीन
मधुरता से अपनी अनजान,
खिल उठी रोओं सी तत्काल
पल्लवों की यह पुलकित डाल !
प्रथम मधु के फूलों का बाण
दुरा उर में, कर मृदु आघात,
रुधिर से फूट पड़ी रुचिमान
पल्लवों की यह सजल प्रभात,
शिराओं में उर की अज्ञात
नव्य जग जीवन कर गतिवान !
दिवस का इनमें रजत प्रसार
उषा का स्वर्ण सुहाग,
निशा का तुहिन अश्रु शृंगार,
साँझ का निःस्वन राग,
नवोढा की लज्जा सुकुमार,
तरुणतम सुन्दरता की आग !
कल्पना के ये विह्वल बाल,
आँख के अश्रु, हृदय के हास,

वेदना के प्रदीप की ज्वाल,
प्रणय के ये मधुमास,
सुछवि के छाया वन की साँस
भर गयी इनमें हाव, हुलास!
आज पल्लवित हुई है डाल,
झुकेगा कल गुंजित मधुमास!
मुग्ध होंगे मधु से मधु बाल,
सुरभि से अस्थिर मरुताकाश!
(नवम्बर, १९२४)

उच्छ्वास

(सावन-भादों)
(सावन)

सिसकते, अस्थिर मानस से
बाल बादल सा उठकर आज
सरल, अस्फुट उच्छ्वास!
अपने छाया के पंखों में
(नीरव घोष भरे शंखों में)
मेरे आँसू गूँथ, फैल गम्भीर मेघ सा,
आच्छादित कर ले सारा आकाश!
यह अमूल्य मोती का साज,
इन सुवर्णमय, सरस परों में
(शुचि स्वभाव से भरे सरों में)
तुझको पहना जगत देख ले,—यह स्वर्गीय प्रकाश!
मन्द विद्युत सा हँसकर,
वज्र सा उर में धँसकर
गरज, गगन के गान! गरज गम्भीर स्वरों में,
भर अपना सन्देश उरों में, औ' अधरों में,
बरस धरा में, बरस सरित, गिरि, सर, सागर में,
हर मेरा सन्ताप, पाप जग का क्षणभर में!
हृदय के सुरभित साँस!
जरा है आदरणीय,
सुखद यौवन विलास उपवन रमणीय,
शैशव ही है एक स्नेह की वस्तु सरल कमनीय,
—बालिका ही थी वह भी!
सरलपन ही था उसका मन
निरालापन था आभूषण,
कान से मिले अजान नयन
सहज था सजा सजीला तन!

सुरीले, ढीले अधरों बीच
अधूरा उसका लचका गान
विकच बचपन को, मन को खींच
उचित बन जाता था उपमान।

छपी सी पी सी मृदु मुसकान
छिपी सी, खिंची सखी-सी साथ,
उसी की उपमा-सी बन, मान
गिरा का धरती थी, धर हाथ।

रँगीले, गीले फूलों-से
अधखिले भावों से प्रमुदित
बाल्य सरिता के कूलों से
खेलती थी तरंग सी नित।
—इसी में था असीम अवसित।

मधुरिमा के मधुमास।
मेरा मधुकर का सा जीवन
कठिन कर्म है, कोमल है मन,
विपुल मृदुल सुमनों से सुरभित,
विकसित है विस्तृत जग उपवन।

यही हैं मेरे तन, मन, प्राण,
यही हैं ध्यान, यही अभिमान,
धूलि की ढेरी में अनजान
छिपे हैं मेरे मधुमय गान।
कुटिल काँटे हैं कहीं कठोर,
जटिल तरु जाल हैं किसी ओर
सुमन दल चुन चुनकर निशि भोर
खोजना है अजान वह छोर।
—नवल कलिका थी वह।

उसके उस सरलपने से
मैंने था हृदय सजाया,
नित मधुर मधुर गीतों से
उसका उर था उकसाया।
कह उसे कल्पनाओं की
कल कल्प लता, अपनाया,
वहु नवल भावनाओं का
उसमें पराग था पाया।
मैं मंद हास सा उसके
मृदु अधरों पर मँडराया,
औ' उसकी सुखद सुरभि से
प्रतिदिन समीप खिंच आया।
पावस ऋतु थी पर्वत प्रदेश,
पल पल परिवर्तित प्रकृति वेश।

मेखलाकार पर्वत अपार
अपने सहस्र दृग सुमन फाड
अवलोक रहा है बार-बार
नीचे जल में निज महाकार,
—जिसके चरणों में पला ताल
दर्पण-सा फैला है विशाल ! !
गिरि का गौरव गाकर झर्-झर्
मद में नस-नस उत्तेजित कर
मोती की लड़ियों से सुंदर
झरते हैं झाग भरे निर्झर !
गिरिवर के उर से उठ उठकर
उच्चाकांक्षाओं-से तरुवर
हैं झाँक रहे नीरव नभ पर,
अनिमेष, अटल, कुछ चिंतापर !
—उड गया, अचानक, लो, भूधर
फड़का अपार वारिद के पर !
रव शेष रह गये हैं निर्झर
है टूट पड़ा भू पर अम्बर !
धँस गये धरा में सभय शाल
उठ रहा धुआँ, जल गया ताल !
—यों जलद यान में विचर, विचर,
था इन्द्र खेलता इन्द्रजाल !
(वह सरला उस गिरि को कहती थी बादल घर !)
इस तरह मेरे चितेरे हृदय की
बाह्य प्रकृति बनी चमत्कृत चित्र थी,
सरल शैशव की सुखद सुधि सी वही
बालिका मेरी मनोरम मित्र थी !

(भादो)

दीप के बचे विकास !
अनिल सा लोक लोक में,
हर्ष में और शोक में,
कहाँ नहीं है स्नेह ? साँस सा सबके उर में !
रुदन, क्रीडन, आलिंगन,
भरण, सेवन आराधन,
शशि की सी ये कलित कलाएँ किलक रही हैं पुर-पुर में !
यही तो है बचपन का हास
खिले यौवन का मधुप विलास,
प्रौढता का वह बुद्धि विकास,
जरा का अंतर्नयन प्रकाश !
जन्मदिन का है यही हुलास,
मृत्यु का यही दीर्घ निःश्वास !

है यह वैदिक वाद,
विश्व का सुख दुखमय उन्माद !
एकतामय है इसका नाद—
गिरा हो जाती है सनयन,
नयन करते नीरव भाषण,
श्रवण तक आ जाता है मन,
स्वयं मन करता बात श्रवण !
अश्रुओं में रहता है हास
हास में अश्रुकणों का भास,
श्वास में छिपा हुआ उच्छ्वास
और उच्छ्वासों ही में श्वास !

बँधे हैं जीवन तार,
सब में छिपी हुई है यह झंकार!
हो जाता संसार
नहीं तो दारुण हाहाकार !
मुरली के - से सुरसीले
हैं इसके छिद्र सुरीले,
अगणित होने पर भी तो
तारों - से हैं चमकीले !
अचल हो उठते हैं चंचल,
चपल बन जाते हैं अविचल,
पिघल पड़ते हैं पाहन दल,
कुलिश भी हो जाता कोमल !
चढ़ाता भी है तो गुण से
डोर कर में है, मन आकाश,
पटकता भी है तो गुण से,
खींचने को चकई-सा पास !

मम पीड़ा के हास !
रोग का है उपचार,
पाप का भी परिहार,
है अदेह संदेह, नहीं है इसका कुछ संस्कार !
हृदय की है यह दुर्बल हार !!
खींच लो इसको, कहीं क्या छोर है ?
द्रौपदी का यह दुरन्त दुकूल है !
फैलता है हृदय में नभ बेलि-सा,
खोज लो, इसका कहीं क्या मूल है ?
यही तो काँटे - सा चुपचाप
उगा उस तरुवर में सुकुमार
सुमन वह था जिसमें अविकार—
बेध डाला मधुकर निष्पाप !!

अहो म दुबलता शाप !
नहीं चल सकते गिरिवर राह,
न रुक सकता है सौरभवाह !
तरल हो उठता उदधि अथाह,
सूर का दुख देता है दाह !
देख हाय ! अह, उर से रह-रह निकल रही है आह
व्यथा का रुकता नहीं प्रवाह !
छिड़ी थे गूढ़ हुलास !
बीनते हैं प्रसून दल,
तोड़ते ही हैं मृदु फल,
देखा नहीं किसी को चुनते कोमल कोपल !!
अभी पल्लवित हुआ था स्नेह,
लाज का भी न गया था राग,
पड़ा 'पाला सा हा!' सन्देह,
कर दिया वह नव राग विराग!
हो गया था पतझड़, मधुकाल,
पत्र तो आते हाय, नवल !
झड़ गये स्नेह वृन्त से फूल,
लगा यह असमय कैसा फल !
मिले थे दो मानस अज्ञात,
स्नेह शशि बिम्बित था भरपूर,
अनिल सा कर अकरुण आघात,
प्रेम प्रतिमा कर दी वह चूर !!
घूमता है सम्मुख वह रूप
सुदर्शन हुए सुदर्शन चक्र !
ढाल-सा रखवाला शशि आज
हो गया है हा ! असि सा वक्र!
बालकों का सा मारा हाथ,
कर दिये विकल हृदय के तार!
नहीं अब रुकती है झंकार,
यही था हा ! क्या एक सितार ?
हुई मरु की मरीचिका आज,
मुझे गंगा की पावन धार !
कहाँ है उत्कण्ठा का पार !!
इसी वेदना में विलीन हो अब मेरा संसार !
तुम्हें, जो चाहो, है अधिकार !
टूट जा यहीं यह हृदय हार !!!

× × ×

कौन जान सका किसी के हृदय को ?
सच नहीं होता सदा अनुमान है !
कौन भेद सका अगम आकाश को ?
कौन समझ सका उदधि का गान है ?

है सभी तो श्रोर दुर्बलता यही,
समझता कोई नही—क्या सार है।
निरपराधो के लिए भी तो श्रहा।
हो गया ससार कारागार है।।
(सितम्बर, १६२१)

आंसू

(भादो की भरन)

(१)

अपलक आंखो म
उमड उर के सुरभित उच्छ्वास।
सजल जलधर से बन जलधार,
प्रेममय वे प्रिय पावस मास
पुन नयनो मे कर साकार,
मूक कणो की कातर वाणी भर इनमे अविकार,
दिव्य स्वर पा आसू का तार
बहा दे हृदयोदगार।

आह, यह मेरा गीला गान।
वर्ण वर्ण है उर की कम्पन,
शब्द शब्द है सुधि की दशन,
चरण चरण है आह,
कथा है कण-कण करुण अथाह,
बूद मे है बाडव का दाह।
प्रथम भी ये नयनो के बाल
खिलाये हैं नादान,
आज मणियो ही की तो माल
हृदय मे बिखर गयी अनजान।
टूटते हैं असख्य उडगण,
रिक्त हो गया चाद का थान।
गल गया मन मिश्री का कन,
नयी सीखी पलको ने बान।

विरह है अथवा यह वरदान।
कल्पना में है कसकती वेदना,
अश्रु मे जीता, सिसकता गान है,
शून्य आहो मे सुरीले छन्द हैं
मधुर लय का क्या कहीं अवसान है।
वियोगी होगा पहिला कवि,
आह से उपजा होगा गान,
उमड कर आंखों से चुपचाप
बही होगी कविता अनजान।

हाय, किसके उर मे
उतारूँ अपने उर का भार !
किसे अब दूँ उपहार
गूँथ यह अश्रुकणो का हार !!

मेरा पावस ऋतु - सा जीवन,
मानस - सा उमडा अपार मन,
गहरे, धुँधले, धुले, साँवले,
मेघो से मेरे भरे नयन !

कभी उर मे अगणित मृदु भाव
कूजते हैं विहगो - से हाय !
अरुण कलियो से कोमल घाव
कभी खुल पडते हैं असहाय !

इन्द्रधनु - सा आशा का सेतु
अनिल मे अटका कभी अछोर,
कभी कुहरे - सी धूमिल घोर,
दीखती भावी चारो ओर !

तडित-सा सुमुखि ! तुम्हारा ध्यान
प्रभा के पलक मार, उर चीर,
गूढ गर्जन कर जब गम्भीर
मुझे करता है अधिक अधीर,
जुगनुओ - से उड मेरे प्राण
खोजते हैं तब तुम्हे निदान !

धधकती है जलदो से ज्वाल,
बन गया नीलम व्योम प्रवाल,
आज सोने का सन्ध्याकाल
जल रहा जतुगृह-सा विकराल,
पटक रवि को बलि - सा पाताल
एक ही वामन पग मे—
लपकता है तमिस्र तत्काल,
—धुएँ का विश्व विशाल !
चिनगियो से तारो को डाल
आग का-सा अँगार शशि लाल
लहकता है, फैला मणि ज्वाल
जगत को डसता है तम व्याल !

पूर्व सुधि सहसा जब सुकुमारि !
सरल शुक - सी सुखकर सुर मे
तुम्हारी भोली बातें
कभी दुहराती है उर मे,
अगम - से मेरे पुलकित प्राण
सहस्रो सरस स्वरो मे कूक,
तुम्हारा करते हैं आह्वान,
गिरा रहती है श्रुति-सी मूक !

देखता हूँ, जब उपवन
पियालो मे फूलो के
प्रिये ! भर-भर अपना यौवन
पिलाता है मधुकर को,
नवोढा बाल लहर
अचानक उपकूलो के
प्रसूनो के ढिग रुक कर
सरकती है सत्वर,
अकेली आकुलता-सी प्राण !
कही तब करती मृदु आघात,
सिहर उठता कृश गात,
ठहर जाते हैं पग अज्ञात !
देखता हूँ, जब पतला
इन्द्रधनुषी हलका
रेशमी घूघट बादल का
खोलती है कुमुद कला,
तुम्हारे ही मुख का तो ध्यान
मुझे करता तब अन्तर्धान,
न जाने तुमसे मेरे प्राण
चाहते क्या आदान !

× × ×

बादलो के छायामय मेल
घूमते हैं आखो मे, फल !
अवनि औ अम्बर के वे खेल
शैल मे जलद, जलद मे शैल !
शिखर पर विचर मरुत रखवाल
वेणु मे भरता था जब स्वर,
मेमनो से मेघो के बाल
कुदकते थे प्रमुदित गिरि पर !
द्विरद दतो-से उठ सुदर
सुखद कर सीकर-से बढ कर,
भूति-से शोभित बिखर-बिखर,
फैल फिर कटि के-से परिकर,
बदल यो विविध वेश जलधर
बनाते थे गिरि को गजवर !
इन्द्रधनु की सुनकर टकार
उचक चपला के चचल बाल,
दौडते थे गिरि के उस पार
देख उडत-विशिखो की धार,
मरुत जब उनको द्रुत चुमकार,
रोक देता था मेघासार !

अचल में जब वे विमल विचार
अवनि से उठ उठ कर ऊपर,
विपुल व्यापकता में अविकार
लीन हो जाते थे सत्वर,
विहगम-सा बैठा गिरि पर
सुहाता था विशाल अम्बर!

पपीहों की वह पीन पुकार,
निर्झरों की भारी झर झर,
झींगुरों की झीनी झनकार
घनों की गुरु गम्भीर घहर,
बिन्दुओं की छनती छनकार,
दादुरों के वे दुहरे स्वर,
हृदय हरते थे विविध प्रकार
शैल-पावस के प्रश्नोत्तर!

खैंच ऐंचीला भ्रू सुरचाप—
शैल की सुधि यों बारम्बार—
हिला हरियाली का सुदुकूल,
झुला झरनों का झलमल हार,
जलद पट से दिखला मुख चन्द्र,
पलक पल-पल चपला के मार,
भग्न उर पर भूधर सा हाय!
सुमुखि! धर देती है साकार!

(२)

करुण है हाय! प्रणय,
नहीं दुरता है जहाँ दुराव,
करुणतर है वह भय
चाहता है जो सदा बचाव,
करुणतम भग्न हृदय,
नहीं भरता है जिसका घाव,
करुण अतिशय उनका संशय
छुड़ाते हैं जो जुड़े स्वभाव!!

किये भी हुआ कहाँ संयोग?
टला टाले कब इसका वास?
स्वयं ही तो आया यह पास,
गया भी, बिना प्रयास!

कभी तो अब तक पावन प्रेम
नहीं कहलाया पापाचार,
हुई मुझको ही मदिरा आज
हाय क्या गंगाजल की धार!!
हृदय! रो, अपने दुख का भार!
हृदय! रो, उनको है अधिकार!

हृदय ! रो यह जड स्वेच्छाचार,
शिशिर का-सा समीर सचार !
प्रथम, इच्छा का पारावार,
सुखद आशा का स्वर्गाभास,
स्नेह का मास-ती ससार,
पुन उच्छवासो का आकाश !
—यही तो है जीवन का गान,
सुख का आदि और अवसान !
सिसकते हैं समुद्र-से मन,
उमडते हैं नभ-से लोचन,
विश्व वाणी ही है क्रन्दन,
विश्व का काव्य अश्रु कन !
गगन के भी उर मे हैं घाव,
देखती ताराएँ भी राह,
बँधा विद्युत् छवि म जलवाह
चन्द्र की चितवन मे भी चाह,
दिखाते जड भी तो अपनाव
अनिल भी भरती ठण्डी आह !
हाय ! मेरा जीवन,
प्रेम औ' आँसू के कन !
आह मेरा अक्षय धन,
अपरिमित सुन्दरता औ' मन !
—एक वीणा की मृदु झकार !
कहाँ है सुन्दरता का पार !
तुम्हे किस दर्पण मे सुकुमारि !
दिखाऊँ मैं साकार ?
तुम्हारे छूने म था प्राण,
सग मे पावन गगा स्नान,
तुम्हारी वाणी मे कल्याणि !
त्रिवेणी की लहरो का गान !
अपरिचित चितवन मे था प्रात,
सुधामय साँसा मे उपचार !
तुम्हारी छाया मे आधार,
सुखद चेष्टाओं मे आभार !
करुण भौहो मे था आकाश,
हास म शैशव का ससार,
तुम्हारी आँखो म कर वास
प्रेम ने पाया था आकार !
कपोला म उर के मृदु भाव
श्रवण नयनो मे प्रिय बर्ताव,
सरल सकेता म सकोच,
मृदुल अधरो म मधुर दुराव !

उषा का था उर मे आवास,
मुकुल का मुख मे मृदुल विकास,
चाँदनी का स्वभाव मे भास
विचारों में बच्चो के साँस।
बिन्दु मे थी तुम सिन्धु अनन्त
एक सुर मे समस्त सगीत,
एक कलिका मे अखिल वसन्त,
धरा मे थी तुम स्वर्ग पुनीत।

विधुर उर के मृदु भावो से
तुम्हारा कर नित नव शृगार,
पूजता हूँ मैं तुम्हे कुमारि।
मूद दुहरे दृग द्वार।
अचल पलकों मे मूर्ति सँवार
पान करता हूँ रूप अपार,
पिघल पडते हैं प्राण,
उबल चलती है दृगजल धार।

बालको सा ही तो मैं हाय।
याद कर रोता हूँ अनजान,
न जाने, होकर भी असहाय,
पुन किससे करता हूँ मान।

× × ×

सुप्ति हो स्वल्प वियोग
नव मिलन को अनिमेष,
दैव। जीवन भर का विश्लेष
मृत्यु ही है नि शेष।।

× × ×

मूद पलको मे प्रिया के ध्यान को
थाम ले अब, हृदय। इस आह्वान को।
त्रिभुवन की भी तो श्री भर सकती नही
प्रेयसी के शून्य, पावन स्थान को।
तेरे उज्ज्वल आसू सुमनो मे सदा
वास करेंगे, भग्न हृदय, उनकी व्यथा
अनिल पोछेगी, करुण उनकी कथा
मधुप बालिकाएँ गाएँगी सर्वदा।
(दिसम्बर, १९२१)

विनय

मा। मेरे जीवन की हार
तेरा मजुल हृदय हार हो,
अश्रुकणो का यह उपहार,

मेरे सफल श्रमो का सार
तेरे मस्तक का हो उज्ज्वल
श्रमजलमय मुक्तालंकार !
मेरे भूरि दुखो का भार
तेरी उर इच्छा का फल हो,
तेरी आशा का शृंगार,
मेरे रति, कृति, व्रत, आचार
मा ! तेरी निर्भयता हो नित
तेरे पूजन के उपचार—
यही विनय है बारम्बार !
(जनवरी, १६१८)

वीचि विलास

अरी सलिल की लोल हिलोर !
यह कैसा स्वर्गीय हुलास ?
सरिता की चचल दग कोर !
यह जग को अविदित उल्लास !
आ, मेरे मृदु अग झकोर,
नयनो को निज छबि मे बोर,
मेरे उर मे भर यह रोर !
गूढ सांस-सी यति गतिहीन
अपनी ही कम्पन मे लीन,
सजल कल्पना-सी साकार
पुन-पुन प्रिय, पुन नवीन,
तुम शशव स्मिति-सी सुकुमार,
मम रहित, पर मधुर अपार,
खिल पडती हो बिना विचार !
वारि बेलि-सी फैल अमूल,
छा अपत्र सरिता के कूल,
विकसा औ' सकुचा नवजात
बिना नाल के फेनिल फूल,
छुईमुई-सी तुम पश्चात
छूकर अपना ही मृदु गात,
मुरझा जाती हो अज्ञात !
स्वण स्वप्न-सी कर अभिसार
जल के पलको मे सुकुमार,
फूट आप ही आप अजान
मधुर वेणु की-सी झकार,
तुम इच्छाओ-सी असमान,
छोड चिह्न उर मे गतिवान,
हो जाती हो अन्तर्धान !

मुग्धा की-सी मृदु मुसकान
खिलते ही लज्जा से म्लान,
स्वर्गिक सुख की सी आभास—
अतिशयता मे अचिर, महान—
दिव्य मूर्ति-सी आ तुम पास,
कर जाती हो क्षणिक विलास,
आकुल उर को दे आश्वास!

ताल-ताल मे थिरक अमन्द,
सौ-सौ छन्दो मे स्वच्छन्द
गाती हो निस्तल के गान,
सिन्धु गिरा-सी अगम, अनन्त,
इन्दु करो से लिख अम्लान
तारो के रोचक आख्यान,
अम्बर के रहस्य द्युतिमान!

चला मीन दृग चारो ओर,
गह गह चचल अचल छोर,
रुचिर रुपहरे पख पसार
अरी वारि की परी किशोर!
तुम जल थल मे अनिलाकार,
अपनी ही लघिमा पर वार,
करती हो बहुरूप विहार!

अग भगि मे व्योम मरोर,
भौहो मे तारो के झौर
नचा, नाचती हो भरपूर
तुम किरणो की बना हिंडोर,
निज अधरो पर कोमल क्रूर,
शशि से दीपित प्रणय कपूर
चादी का चुम्बन कर चूर!

खेल मिचौनी सी निशि भोर,
कुटिल काल का भी चित चोर,
जन्म मरण से कर परिहास,
बढ असीम की ओर अछोर,
तुम फिर फिर सुधि ही सोच्छ्वास
जो उठती हो बिना प्रयास,
ज्वाला-सी पाकर वातास!

ओ अकूल की उज्ज्वल हास!
अरी अतल की पुलकित श्वास!
महानन्द की मधुर उमग!
चिर शाश्वत की अस्थिर लास!
मेरे मन की विविध तरग
रगिणि! सब तेरे ही सग
एक रूप मे मिलें अनग!

(मई,१९२३)

मधुकरी

सिखा दो ना, हे मधुप कुमारि!
मुझे भी अपने मीठे गान,
कुसुम के चुने कटोरों से,
करा दो ना, कुछ कुछ मधुपान!
नवल कलियों के धोरे झूम,
प्रसूनों के अधरों को चूम,
मुदित, कवि-सी तुम अपना पाठ
सीखती हो सखि! जग में घूम,
सुना दो ना, तब हे सुकुमारि!
मुझे भी ये केसर के गान!
किसी के उर में तुम अनजान
कभी बँध जाती, बन चितचोर,
अधखिले, खिले, सुकोमल गान
गूँथती हो फिर उड उड भोर,
मुझे भी बतला दो न कुमारि!
मधुर निशि स्वप्नों के वे गान!
सूँघ चुनकर, सखि! सारे फूल,
सहज बिंध बँध, निज सुख दुख भूल,
सरस रचती हो ऐसा राग
धूल बन जाती है मधुमूल,
पिला दो ना, तब हे सुकुमारि!
इसी से थोड़े मधुमय गान,
कुसुम के खुले कटोरों से
करा दो ना, कुछ-कुछ मधुपान!
(सितम्बर, १९२२)

अनंग

अहे विश्व अभिनय के नायक!
अखिल सृष्टि के सूत्राधार!
उर-उर की कम्पन में व्यापक!
ऐ त्रिभुवन के मनोविकार!
ऐ असीम सौंदर्य सिंधु की
विपुल वीचियों के शृंगार!
मेरे मानस की तरंग में
पुनः अनंग! बनो साकार!
आदि काल में बाल प्रकृति जब
थी प्रसुप्त, मृतवत, हत ज्ञान,

शस्य शून्य वसुधा का अचल,
निश्चल जलनिधि, रवि शशि म्लान,
प्रथम हास-से, प्रथम अश्रु से
प्रथम पुलक से, हे छविमान!
स्मृति से, विस्मय से तुम सहसा
विश्व स्वप्न से खिले अजान!

प्रथम कल्पना कवि के मन मे,
प्रथम प्रकम्पन उडगन मे,
प्रथम प्रात जग के आगन मे,
प्रथम वसन्त विभा वन मे,
प्रथम वीचि वारिधि चितवन मे
प्रथम तडित् चुम्बन घन मे,
प्रथम गान तब शून्य गगन म!
फूटा, नव यौवन तन मे!

भूल जगत की उर कम्पन में,
पुलकावलि मे हँस अविराम,
मदुल कल्पनाओ से पोषित,
भावो से भूषित अभिराम,
तुमने भौंरो की गुजित ज्या,
कुसुमो का लीलायुध थाम,
अखिल भुवन के रोम रोम मे,
केशर शर भर दिये सकाम!

नव वसन्त के सरस स्पर्श से
पुलकित वसुधा बारम्बार
सिहर उठी स्मित शस्यावलि मे,
विकसित चिर यौवन के भार,
फूट पडा कलिका के उर से
सहसा सौरभ का उदगार,
गन्ध मुग्ध हो अन्ध समीरण
लगा थिरकने विविध प्रकार!

अगणित बाँहें बढा उदधि ने
इन्दु करो से आलिगन
बदले, विपुल चटुल लहरो ने
तारो से फेनिल चुम्बन,
अपनी ही छवि से विस्मित हो
जगती के अपलक लोचन
सुमनो की पलको पर सुख से
करने लगे सलिल मोचन!

सौ सौ साँसों मे पत्रो की
उमडी। हिमजल सस्मित भोर
मूक विहग कुल के कण्ठो से
उठी मधुर सगीत हिलोर,

विश्व विभव सी-बाल उषा की
उडा सुनहली अचल छोर,
शत हर्षित ध्वनियो से आहत
बढा गन्धवह नभ की ओर!

शून्य शिराओ मे ससृति की
हुआ विचारो का सचार,
नारी के गम्भीर हृदय का
गूढ रहस्य बना साकार,
मिला लालिमा म लज्जा की
छिपा एक निमल ससार,
नयनो मे निसीम व्योम औ
उरोरुहो म सुरसरि धार!

अम्बुधि के जल मे अथाह छवि,
अम्बर मे उज्ज्वल आह्लाद,
ज्योत्स्ना मे अपनी अजानता
मेघो म उदार सवाद,
विपुल कल्पनाएँ लहरो मे,
तरु छाया मे विरह विषाद,
मिली नवा सरिता की गति मे
तम म अगम, गहन उन्माद!

सुमन हास मे, तुहिन अश्रु मे,
मौन मुकुल, अलि गुजन म,
इन्द्रधनुष म, जलद पख मे
अस्फुट बुदबुद क्रन्दन म,
खद्योतो के मलिन दीप मे,
शिशु की स्मिति, तुतलेपन मे,
एक भावना, एक रागिनी
एक प्रकाश मिला मन म!

मगियो ने चचल अवलोकन,
औ' चकोर ने निशाभिसार,
सारस ने मदु ग्रीवालिगन
हसो ने गति, वारि विहार,
पावस लास प्रमत्त शिखी ने
प्रमदा ने सेवा, शृगार
स्वाति तृषा सीखी चातक न
मधुकर ने मादक गुजार!

शून्य वेणु उर से तुम कितनी
छेड चुके तब से प्रिय तान,
यमुना की नीली लहरो मे
बहा चुके कितने कल गान,
कहाँ मेघ औ' हस? किन्तु तुम
भेज चुके सन्देश अजान,

तुडा मराला से मदर धनु
जुडा चुवे तुम अगणित प्राण ।

जीवन के सुख-दुख म सुरभित
कितने काव्य कुसुम सुकुमार,
करुण कथाओ की मृदु कलियाँ—
मानव उर के से शृगार—
कितने छदो म, तालो में,
कितन रागो मे अविकार
फूट रहे नित, अहे विश्वमय !
तब से जगती के उदगार !

विपुल कल्पना से, भावो से,
खोल हृदय के सौ-सौ द्वार,
जल, थल, अनिल, अनल, नभ से कर
जीवन को फिर एकाकार,
विश्व मच पर हास अश्रु का
अभिनय दिखला बारम्बार,
मोह यवनिका हटा, कर दिया
विश्व रूप तुमने साकार !

हे त्रिलोकजित् ! नव वसत की
विकच पुष्प शोभा सुकुमार
सहम, तुम्हारे मदुल करो मे
झुकी धनुष-सी है साभार,
वीर ! तुम्हारी चितवन चचल
विजय ध्वजा म मीनाकार
कामिनि की अनिमेष नयन छवि
करती निन नव बल सचार !

बजा दीघ सासो की भेरी,
सजा सटे कुच कलशाकार
पलक पाँवडे बिछा खडे कर
रोओ मे पुलकित प्रतिहार,
बाल युवतिया तान कान तक
चल चितवन के बन्दनवार,
देव ! तुम्हारा स्वागत करती
खोल सतत उत्सुक दग द्वार !

पाकर अबला के पलको से
मदन ! तुम्हारा प्रखर प्रहार
जब निरस्त त्रिभुवन का यौवन
गिरकर प्रबल तपा के भार,
रोमावलि की शर शय्या मे
तडप तडप, करता चीत्कार
हरते हो तब तुम जग का दुख
बहा प्रेम सुरसरि की धार !

ऐ त्रिनयन की नयन वह्नि के
तप्त स्वर्ण, ऋषियों के गान,
नवजीवन, षडऋतु परिवर्तन,
नव रसमय, जगती के प्राण!
ऐ असीम सौंदर्य राशि में
हृत्कम्पन से अंतर्धान,
विश्व कामिनी की पावन छवि
मुझे दिखाओ, करुणावान!
(सितम्बर, १९२३)

मोह

छोड़ द्रुमों की मृदु छाया,
तोड़ प्रकृति से भी माया,
बाले! तेरे बाल जाल में कैसे उलझा दूं लोचन?
भूल अभी से इस जग को!
तज कर तरल तरंगों को,
इंद्रधनुष के रंगों को,
तेरे भ्रू भंगों में कैसे बिंधवा दूं निज मृग सा मन?
भूल अभी से इस जग को!
कोयल का वह कोमल बोल,
मधुकर की वीणा अनमोल,
कह, तब तेरे ही प्रिय स्वर से कैसे भर लूं सजनि! श्रवन?
भूल अभी से इस जग को!
ऊषा सस्मित किसलय दल,
सुधारश्मि से उतरा जल,
ना, अधरामृत ही के मद में कैसे बहला दूं जीवन?
भूल अभी से इस जग को!
(जनवरी, १९१८)

मौन निमन्त्रण

स्तब्ध ज्योत्स्ना में जब संसार
चकित रहता शिशु सा नादान,
विश्व के पलकों पर सुकुमार
विचरते हैं जब स्वप्न अजान,
न जाने, नक्षत्रों से कौन
निमंत्रण देता मुझको मौन!
सघन मेघों का भीमाकाश
गरजता है जब तमसाकार,
दीर्घ भरता समीर निःश्वास,
प्रखर झरती जब पावस धार,

न जाने, तपक तड़ित मे कौन
मुझे इगित करता तब मौन !

देख वसुधा का यौवन भार
गूँज उठता है जब मधुमास
विधुर उर के-से मृदु उद्गार
कुसुम जब खुल पड़ते सोच्छवास,
न जाने, सौरभ के मिस कौन
सँदेशा मुझे भेजता मौन !

क्षुब्ध जल शिखरों को जब वात
सिन्धु मे मथकर फेनाकार,
बुलबुलों का व्याकुल ससार
बना बिथुरा देती अज्ञात,
उठा तब लहरों से कर कौन
न जाने मुझे बुलाता मौन !

स्वर्ण, सुख श्री, सौरभ मे भोर
विश्व को देती है जब बोर,
विहग कुल की कल कण्ठ हिलोर
मिला देती भू नभ के छोर,
न जाने अलस पलक दल कौन
खोल देता तब मेरे मौन !

तुमुल तम मे जब एकाकार
ऊँघता एक साथ ससार,
भीरु भींगुर कुल की भनकार
कँपा देती तन्द्रा के तार,
न जाने, खद्योतो से कौन
मुझे पथ दिखलाता तब मौन !

कनक छाया मे, जब कि सकाल
खोलती कलिका उर के द्वार,
सुरभि पीडित मधुपो के बाल
तडप बन जाते हैं गुजार,
न जाने, ढुलक ओस मे कौन
खीच लेता मेरे दृग मौन !

बिछा कार्यों का गुरुतर भार
दिवस को दे सुवर्ण अवसान,
शून्य शय्या मे श्रमित अपार,
जुडाती जब मैं आकुल प्राण,
न जाने मुझे स्वप्न मे कौन
फिराता छाया जग मे मौन !
न जाने कौन, अये द्युतिमान !
जान मुझको अबोध, अजान

सुझाते हो तुम पथ अनजान,
फूंक देते छिद्रों में गान,
अहे सुख दुख के सहचर मौन!
नहीं कह सकती तुम हो कौन!
(नवम्बर, १९२३)

वसन्त श्री

उस फैली हरियाली में,
कौन अकेली खेल रही मा!
वह अपनी वय बाली में?
सजा हृदय की थाली में—
क्रीडा, कौतूहल, कोमलता,
मोद, मधुरिमा हास, विलास,
लीला विस्मय, अस्फुटता भय,
स्नेह पुलक, सुख, सरल हुलास,
ऊषा की मृदु लाली में—
किसका पूजन करती पल पल
बाल चपलता से अपनी?
मृदु कोमलता से वह अपनी,
सहज सरलता से अपनी?
मधुऋतु की तरु डाली में—
रूप, रंग, रज, सुरभि, मधुर मधु,
भर-भर मुकुलित अंगों में
मा! क्या तुम्हें रिझाती है वह?
खिल खिल बाल उमंगों में,
हिल मिल हृदय तरंगों में?
(मार्च, १९१८)

स्वप्न

बालक के कम्पित अधरों पर
किस अतीत स्मृति का मृदु हास
जग की इस अविरत निद्रा का
करता नित रह रह उपहास?
उन स्वप्नों की स्वर्ण सरित का
सजनि! कहाँ शुचि जन्मस्थान
मुसकानों में उछल उछल मृदु
बहती वह किस ओर अजान?
किन वर्षों की जीवित छाया
उस निद्रित विस्मृति के संग

आँखमिचौनी खेल रही वह,
किन भावों की गूढ़ उमग ?

मुँदे नयन पलकों के भीतर
किस रहस्य का सुखमय चित्र
गुप्त वचना के मादक कर
खींच रहे सखि ! स्वप्न विचित्र ?

निद्रा के उस अलसित वन म
वह क्या भावी की छाया
दृग पलकों मे विचर रही, या
वन्य देवियों की माया ?

नयन नीलिमा के लघु नभ मे
अलि ! किस सुखमा का ससार
विरल इन्द्रधनुषी बादल - सा
बदल रहा निज रूप अपार ?

मुकुलित पलकों के प्यालो म
किस स्वप्निल मदिरा का राग
इन्द्रजाल - सा गूँथ रहा नव
किन पुष्पों का स्वर्ण पराग ?

किन इच्छाओं के पखो मे
उड - उड ये आँखें अनजान
मधु बालो - सी, छाया - वन की
कलियों का मधु करती पान ?

मानस की फेनिल लहरो पर
किस छवि की किरणें अज्ञात
रजत स्वर्ण मे लिखती अविदित
तारक लोकों की शुचि बात ?

किन जन्मो की चिर सचित सुधि
बजा सुप्त तन्त्री के तार
नयन नलिन म बँधी मधुप सी
करती मम मधुर गुजार ?

पलक यवनिका के भीतर छिप,
हृदय मच पर छा छविमय,
सजनि ! अलस से मायावी शिशु
खेल रहे कैसा अभिनय ?

मीलित नयनो का अपना ही
यह कैसा छायामय लोक
अपने ही सुख - दुख इच्छाएँ
अपनी ही छवि का आलोक !

मौन मुकुल मे छिपा हुआ जो
रहता विस्मय का ससार
सजनि ! कभी क्या सोचा तूने
वह किसका शुचि शयनागार !

प्रथम स्वप्न उसमे जीवन का
रहता चिर अविकच, अज्ञान,
जिसे न चिन्ता छू पाती औ'
जो केवल मृदु अस्फुट गान!

जब शशि की शीतल छाया म
रुचिर रजत किरणें सुकुमार
प्रथम खोलती नव कलिका के
अतपुर के कोमल द्वार

अलि बाला स सुन तब सहसा—
'जग है केवल स्वप्न असार,'
अर्पित कर देती मारुत को
वह अपने सौरभ का भार!

हिम जल बन, तारक पलको स
उमड मोतिया - से अवदात,
सुमनो के अधखुले दृगो म
स्वप्न लुढकते जो नित प्रात,

उन्हें सहज अचल मे चुन - चुन,
गूथ उषा किरणो मे हार
क्या अपने उर के विस्मय का
तूने कभी किया शृगार?

विजन नीड मे चौंक अचानक
विटप बालिका पुलकित गात
निज सुवण स्वप्नो की गाथा
गा - गा कर कहती अनात

सजनि! कभी क्या सोचा तूने
तरुओ के तम मे चुपचाप,
दीप शलभ दीपो की चमका
करते जो मदु मौनालाप?

जलनिधि की मदु पुलकावलि - सी
सलिल बालिकाएँ सुकुमार
स्वप्न सिंधु सी उमड, अतल के
बतलाती क्या भेद अपार?

अलि! किस स्वप्नो की भाषा म
इगित करते तरु के पात,
कहाँ प्रात को छिपती प्रतिदिन
वह तारक स्वप्नो की रात?

दिनकर की अतिम किरणो ने
उस नीरव तरु के ऊपर
स्वप्नो का जो स्वण जाल ह
फैलाया सुखमय, सुदर,

विहग बालिका बन द्रुम मर्मर,
बैठ वहाँ पल - भर एकान्त,

चल सखि! स्वप्नो पर कुछ सोचें
दूर करें निज भ्रांति नितात!

सजनि! हमारा स्वप्न सदन क्यो
सिहर उठा सहसा थर-थर!
किस अतीत के स्वप्न अनिल मे
गूज उठे, कर मृदु मर मर!

विरस डालियो से यह कैसा
फूट रहा हा! रुदन मलिन —
'हम भी हरी भरी थी पहिले
पर अब स्वप्न हुए व दिन!'

पत्रो के विस्मित अधरो से
ससृति का अस्फुट सगीत
मौन निमत्रण भेज रहा वह
अधकार के पास सभीत!

सघन द्रुमो मे झूम रहा अब
निद्रा का नीरव नि श्वास,
मूद रहा घन अधकार मे
रह-रह अलस पलक आकाश!

जग के निद्रित स्वप्न सजनि! सब
इसी अध तम म बहत,
पर जागति के स्वप्न हमारे
सुप्त हृदय ही मे रहत!

अहृ, किस गहरे अधकार मे
डूब रहा धीरे ससार,
कौन जानता है, कब इसके
छूटेंगे ये स्वप्न असार!

अलि! क्या कहती है, प्राची स
फिर उज्ज्वल हागा आकाश?
पर, मेरे तम पूण हृदय म
कौन भरेगा प्रकृत प्रकाश!
(नवम्बर, १९१९)

मुसकान

कहेंगे क्या मुझसे सब लोग
कभी आता है इसका ध्यान?
रोकने पर भी तो सखि! हाय,
नही रुकती है यह मुसकान!

विपिन म पावस के-म दीप
सुकोमल सहसा, सौ-सौ भाव
सज्ग हा उठत नित उर बीच,
नही रुक सकती सनिक दुराव!

कल्पना के ये शिशु नादान
हँसा देते हैं मुझे निदान!

तारकों से पलकों पर कूद
नींद हर लेते नव-नव भाव,
कभी बन हिमजल की लघु बूँद
बढ़ाते मुझसे चिर अपनाव,
गुदगुदाते ये तन, मन प्राण
नहीं रुकती तब यह मुसकान!

कभी उड़ते पत्तों के साथ
मुझे मिलते मेरे सुकुमार,
बढ़ाकर लहरों से निज हाथ
बुलाते, फिर मुझको उस पार,
नहीं रखती मैं जग का मान,
और हँस पड़ती हूँ अनजान!
रोकने पर भी तो सखि! हाय,
नहीं रुकती तब यह मुसकान!
(अगस्त, १९२२)

विश्व वेणु

हाँ, हम मारुत के मृदुल झकोर,
नील व्योम के अचल छोर,
बाल कल्पना से अनजान
फिरते रहते हैं निशि भोर
उर-उर के प्रिय, जग के प्राण!
हरियाली से ढक मृदु गात,
कानों में भर सौ-सौ बात,
हमें झुलाते हैं अविराम
विश्व पुलक-से तरु के पात,
कुसुमित पलनों में अभिराम!

चारु नभचरों से वय हीन,
अपनी ही मृदु छवि में लीन,
कर सहसा शीतल भ्रू पात,
चंचलपन ही में आसीन,
हम पुलकित कर देते गात!
गुंजित कुंजों में सुकुमार,
(भौंरों के सुरभित अभिसार)
आ, जा, खोल, फेर स्वच्छंद
पत्रों के बहु छिद्रित द्वार,
हम क्रीड़ा करते सानंद!

चूम मौन कलियों का मान,
खिला मलिन मुख में मुसकान,

गूढ़ स्नेह का-सा निश्वास
पा कुसुमों से सौरभ दान,
छा जाते हम अवनि अकास।
चचल कर सरसी के प्राण,
सौ सौ स्वप्नो सी छविमान,
लहरो मे खिल सानुप्राम,
गा वारिधि छन्दो म गान,
करते हम ज्योत्स्ना का लास।

छेड़ वेणु वन मे आलाप,
जगा रेणु के लोहित साप,
भय मे पीले तरु के पात
भगा बावलो से के आप,
करते नित नाना उत्पात।
अस्थि हीन जलदो के बाल,
खीच मीच औ' फेंक उछाल,
रचत विविध मनोहर रूप,
मार जिला उनको तत्काल,
फला माया जाल अनूप।

निज अविरल गति मे उड्डीन,
उच्छृखलता मे स्वाधीन,
वातायन से आ द्रुत भोर
लेते मृदु पलको को छीन
हम सुखमय स्वप्नो के चोर।
चुन कलियो की कोमल सास
किसलय अधरो का हिम हास,
चिर अतीत स्मृति-सी अनजान
ला सुमनो की मृदुल सुवास
पिघला देते तन, मन प्राण।

हर सुदूर मे अस्फुट तान,
आकुल कर पथिको के कान,
विश्व वेणु के से झकार
हम जग के सुख-दुखमय गान
पहुचाते अनन्त के द्वार।
हम नभ की निस्सीम हिलोर
डुबा दिशाओ के दस छोर
नव जीवन कम्पन सचार
करते जग म चारो ओर,
अमर, अगोचर, औ अविकार।

(मार्च १९२३

निर्झर गान

शुभ्र निर्झर के झर झर पात !
कहाँ पाया वह स्वर्गिक गान ?
शृंग के निर्मल नाद !
स्वरों का यह संधान ?
विजनता का सा विशद विषाद,
समय का सा संवाद,
कर्म का - सा अजस्र आह्वान
गगन का - सा आह्लाद,
मूक गिरिवर के मुखरित गान !
भारती का सा अक्षय दान ?
सितारों के हैं गीत महान्
मोतियों के अमूल्य, अम्लान,
फेन के अस्फुट अचिर, वितान
ग्रास के सरल, चटुल, नादान,
आँसुओं के अविरल, अनजान,
बालुका के गतिवान
कठिन उर के कोमल उद्घात !
अमर है यह गांधर्व विधान !
प्रगति में है निर्वाण,
पतन में अभ्युत्थान,
जलद ज्योत्स्ना के गात !
अटल हो यदि चरणों में ध्यान,
शिलोच्चय के गौरव संधान,
विश्व है कर्म प्रधान !
(अगस्त, १९२२)

छाया

कौन कौन तुम परिहृत वसना,
म्लान मना भू पतिता सी,
वात हता विच्छिन्न लता सी,
रति श्रान्ता व्रज वनिता सी ?
नियति वंचिता, आश्रय रहिता,
जर्जरिता, पद दलिता - सी,
धूलि धूसरित मुक्त कुन्तला,
किसके चरणों की दासी ?
कहो, कौन हो दमयन्ती - सी
तुम तरु के नीचे सोयी ?

हाय ! तुम्हे भी त्याग गया क्या
अलि ! नल-सा निष्ठुर कोई !
पीले पत्रो की शय्या पर
तुम विरक्ति सी, मूर्छा-सी,
विजन विपिन मे कौन पडी हो
विरह मलिन, दुख विधुरा सी ?
गूढ कल्पना सी कवियो की
अज्ञाता के विस्मय-सी,
ऋषियो के गम्भीर हृदय सी,
बच्चो के तुतले भय सी,
भू पलको पर स्वप्न जाल सी,
स्थल सी, पर चचल जल सी,
मौन अश्रुओ के अचल सी,
गहन गर्त मे समतल सी ?
तुम पथ श्रान्ता द्रुपद सुता-सी
कौन छिपी हो अलि ! अज्ञात
तुहिन अश्रुओ से निज गिनती
चौदह दुखद वर्ष दिन रात ?
तरुवर की छायानुवाद सी
उपमा-सी भावुकता सी
अविदित भावाकुल भाषा-सी
कटी छँटी नव कविता-सी,
पछतावे की परछाई सी
तुम भू पर छायी हो कौन ?
दुर्बलता सी अँगडाई-सी
अपराधी-सी भय से मौन !
मदिरा की मादकता-सी औ'
वृद्धावस्था की स्मृति-सी
दर्शन की अति जटिल ग्रथि सी
शैशव की निद्रित स्मिति सी,
आशा के नव इन्द्रजाल-सी
सजनि ! नियति-सी अन्तर्धान,
कहो कौन तुम तरु के नीचे
भावी-सी हो छिपी अजान ?
चिर अतीत की विस्मृत स्मृति सी
नीरवता की सी झकार,
आँखमिचौनी सी असीम की,
निर्जनता की सी उद्गार,
परियो की निर्जल सरसी-सी
वन्य देवियाँ जहाँ विहार
करती छिप छिप छाया जल मे,
अनिल वीचियो म सुकुमार !

तुम त्रिभुवन के नयन चित्र सी
यहाँ कहाँ से उतरी प्रात,
जगती की नेपथ्य भूमि सी,
विश्व विदूषक - सी अनात !

किस रहस्यमय अभिनय की तुम
सजनि ! यवनिका हो सुकुमार,
इस अभेद्य पट के भीतर है
किस विचित्रता का समार ?

निजनता के मानस पट पर
—बार बार भर ठण्ढी सास—
क्या तुम छिपकर क्रूर काल का
लिखती हो अकरुण इतिहास ?

सखि ! भिखारिणी सी तुम पथ पर
फला कर अपना अचल,
सूखे पातो ही को पा क्या
प्रमुदित रहती हो प्रतिपल ?

पत्रो के अस्फुट अधरो से
सचित कर सुख दुख के गान,
सुला चुकी हो क्या तुम अपनी
इच्छाएँ सब अल्प महान ?

कालानिल की कुचित गति से
बार बार कम्पित होकर,
निज जीवन के मलिन पृष्ठ पर
नीरव शब्दो मे निर्भर

किस अतीत का करुण चित्र तुम
खीच रही हो कोमलतर
भग्न भावना विजन वेदना,
विफल लालसाओ से भर ?

ऐ अवाक निजन की भारति,
कम्पित अधरा से अनजान
मम मधुर किस सुर मे गाती
तुम अरण्य के चिर आख्यान !

ऐ अस्पृश्य, अदृश्य अप्सरसि !
यह छाया तन, छाया लोक,
मुझको भी दे दो मायाविनि
उर की आँखो का आलोक !

ज्योतिमय गत नयन खोल नित
पुलकित पलक पसार अपार,
श्रान्त यात्रियो का स्वागत क्या
करती हो तुम बारम्बार ?

थके चरण चिह्नो को अपनी
नीरव उत्सुकता से भर,

दिखा रही हो अथवा जग को
पर सेवा का मार्ग अमर?

कभी लोभ सी लम्बी होकर,
कभी तृप्ति - सी हो फिर पीन,
क्या संसृति की अचिर भूति तुम
सजनि! नापती हो स्थिति हीन?

श्रमित, तपित अवलोक पथिक को
रहती या यों दीन, मलीन?
ऐ विटपी की व्याकुल प्रेयसि,
विश्व वेदना में तल्लीन!

दिनकर कुल में दिव्य जन्म पा
बढ़ कर नित तरुवर के संग,
मुरझे पत्रों की साड़ी से
ढँक कर अपने कोमल अंग

सदुपदेश सुमनों से तरु के
गूँथ हृदय का सुरभित हार,
पर सेवा रत रहती हो तुम,
हरती नित पथ श्रांति अपार!

हे सखि! इस पावन अंचल से
मुझको भी निज मुख ढककर,
अपनी विस्मृत सुखद गोद में
सोने दो सुख से क्षणभर!

चूर्ण शिथिलता - सी अँगड़ा कर
होने दो अपने में लीन,
पर पीड़ा से पीड़ित होना
मुझे सिखा दो कर मद हीन!

× × × ×

गाओ गाओ विहग बालिके,
तरुवर से मृदु मंगल गान
मैं छाया में बैठ तुम्हारे
कोमल स्वर में कर लूँ स्नान!

—हाँ सखि! आओ बाँह खोल हम
लग कर गले जुड़ा लें प्राण,
फिर तुम तम में मैं प्रियतम में
हो जावें द्रुत अंतर्धान!

(दिसम्बर १९२०)

शिशु

कौन तुम अतुल, अरूप अनाम?
अये अभिनव, अभिराम!

मृदुलता ही है बस आकर
मधुरिमा छवि, शृंगार,
न अंगों में है रंग उभार,
न मृदु उर में उद्गार,
निर साँसों के पिंजर द्वार !
कौन हो तुम अकलंक, अकाम ?
कामना-से मा की सुकुमार
स्नेह में चिर साकार,
मृदुल कुडमल से जिसे न नात
सुरभि का निज संसार,
स्रोत-से नव अवदात,
स्खलित अविदित पथ पर अविचार,
कौन तुम गूढ़, गहन, अज्ञात ?
अहे निरुपम, नवजात !
वेणु-से जिसकी मधुमय तान
दुरी हो अंतर में अनजान,
विरल उडु-से सरसी में तात !
इतर हो जिसका वासस्थान,
लहर से लघु, नादान,
कम्प अम्बुधि की एक महान,
विमल हिमजल से एक प्रभात
कहाँ से उतरे तुम छविमान !
गीति से जीवन में लयमान,
भाव जिसके अस्पष्ट, अजान,
सुरभि से जिसे विहान
उड़ा लाया हो प्राण,
स्वप्न से निद्रित सजग समान,
सुप्ति में जिसे न अपना ज्ञान,
रश्मि से शुचि रुचिमान
वीचि में पड़ी वितान,
स्वीय स्मिति-से ही हे अज्ञान
दियता का निज तुम्हें न ध्यान !
खेलती अधरों पर मुसकान
पूर्व सुधि-सी अम्लान,
सरल उर की सी मृदु आलाप,
अनवगत जिसका गान,
कौन-सी अमर गिरा यह, प्राण !
कौन-से राग, छंद, आख्यान ?
स्वप्न लोकों में किन चुपचाप
विचरते तुम इच्छा गतिवान !
न अपना ही न जगत का ज्ञान,
न परिचित हैं निज नयन, न कान,

दीखता है जग कैसा तात!
नाम, गुण रूप अजान?
तुम्ही-सा हूँ मैं भी अज्ञात,
वत्स! जग है अज्ञेय महान!
(नवम्बर, १९२३)

विसर्जन

अनुपम! इस सुन्दर छवि से
मैं आज सजा लूँ निज मन,
अपलक अपार चितवन पर
अर्पण कर दूँ निज यौवन!

इस मन्द हास में बह कर
गा लूँ मैं बेसुर—'प्रियतम,
बस इस पागलपन में ही
अवसित कर दूँ निज जीवन!

नव कुसुमों में छिप छिप कर
जब तुम मधु पान करोगे,
फूली न समाऊँगी मैं
उस सुख से हे जीवन धन!

यदि निज उर के काँटों को
तुम मुझे न पहनाओगे,
उस विरह वेदना से मैं
नित तडपूँगी कोमल तन!

अवलोक अल्पता मेरी
उपहार न चाहे दो तुम,
पर कुपित न होना मुझ पर
दो चाहे हार दया धन!

तुम मुझे भुला दो मन से
मैं इसे भूल जाऊँगी,
पर वंचित मुझे न रखना
अपनी सेवा से पावन!

मैं सखियों से कह आऊँ—
प्रस्तुत है पद की दासी
वे चाहे मुझ पर हँस लें
मैं खडी रहूँगी सनयन!
(जून, १९१९)

नारी रूप

घन लहरे रेशम से बाल—
धरा है सिर में मैंने देवि!

तुम्हारा यह स्वर्गिक शृंगार,
स्वर्ण का सुरभित भार!
मलिन्दों से उलझी गुंजार,
मृणालों से मृदु तार,
मेघ से सन्ध्या का संसार
वारि से ऊर्मि उभार,
—मिले हैं इन्हें विविध उपहार,
तरुण तम से विस्तार!
स्नेहमयि! सुन्दरतामयि!
तुम्हारे रोम - रोम से, नारि!
मुझे है स्नेह अपार,
तुम्हारा मृदु उर ही, सुकुमारि!
मुझे है स्वर्गागार!
तुम्हारे गुण हैं मेरे गान,
मृदुल दुर्बलता, ध्यान,
तुम्हारी पावनता, अभिमान
शक्ति, पूजन सम्मान,
अकेली सुन्दरता कल्याणि!
सकल ऐश्वर्यों की सन्धान!
स्वप्नमयि! हे मायामयि!
तुम्हीं हो स्पृहा, अश्रु औ हास,
सृष्टि के उर की साँस,
तुम्हीं इच्छाओं की अवसान,
तुम्हीं स्वर्गिक आभास,
तुम्हारी सेवा में अनजान
हृदय है मेरा अन्तर्धान,
देवि! मा! सहचरि! प्राण!
(मई, १६२२)

नक्षत्र

ऐ निशि जाग्रत वासर निद्रित
ऐ अनन्य छवि के समुदय,
स्तब्ध विश्व के अपलक विस्मय,
अश्रु हास, अनिमेष हृदय!
ऐ अनादि के वक्त अनन्वय,
ऐ आतुर उर के सम्मान!
अब मेरी उत्सुक आँखों से
उमडो —दिवस हुआ अवसान!
ऐ अनन्त की अगम कल्पना,
ऐ अशब्द भारति अविषय,

म्रादि नग्न सौंदय निरामय,
मुग्ध सृष्टि की चरम विजय !

स्वण समय के स्मारक सुखमय,
ससृति के अविदित आख्यान,
अब पिपीलिका के विवरो से
निकलो, हे असख्य, अम्लान !

ऐ अशात देश के नाविक,
ऐ अनत के हृत्कम्पन,
नव प्रभात के अस्फुट अकुर,
निद्रा के रहस्य कानन !

ऐ सुखमय तब, आशामय अब,
ऐ मानस लोचन छविमान,
जागो हे, हाँ, धीरे, धीरे,
खोलो अलसित पलक सुजान !

ऐ अविदित युग के मुद्राकर,
ऐ विभूति के भग्न भवन,
अहे पुरातन हर्षोज्वल दिन,
ऐ नूतन निशि अश्रु नयन !

ऐ शाश्वत स्मिति, ऐ ज्योतित स्मृति
स्वप्नो के गति-हीन विमान,
गाम्रो हे, हाँ, व्योम विटप से
गाम्रो खग ! निज नीरव गान !

ऐ असख्य भाग्यो के शासक,
ऐ असीम उवि के सावन,
ऐ अरण्य निशि के आश्वासन,
विश्व सुकवि के सजग नयन !

ऐ सुदूरता के सम्मोहन,
ऐ निजनता के आह्वान,
काल गुह, मेरा दुगम मग
दीपित कर दो, हे द्युतिमान !

ऐ गम्भीर गधव साम ध्वनि,
व्योम वेणु के नीरव लय,
सजग दिगम्बर के चिर ताण्डव,
सुप्त विश्व के जीवाशय !

सूर सिन्धु तुलसी के मानस,
मीरा के उल्लास अजान,
मेरे अधरो पर भी अकित
कर दो यह स्वर्गिक मुसकान !

अहे अनभ्र गगन के जल कण
ज्योति बीज हिमजल के घन
बीते दिवसो की समाधि हे,
प्रात विस्मत स्वप्न सघन !

अग्नि शस्य, रवि के चिह्नित पग,
म्लान दिवस के छिन्न वितान,
वह दो हे शशि के प्रिय सहचर,
निशानाथ दें दर्शन दान !

ऐ नश्वरता के लघु बुद्बुद,
काल चक्र के विद्युत् कन,
ऐ स्वप्नों के नीरव चुम्बन,
तुहिन दिवस, आकाश सुमन !

नित वसन्त, निशि के नन्दन वन,
भावी दिवसों के जल - यान,
खड़ी कुमुदिनी - सी मैं कब से
नयन मूंद करती हूं ध्यान !

अहे तिमिर चरते शशि शावक,
मूछित आतप, शीतानल,
दिवस स्रोत से दलित उपल दल,
स्वप्न नीड़, तम ज्योति धवल !

इन्दु दीप से दग्ध शलभ शिशु,
शुचि उलूक, अब हुआ विहान,
अन्धकारमय मेरे उर में
आओ, छिप जाओ अनजान !

(मई, १६२२)

सोने का गान

कहो हे प्रमुदित विहग कुमारि,
कहां से आया यह प्रिय गान ?
तुहिन वन में छायी, सुकुमारि,
तुम्हारी स्वर्ण ज्वाल - सी तान !

उषा की कनक मदिर मुसकान
उसी में था क्या यह अनजान ?
भल उठते ही तुमको आज
दिलाया किसने इसका ध्यान !

स्वर्ण पंखों की विहग कुमारि,
अमत है यह पुलकों का गान !

विटप में थी तुम छिपी विहान,
विकल क्यों हुए अचानक प्राण ?
छिपाओ अब न रहस्य, कुमारि,
लगा यह किसका कोमल बाण ?

विजन वन में तुमने, सुकुमारि,
कहां पाया यह मेरा गान ?

स्वप्न में आकर कौन सुजान
फूंक - सा गया तुम्हारे कान ?

कनक कर बढ़ा-बढ़ाकर प्रात
कराया किसने यह मधु पान ?
मुझे लौटा दो, विहग कुमारि,
सजल मेरा सोने का गान !
(मार्च, १६२२)

निर्झरी

यह कैसा जीवन का गान
अलि कोमल कल मल टल मल ?
अरी शैल बाले नादान,
यह अविरल कल कल छल-छल ?

झर मर कर पत्रों के पास,
रण मण रोड़ों पर सायास,
हँस-हँस सिकता से परिहास
करती हो अलि, तुम झलमल !

स्वर्ण बेलि-सी खिली विहान,
निशि में तारों की-सी यान,
रजत तार-सी शुचि रुचिमान
फिरती हो रंगिणि, रल मल !

दिखा भंगिमय भृकुटि विलास
उपलों पर बहु रंगी लास,
फलाती हो फेनिल हास,
फूलों के कूलों पर चल !

अलि यह क्या केवल दिखलाव,
मूक व्यथा का मुखर भुलाव ?
अथवा जीवन का बहलाव ?
सजल आँसुओं की अचल !

वही कल्पना है दिन-रात,
बचपन औ' यौवन की बात,
सुख की या दुख की ? अज्ञात !
उर अधरों पर है निमल !

सरल सलिल की सी कल तान,
निखिल विश्व से निपट अजान,
विपिन रहस्यों की आख्यान
गूढ़ बात है कुछ कल मल !
(सितम्बर, १६२२)

जीवन यान

अहे विश्व ! ऐ विश्व व्यथित मन !
किधर बह रहा है यह जीवन ?

यह लघु पोत, पात, तृण, रज कण,
अस्थिर भीरु वितान,
किधर ?—किस ओर ?—अछोर,—अजान,
डोलता है यह दुर्बल यान ?
मूक बुदबुदो से लहरो मे
मेरे व्याकुल गान
फूट पडते नि श्वास समान,
किसे है हा ! पर उनका ध्यान !
कहा दुरे हो मेरे ध्रुव !
हे पथ-दर्शक ! द्युतिमान !
दृगो से बरसा यह अपिधान
देव, कब दोगे दर्शन दान !
(अगस्त, १६२२)

बादल

सुरपति के हम ही हैं अनुचर,
जगत्प्राण के भी सहचर,
मेघदूत की सजल कल्पना,
चातक के प्रिय जीवनधर,
मुग्ध शिखी के नृत्य मनोहर,
सुभग स्वाति के मुक्ताकर,
विहग वर्ग के गर्भ विधायक,
कृषक बालिका के जलधर !
जलाशयो मे कमल दलो सा
हमे खिलाता नित दिनकर,
पर बालक सा वायु सकल दल
बिखरा देता चुन सत्वर,
लघु लहरो के चल पलना मे
हमे झुलाता जब सागर,
वही चील-सा झपट, बाँह गह,
हमको ले जाता ऊपर !
भूमि गर्भ मे छिप विहग से,
फैला कोमल रोमिल पख,
हम असख्य अस्फुट बीजो मे
सेते साँस, छुडा जड पक,
विपुल कल्पना-से त्रिभुवन की
विविध रूप धर, भर नभ अक,
हम फिर क्रीडा कौतुक करते,
छा अनन्त उर मे नि शक !
कभी चौकडी भरते मृग-से
भू पर चरण नही धरते,

मत्त मतगज कभी झूमते,
सजग शशक नभ को चरते,
कभी कीश-से अनिल डाल मे
नीरवता से मुह भरते,
वहद् गृद्ध से विहग छदो को
बिखराते नभ मे तरते।

कभी अचानक, भूतो का-सा
प्रकटा विकट महा आकार,
कडक, कडक, जब हँसते हम सब,
थरी उठता है ससार,
फिर परियो के बच्चो से हम
सुभग सीप के पख पसार,
समुद पैरते शुचि ज्योत्स्ना मे,
पकड इदु के कर सुकुमार।

अनिल विलोडित गगन सिधु मे
प्रलय बाढ-से चारो ओर
उमड-उमड हम लहराते हैं
बरसा उपल, तिमिर, घनघोर,
बात-बात मे, तूल तोम-सा
व्योम विटप से झटक, झकोर,
हमे उडा ले जाता जब द्रुत
दल बल युत घुस वातुल चोर।

बुदबुद द्युति तारक दल तरलित
तम के यमुना जल मे श्याम
हम विशाल जम्बाल जाल-से
बहते हैं अमूल, अविराम,
दमयन्ती-सी कुमुद कला के
रजत करो मे फिर अभिराम
स्वर्ण हस से हम मदु ध्वनि कर,
कहते प्रिय सदेश ललाम।

दुहरा विद्युद्दाम चढा द्रुत
इद्रधनुष की कर टकार,
विकट पटह-स निर्घोषित हो,
बरसा विशिखो सा आसार,
चूर्ण-चूर्ण कर वज्रायुध से
भूधर को अति भीमाकार
मदोमत्त वासव सेना-से
करते हम नित वायु विहार!

स्वर्ण भृग तारावलि वेष्टित,
गुंजित पुंजित, तरल, रसाल,
मधुगृह मे हम गगन पटल में,
लटके रहते विपुल विशाल!

जालिक-सा आ अनिल, हमारा
नील सलिल मे फैला जाल,
उन्हे फँसा लेता फिर सहसा
मीनो के-से चचल बाल।

व्योम विपिन मे जब वसन्त-सा
खिलता नव पल्लवित प्रभात,
बहते हम तब अनिल स्रोत मे
गिर तमाल तम के-से पात,

उदयाचल से बाल हस फिर
उडता अम्बर मे अवदात,
फैल स्वर्ण पखो-से हम भी,
करते द्रुत मारुत से बात।

सन्ध्या का मादक पराग पी,
झूम मलिन्दो-से अभिराम,
नभ के नील कमल मे निर्भय
करते हम विमुग्ध विश्राम,

फिर बाडव-से साध्य सिन्धु मे
सुलग, सोख उसको अविराम,
बिखरा देते तारावलि से
नभ मे उसके रत्न निकाम।

धीरे धीरे सशय-से उठ,
बढ अपयश-से शीघ्र अछोर,
नभ के उर में उमड मोह-से
फैल लालसा-से निशि भोर,

इन्द्रचाप-सी व्योम भृकुटि पर
लटक मौन चिन्ता-से घोर
घोष भरे विप्लव भय से हम
छा जाते द्रुत चारो ओर।

पर्वत-से लघु धूलि, धूलि से
पर्वत बन पल मे, साकार—
काल चक्र-से चढते-गिरते
पल मे जलधर, फिर जलधार,

कभी हवा मे महल बनाकर,
सेतु बाँध कर कभी अपार,
हम विलीन हो जाते सहसा
विभव भूति ही-से निस्सार।

नग्न गगन की शाखाओ मे
फैला मकडी का-सा जाल,
अम्बर के उडते पतग को
उलझा लेते हम तत्काल,

फिर अनन्त उर की करुणा से
त्वरित द्रवित होकर, उत्ताल—

आतप में मूर्छित कलियों को
जाग्रत् करते हिम जल डाल!

हम सागर के धवल हास हैं,
जल के धूम, गगन की धून,
अनिल फेन, ऊषा के पल्लव,
वारि वसन, वसुधा के मूल,

नभ में अवनि, अवनि में अम्बर,
सलिल भस्म, मारुत के फूल,
हम ही जल में थल, थल में जल,
दिन के तम पावक के तूल!

व्योम वेलि, ताराओं की गति,
चलते अचल, गगन के गान,
हम अपलक तारों की तन्द्रा,
ज्योत्स्ना के हिम, शशि के यान,

पवन धेनु, रवि के पांशुल श्रम,
सलिल अनल के विरल वितान,
व्योम पलक, जल खग, बहते थल
अम्बुधि की कल्पना महान!

× × × ×

धूम धुँआरे काजरकारे,
हम ही बिकरारे बादर,
मदन राज के बीर बहादुर,
पावस के उडते फणिधर,

चमक - झमकमय मन्त्र वशीकर
छहर - घहरमय विष सीकर,
स्वर्ग सेतु - से इन्द्रधनुषधर
कामरूप घनश्याम अमर!

(अप्रैल १६२२)

स्मृति

(उच्छवास की बालिका के प्रति)

आँख में 'आँसू' भर अनजान,
अधर पर धर 'उच्छवास',
समाती है जब उर में प्राण!
तुम्हारी सुधि की सुरभित साँस,
डुबा देता है मुझे सदेह
सूर सागर वह स्नेह!

रूप का राशि राशि वह रास,
दृगों की यमुना श्याम,

तुम्हारे स्वर का वेणु विलास,
हृदय का वदा धाम,
देवि मथुरा या वह आमोद,
देव ! व्रज, अह, यह विरह विषाद !
आह, वे दिन !—द्वापर की बात !
भूति—! भारत की ज्ञात !
(नवम्बर, १६२२)

विश्वछवि

मुसकुराते गुलाब के फूल !
कहाँ पाया मेरा बचपन ?—
सुभग, मेरा भोला बचपन ?
ढुलकते हिमजल-से लोचन,
अधखिला तन, अखिला मन,
धूलि मे भरा स्वभाव दुकूल,
मदुल छवि, पथुल सरलपन,
स्व-विस्मित-से गुलाब के फूल,
तुम्ही सा था मेरा बचपन !
रँगीले मृदु गुलाब के फूल !
कहाँ पाया मेरा यौवन ?—
प्राण, मेरा प्यारा यौवन ?
रूप का खिलता हुआ उभार,
मधुर मधु का व्यापार,
चुभे उर मे सौ सौ मदु शूल,
खुले उत्सुक दग द्वार,
हृदय ही से गुलाब के फूल,
तुम्ही-सा है मेरा यौवन !
सहज प्रमुदित गुलाब के फूल !
कहाँ पाया ऐसा जीवन ?—
सुहृद, ऐसा स्वर्गिक जीवन !
कँटीली जटिल डाल मे वास,
अधर आखो मे हास,
झूलना झोको के अनुकूल,
हृदय मे दिव्य विकास,
सजग कवि से गुलाब के फूल,
तुम्ही-सा हो मेरा जीवन !
मलिन, मुरझे गुलाब के फूल !
सुकृति ही है, हाँ आश्वासन,
सुमन बस अंतिम आश्वासन !
किया तुमने सुरभित उद्यान,
दिया उर से मधुदान,

मिला है उन्हें आज वह मूल,
लिया जिससे आघ्रान,
स्वप्न ही - से गुलाब के फूल,
नव्य जीवन है आश्वासन!

धूलि धूसर गुलाब के फूल!
यही है पीला परिवर्तन,—
प्रतनु, यह पार्थिव परिवर्तन!
नवल कलियों में वह मुसकान
खिलेगी फिर अनजान,
सभी दुहरायेंगी यह गान,—
जन्म का है अवसान,
विश्व छवि-से गुलाब के फूल!
करुण है पर यह परिवर्तन!

(अप्रैल, १९२२)

आकांक्षा

तुहिन बिन्दु बनकर सुन्दर
नभ से भू पर समुद उतर,
मा, जब तू सस्मित सुमनों को
आभूषित करती नित प्रात,
ऋतुपति के लीलास्थल में,
मैं न चाहती तब वे कण
हों मेरे मुक्ताभूषण,
पर, मेरे ही स्नेह करों से
सुमन सुसज्जित हों वे मात,
फूलें तेरे अंचल में!

जलद यान में फिर लघुभार,
जब तू जग को मुक्ताहार
देती है उपहार रूप मा,
सुन चातक की आर्त पुकार,
जगती का करने उपकार,
मैं न चाहती तब वह हार
करे, जननि, मेरा शृंगार,
पर मैं ही चातकिनी बनकर
तुझे पुकारूँ बारम्बार,
हर लें जग का ताप अपार!

(अक्टूबर, १९२२)

बालापन

चित्रकार ! क्या करुणा कर फिर
मेरा भोला बालापन
मेरे यौवन के अंचल मे
चित्रित कर दोगे पावन ?

आज परीक्षा तो लो अपनी
कुशल लेखनी की व्रह्मन !
उसे याद आता है क्या वह
अपने उर का भाव रतन ?
जब कि कल्पना की तन्त्री मे
खेल रहे थे तुम, करतार !
तुम्हें याद होगी, उससे जो
निकली थी अस्फुट झकार ?

हाँ, हाँ, वही, वही, जो जल, थल,
अनिल, अनल, नभ से उस बार
एक बालिका के क्रन्दन मे
ध्वनित हुई थी, बन साकार,
वही प्रतिध्वनि निज बचपन की
कलिका के भीतर अविकार
रज मे लिपटी रहती थी नित,
मधुबाला की - सी गुजार,

यौवन के मादक हाथो न,
उस कलिका को खोल अजान,
छीन लिया हा, ओस बिन्दु - सा
मेरा मधुमय, तुतला गान !
अहे विश्वसृज ! पुन गूथ दो
वह मेरा बिखरा सगीत
मा की गोदी का थपकी से
पला हुआ वह स्वप्न पुनीत !

वह ज्योत्स्ना से हर्षित मेरा
कलित कल्पनामय ससार,
तारो के विस्मय से विकसित
विपुल भावनाओ का हार,
सरिता के चिकने उपलो - सी
मेरी इच्छाएँ रगीन,
वह अजानता की सुन्दरता,
वृद्ध विश्व का रूप नवीन,

अहो कल्पनामय, फिर रच दो
वह मेरा निर्भय अज्ञान,
मेरे अधरो पर वह मा के
दूध से धुली मृदु मुसकान !

मेरा चिंता-रहित, अनलसित,
वारि बिम्ब-सा विमल हृदय,
इंद्रचाप सा वह बचपन के
मृदुल अनुभवों का समुदय,
स्वर्ण गगन-सा, एक ज्योति से
आलिंगित जग का परिचय,
इंदु विचुम्बित बाल जलद सा
मेरी आशा का अभिनय,
इस अभिमानी अंचल में फिर
अंकित कर दो, विधि! अकलंक,
मेरा छीना बालापन फिर
करुण, लगा दो मेरे अंक!

विहग बालिका का-सा मृदु स्वर,
अध खिले, नव कोमल अंग,
क्रीड़ा कौतूहलता मन की,
वह मेरी आनन्द उमंग,
अहो दयामय! फिर लौटा दो
मेरी पद प्रिय चंचलता,
तरल तरंगों-सी वह लीला,
निर्विकार भावना लता!

धूलभरे, घुंघराले, काले,
भय्या को प्रिय मेरे बाल,
माता के चिर चुम्बित मेरे
गोरे, गोरे सस्मित गाल,
वह काँटों में उलझी साड़ी,
मंजुल फूलों के गहने,
सरल नीलिमामय मेरे दृग
अस्त्र-हीन, संकोच सने,

उसी सरलता की स्याही से
सदय, इन्हें अंकित कर दो,
मेरे यौवन के प्याले में
फिर वह बालापन भर दो!
हा! मेरे बचपन-न कितने
बिखर गये जग में शृंगार!
जिनकी अविकच दुर्बलता ही
थी जग की शोभालंकार,

जिनकी निर्ममता विभूति थी,
सहज सरलता शिष्टाचार,
औ' जिनकी अबोध पावनता
थी जग के मंगल की द्वार!

हे विधि, फिर अनुवादित कर दो
उसी सुधा स्मिति मे अनुपम
मा के तन्मय उर से मेरे
जीवन का तुतला उपक्रम!
(मार्च, १९१९)

विश्व व्याप्ति

स्पृहा के विश्व, हृदय के हास!
कल्पना के सुख, स्नेह विकास!
फूल, तुम कहाँ रहे अब फूल?
अनिल मे? बनकर ऊर्मिल गान,
स्वर्ण किरणो मे कर मुसकान,
झूलते हो झाको की झूल?
फूल! तुम कहा रहे अब फूल?
अवनि मे? बन अशोक का फूल,
बिलम अलि ध्वनि मे, लिपटा धूल,
गये क्या मेरी गोदी भूल?
फूल तुम कहाँ रहे अब फूल?
सलिल मे? उछल उछल, हिल हिल,
लहरियो मे सलील खिल-खिल,
थिरकते गह गह अनिल दुकूल?
फूल, तुम कहाँ रहे अब फूल?
अनल मे? ज्वाला बन पावन,
दग्ध कर मोह मलिन बन्धन,
जला सुधि मेरी चुके समूल?
फूल, तुम कहाँ रह अब फूल?
गगन मे? बन शशि कला शकल,
दख नलिनी-सी मुझे विकल,
बहाते ओस अश्रु या स्थूल?
फूल, तुम कहाँ रहे अब फूल?
स्वप्न थे तुम, मैं थी निद्रित,
सुकृत थे तुम, मैं हूँ कलुषित,
पा चुके तुम भव सागर कूल,
फूल, तुम कहाँ रहे अब फूल?
(जुलाई, १९१९)

याचना

बना मधुर मेरा जीवन!
नव-नव सुमनो से चुन चुनकर
धूलि, सुरभि, मधुरस, हिमकण,

मेरे उर की मदु कलिका मे
भर दे, कर दे विकसित मन !

बना मधुर मेरा भाषण !
वशी-से ही कर दे मेरे
सरल प्राण औ' सरस वचन,
जैसा जैसा मुझको छेड़ें,
बोलू अधिक मधुर, मोहन !
जो अकरुण अहि को भी सहसा
कर दे मन्त्र-मुग्ध, नत फन,
रोम-रोम के छिद्रो से मा
फूटे तेरा राग गहन !
बना मधुर मेरा तन, मन !

(जनवरी, १९१९)

स्याही की बूंद

गीत लिखती थी मैं उनके,—
अचानक, यह स्याही का बूद
लेखनी से गिरकर, सुकुमार
गोल तारा-सा नभ स कूद,
सोधने को क्या स्वर का तार
सजनि, आया है मेरे पास ?

अध निद्रित सा, विस्मृत सा,
न जागृत सा, न विमूर्छित सा,
अध जीवित सा औ' मत-सा,
न हर्षित-सा, न विमर्षित सा,
गिरा का है क्या यह परिहास ?

एकटक, पागल-सा यह आज,
अपरिचित सा, वाचक सा कौन
यहाँ आया छिप-छिप निर्व्याज
मुग्ध सा, चिन्तित सा, जड मौन,
सजनि, यह कौतुक है या रास !

योग का-सा यह नीरव तार,
ब्रह्म माया का-सा ससार,
सिन्धु सा घट मे—यह उपहार
कल्पना ने क्या दिया अपार,
कली मे छिपा वसन्त विकास !

(मई, १९२०)

कहाँ आज वह पूर्ण पुरातन, वह सुवर्ण का काल ?
भूतियों का दिगन्त छबि जाल,
ज्योति चुम्बित जगती का भाल ?
राशि राशि विकसित वसुधा का वह यौवन विस्तार ?
स्वर्ग की सुषमा जब साभार
धरा पर करती थी अभिसार !
प्रसूनों के शाश्वत शृंगार,
(स्वर्ण भृंगों के गन्ध विहार)
गूँज उठते थे बारम्बार,
सृष्टि के प्रथमोद्गार !
नग्न सुन्दरता थी सुकुमार,
ऋद्धि औ' सिद्धि अपार !
अये, विश्व का स्वर्ण स्वप्न, संसृति का प्रथम प्रभात,
कहाँ वह सत्य, वेद विख्यात ?
दुरित, दुख दैन्य न थे जब ज्ञात,
अपरिचित जरा मरण भ्रू पात !

(२)

हाय ! सब मिथ्या बात !—
आज तो सौरभ का मधुमास
शिशिर में भरता सूनी साँस !
वही मधुऋतु की गुञ्जित डाल
झुकी थी जो यौवन के भार,
अकिंचनता में निज तत्काल
सिहर उठती,—जीवन है भार !
आज पावस नद के उद्गार
काल के बनते चिह्न कराल
प्रात का सोने का संसार,
जला देती सन्ध्या की ज्वाल !
अखिल यौवन के रंग उभार
हड्डियों के हिलते कंकाल,
कचों के चिकने, काले व्याल
केंचुली, काँस, सिवार,
गूँजते हैं सबके दिन चार,
सभी फिर हाहाकार !

(३)

आज बचपन का कोमल गात
जरा का पीला पात !
चार दिन सुखद चाँदनी रात
और फिर अन्धकार, अज्ञात !

शिशिर-सा झर नयनों का नीर
झुलस देता गालों के फूल !
प्रणय का चुम्बन छोड़ अधीर
अधर जाते अधरों को भूल !

मृदुल होठों का हिमजल हास
उड़ा जाता निःश्वास समीर,
सरल भौंहों का शरदाकाश
घेर लेते घन, घिर गम्भीर !

शून्य सांसों का विधुर वियोग
छुड़ाता अधर मधुर संयोग,
मिलन के पल केवल दो चार,
विरह के कल्प अपार !

अरे, वे अपलक चार नयन
आठ आँसू रोते निरुपाय,
उठे - रोओं के आलिंगन
कसक उठते काँटों - से हाय !

(४)

किसी को सोने के सुख साज
मिल गये यदि ऋण भी कुछ आज
चुका लेता दुख कल ही ब्याज,
काल को नहीं किसी की लाज !

विपुल मणि रत्नों का छवि जाल,
इन्द्रधनु की सी छटा विशाल—
विभव की विद्युत ज्वाल
चमक, छिप जाती है तत्काल,

मोतियों जड़ी ओस की डार
हिला जाता चुपचाप बयार !

(५)

खोलता इधर जन्म लोचन
मूँदती उधर मृत्यु क्षण क्षण,

अभी उत्सव औ' हास हुलास,
अभी अवसाद, अश्रु उच्छ्वास !

अचिरता देख जगत की आप
शून्य भरता समीर निःश्वास,
डालता पातों पर चुपचाप
ओस के आँसू नीलाकाश,
सिसक उठता समुद्र का मन
सिहर उठते उडगन !

(६)

अहे निष्ठुर परिवर्तन !
तुम्हारा ही ताण्डव नर्तन
विश्व का करुण विवर्तन !
तुम्हारा ही नयनोन्मीलन,
निखिल उत्थान, पतन !
अहे वासुकि सहस्र फन !
लक्ष अलक्षित चरण तुम्हारे चिह्न निरंतर
छोड़ रहे हैं जग के विक्षत वक्षस्थल पर !
शत शत फेनोच्छ्वसित स्फीत फूत्कार भयंकर
घुमा रहे हैं घनाकार जगती का अम्बर !
मृत्यु तुम्हारा गरल दंत, कंचुक कल्पान्तर,
अखिल विश्व ही विवर,
वक्र कुण्डल
दिङ्मण्डल !

(७)

अहे दुर्जेय विश्वजित !
नवाते शत सुरवर, नरनाथ
तुम्हारे इन्द्रासन तल माथ,
घूमते शत शत भाग्य अनाथ,
सतत रथ के चक्रों के साथ,
तुम नृशंस नृप से जगती पर चढ़ अनियंत्रित
करते हो संसृति को उत्पीड़ित, पद मर्दित,
नग्न नगर कर भग्न भवन, प्रतिमाएँ खण्डित,
हर लेते हो विभव, कला कौशल चिर संचित !
आधि, व्याधि, बहु वृष्टि, वात उत्पात अमंगल
वह्नि, बाढ़, भूकम्प,—तुम्हारे विपुल सैन्य दल,
अहे निरंकुश ! पदाघात से जिनके विह्वल
हिल हिल उठता है टल - मल
पद - दलित धरा तल !

(८)

जगत का अविरत हृत्कम्पन
तुम्हारा ही भय सूचन
निखिल पलकों का मौन पतन
तुम्हारा ही आमन्त्रण !
विपुल वासना विकच विश्व का मानस शतदल
छान रहे तुम कुटिल काल कृमि से घुस पल-पल,
तुम्हीं स्वेद सिंचित संसृति के स्वर्ण शस्य दल
दलमल देते, वर्षोपल बन, वांछित कृषिफल !
अये सतत ध्वनि स्पंदित जगती का दिङ्मण्डल

नैश गगन-सा सकल
तुम्हारा ही समाधिस्थल!

(९)

काल का अकरुण भृकुटि विलास
तुम्हारा ही परिहास,
विश्व का अश्रु-पूर्ण इतिहास
तुम्हारा ही इतिहास!
एक कठोर कटाक्ष तुम्हारा अखिल प्रलयकर
समर छेड़ देता निसर्ग संसृति में निर्भर,
भूमि चूम जाते अभ्र ध्वज सौध, शृंगवर,
नष्ट-भ्रष्ट साम्राज्य—भूति के मेघाडम्बर!
अये, एक रोमांच तुम्हारा दिग्भू कम्पन,
गिर गिर पड़ते भीत पक्षि पोतों-से उडुगन,
आलोड़ित अम्बुधि फेनोन्नत कर शत शत फन,
मुग्ध भुजंगम-सा, इंगित पर करता नर्तन!
दिक् पिंजर में बद्ध, गजाधिप-सा विनतानन
वाताहत हो गगन
आर्त करता गुरु गर्जन!

(१०)

जगत की शत कातर चीत्कार
बेधती बधिर, तुम्हारे कान!
अश्रु स्रोतों की अगणित धार
सींचती उर पाषाण!
अरे क्षण-क्षण सौ-सौ निःश्वास
छा रहे जगती का आकाश!
चतुर्दिक घहर-घहर आक्रांति!
ग्रस्त करती सुख शांति!

(११)

हाय री दुर्बल भ्रान्ति?
कहाँ नश्वर जगती में शान्ति?
सृष्टि ही का तात्पर्य अशान्ति!
जगत अविरत जीवन संग्राम
स्वप्न है यहाँ विराम!
एक सौ वर्ष, नगर उपवन
एक सौ वर्ष, विजन वन!
—यही तो है असार संसार
सृजन, सिंचन, संहार!
आज गर्वोन्नत हर्म्य अपार,
रत्न दीपावलि, मंत्रोच्चार

उलूका के कल भग्न विहार,
झिल्लियों की झनकार!
दिवस निशि का यह विश्व विशाल
मेघ मारुत का माया जाल!

(१२)

अरे, देखो इस पार—
दिवस की आभा में साकार
दिगम्बर, सहम रहा संसार!
हाय, जग के करतार!
प्रात ही तो कहलायी मात,
पयोधर बने उरोज उदार,
मधुर उर इच्छा को अज्ञात
प्रथम ही मिला मृदुल आकार,
छिन गया हाय, गोद का बाल,
गड़ी है बिना बाल की नाल!
अभी तो मुकुट बँधा था माथ,
हुए कल ही हलदी के हाथ,
खुले भी न थे लाज के बोल,
खिले भी चुम्बन शून्य कपोल,
हाय! रुक गया यहीं संसार
बना सिन्दूर अँगार!
वात हत लतिका वह सुकुमार
पड़ी है छिन्नाधार!!

(१३)

काँपता उधर दैन्य निरुपाय,
रज्जु सा, छिद्रों का कृश काय!
न उर में गृह का तनिक दुलार,
उदर ही में दानों का भार!
भूकता सिडी शिशिर का श्वान
चीरता हरे! अचीर शरीर,
न अधरों में स्वर, तन में प्राण,
न नयनों ही में नीर!

(१४)

सकल रोओं से हाथ पसार
लूटता इधर लोभ गृह द्वार,
उधर वामन डग स्वेच्छाचार
नापता जगती का विस्तार!
टिड्डियों-सा छा अत्याचार
चाट जाता संसार!

(१५)

वज्र लोहे के दंत कठोर
नचाती हिंसा जिह्वा लोल,
भृकुटि के कुण्डल वक्र मरोर
फुहुँकता अंध रोष फन खोल!
लालची गीधों से दिन रात
नोचते रोग शोक नित गात,
अस्थि पंजर का दैत्य दुकाल,
निगल जाता निज बाल!

(१६)

बहा नर शोणित मूसलधार,
रुण्ड मुण्डों की कर बौछार,
प्रलय घन सा घिर भीमाकार
गरजता है दिगंत संहार!
छेड़ खर शस्त्रों की झंकार
महाभारत गाता संसार!
कोटि मनुजों के, निहत अकाल,
नयन मणियों से जटित कराल
अरे, दिग्गज सिंहासन जाल
अखिल मृत देशों के कंकाल,
मोतियों के तारक लड़ हार
आँसुओं के शृंगार!

(१७)

रुधिर के हैं जगती के प्रात,
चितानल के ये सायंकाल,
शून्य निःश्वासों के आकाश,
आँसुओं के ये सिंधु विशाल,
यहाँ सुख सरसों, शोक सुमेरु,
अरे, जग है जग का कंकाल!!
वृथा रे, ये अरण्य चीत्कार
शांति सुख है उस पार!

(१८)

आह भीषण उद्गार!—
नित्य का यह अनित्य नर्तन
विवर्तन जग जग व्यावर्तन
अचिर में चिर का अन्वेषण
विश्व का तत्वपूर्ण दर्शन!

अतल से एक अकूल उमग,
सृष्टि की उठती तरल तरग,
उमड शत शत बुदबुद ससार
बूड जाते निस्सार!
बना सैकत के तट अतिवान!
गिरा देती अज्ञात!

(१६)

एक छवि के असख्य उडुगण,
एक ही सबमे स्पन्दन,
एक छबि के विभात मे लीन,
एक विधि के आधीन!
एक ही लोल लहर के छोर
उभय सुख दुख, निशि भोर,
इन्ही स पूर्ण त्रिगुण ससार,
सजन ही है, सहार!
मूदती नयन मृत्यु की रात
खोलती नव जीवन की प्रात,
शिशिर की सब प्रलयकर बात
बीज बोती अज्ञात!
म्लान कुसुमो की मृदु मुस्कान
फलो मे फलती फिर अम्लान,
महत् है, अरे आत्म बलिदान,
जगत केवल आदान प्रदान!

(२०)

एक ही तो असीम उल्लास
विश्व मे पाता विविधाभास,
तरल जलनिधि मे हरित विलास,
शान्त अम्बर मे नील विकास,
वही उर उर मे प्रेमोच्छवास,
काव्य मे रस, कुसुमो मे वास,
अचल तारक पलको मे हास,
लोल लहरो म लास!
विविध द्रव्यो मे विविध प्रकार
एक ही मम मधुर झकार!

(२१)

वही प्रज्ञा का सत्य स्वरूप
हृदय मे बनता प्रणय अपार,
लोचनो म लावण्य अनूप,
लोक सेवा मे शिव अविकार,

स्वरो मे ध्वनित मधुर, सुकुमार
सत्य ही प्रेमोदगार,
दिव्य सौदर्य, स्नेह साकार,
भावनामय ससार !

(२२)

स्वीय कर्मों ही के अनुसार
एक गुण फलता विविध प्रकार,
कही राखी बनता सुकुमार,
कही बेडी का भार !

(२३)

कामनाओ के विविध प्रहार
छेड जगती के उर के तार,
जगाते जीवन की झकार
स्फूर्ति करते सचार,
चूम सुख - दुख के पुलिन अपार
छलकती ज्ञानामृत की धार !

पिघल होठो का हिलता, हास
दगो को देता जीवन दान,
वेदना ही मे तपकर प्राण
दमक, दिखलाते स्वर्ण हुलास !
तरसते हैं हम आठो याम,
इसी से सुख अति सरस, प्रकाम,
झेलते निशि दिन का सग्राम,
इसी से जय अभिराम,
अलभ है इष्ट, अत अनमोल,
साधना ही जीवन का मोल !

(२४)

बिना दुख के सब सुख निस्सार,
बिना आँसू के जीवन भार,
दीन दुर्बल है रे ससार,
इसी से दया, क्षमा औ' प्यार !

(२५)

आज का दुख, कल का आह्लाद,
और कल का सुख, आज विषाद,
समस्या स्वप्न गूढ ससार,
पूर्ति जिसकी उस पार
जगत जीवन का अर्थ विकास,
मृत्यु गति क्रम का ह्रास !

(२६)

हमारे काम न अपने काम,
नहीं हम, जो हम ज्ञात,
अरे, निज छाया मे उपनाम
छिपे हैं हम अपरूप,
गँवाने आये हैं अज्ञात
गँवाकर पात स्वीय स्वरूप !

(२७)

जगत की सुंदरता का चाद
सजा लाछन को भी अवदात,
सुहाता बदल, बदल, दिन रात
नवलता ही जग का आह्लाद !

(२८)

स्वर्ण शैशव स्वप्नो का जाल,
मजरित यौवन, सरस रसाल,
प्रौढता, छाया वट सुविशाल,
स्थविरता नीरव सायकाल,
वही विस्मय का शिशु नादान
रूप पर मँडरा, बन गुजार,
प्रणय से बिंध, बँध, चुन चुन सार,
मधुर जीवन का मधु कर पान,
साध अपना मधुमय ससार
डुबा देता निज तन, मन, प्राण !
एक बचपन ही मे अनजान
जागते, सोते, हम दिन रात,
वृद्ध बालक फिर एक प्रभात
देखता नव्य स्वप्न अज्ञात,
मूद प्राचीन मरण,
खोल नूतन जीवन !

(२९)

विश्वमय हे परिवर्तन !
अतल से उमड अकूल, अपार
मेघ - से विपुलाकार,
दिशावधि मे पल विविध प्रकार
अतल मे मिलते तुम अविकार !
अहे अनिवचनीय ! रूप धर भव्य, भयकर,
इन्द्रजाल सा तुम अनन्त मे रचते सुदर,
गरज गरज, हँस हँस, चढ गिर, छा ढा भू अम्बर,

करत जगती का अजस्र जीवन स उर्वर,
अखिल विश्व की आशाओं का इन्द्रचाप वर
अह तुम्हारी भीम भकुटि पर
अटका निर्भर।

(३०)

एक ओ' बहु के बीच अजान
घूमते तुम नित चक्र समान,
जगत के उर मे छोड महान
गहन चिह्नो म ज्ञान।
परिवर्तित कर अगणित नूतन दृश्य निरन्तर,
अभिनय करते विश्व मच पर तुम मायाकर।
जहाँ हास के अधर, अश्रु के नयन करुणतर
पाठ सीखते सकेतो म प्रकट, अगोचर,
शिक्षास्थल यह विश्व मच, तुम नायक नटवर,
प्रकृति नर्तकी सुघर
अखिल म व्याप्त सूत्रधर।

(३१)

हमारे निज सुख, दुख, नि श्वास
तुम्हें केवल परिहास,
तुम्हारी ही विधि पर विश्वास
हमारा चिर आश्वास।
ऐ अनन्त हृत्कम्प। तुम्हारा अविरत स्पन्दन
सृष्टि शिराओ मे सचारित करता जीवन,
खोल जगत के शत-शत नक्षत्रो म लोचन,
भेदन करते अन्धकार तुम जग का क्षण क्षण,
सत्य तुम्हारी राज यष्टि, सम्मुख नत त्रिभुवन,
भूप, अकिंचन
अटल शास्ति नित करते पालन।

(३२)

तुम्हारा ही अशेष व्यापार,
हमारा भ्रम, मिथ्याहकार,
तुम्ही मे निराकार साकार,
मृत्यु जीवन सब एकाकार।
अहे महाम्बुधि। लहरो से शत लोक, चराचर
क्रीडा करते सतत तुम्हारे स्फीत वक्ष पर,
तुग तरगो से शत युग, शत शत कल्पान्तर
उगल, महोदर मे विलीन करते तुम सत्वर,
शत सहस्र रवि शशि, असख्य ग्रह, उपग्रह, उडुगण,

जलते बुझते हैं स्फुलिंग - ग तुममे तत्क्षण,
अचिर विश्व मे अखिल, दिशावधि, कर्म, वचन, मन,
तुम्ही चिरन्तन
अहे विवर्तन हीन विवर्तन !

(अप्रैल, १९२४)

छाया काल

स्वस्ति, जीवन के छाया काल !
सुप्त स्वप्नो के सजग सकाल !
मूक मानस के मुखर मराल !
स्वस्ति, मेरे कवि बाल !

तुम्हारा मानस था सोच्छवास,
अलस पलको मे स्वप्न विलास,
आसुओ की आँखो मे प्यास,
गिरा मे था मधुमास !
बदलता बादल - सा नित वेश
तुम्हारा जग था छाया शेष
निशा, अपलक नक्षत्रोन्मेष,
दिवस छवि का परिवेश !

दिव्य हा भोला बालापन,
नव्य जीवन, पर, परिवर्तन,
स्वस्ति, मेरे अनग नूतन !
पुरातन मदन दहन !

(दिसम्बर, १९२५)

गुंजन

[प्रथम प्रकाशन वर्ष १९३२]

विज्ञापन

गुजन पाठको के सामने है। इसमे सभी तरह की कविताम्रो का समावेश है, कुछ नवीन प्रयत्न भी। सुविधा के लिए प्रत्येक पद्य के नीचे रचना काल दे दिया है। यदि गुजन मेरे पाठको का मनोरञ्जन कर सका तो मुझे प्रसन्नता होगी, न कर सका तो आश्चय न होगा, यह मेरे प्राणो की उन्मन गुजन मात्र है।

'मेहदी मे दूसरे वण पर स्वरपात मधुर लगता है तब यह शब्द चार ही मात्राम्रो का रह जाता है, जसा कि साधारणत उच्चरित भी होता है। प्रिय प्रियाऽह्लाद से प्रिय प्रि आह्लाद' अच्छा लगता है। इस प्रकार की स्वतन्त्रता मैंने कही कही ली है। 'अनिवचनीय के स्थान पर अनिवच' 'हरसिगार' के स्थान पर 'सिगार' आदि।

पल्लव' की कविताम्रा मे मुझे 'सा' के बाहुल्य न लुभाया था। यथा—

अथ निद्रित सा, विस्मत सा,
न जागत मा, न विमूछित-सा इत्यादि।

'गुजन' मे रे की पुनरुक्ति का मोह मैं नही छोड सका। यथा—

'तप रे मधुर मधुर मन —इत्यादि।

'सा से जो मेरी वाणी का सम्वादी स्वर एकदम 'रे हो गया, यह उन्नति का क्रम सगीत प्रेमी पाठको को खटकेगा नही, ऐसा मुझे विश्वास है।

इति

नक्षत्र
कालाकाँकर राज
(अवध)
१८ माच १६३२

सुमित्रानदन पत

गुंजन

वन - वन उपवन—
छाया उन्मन-उन्मन गुंजन,
नव वय के अलियों का गुंजन!
रुपहले सुनहले आम्र मौर,
नीले, पीले औ' ताम्र भौंर,
रे गंध-अंध हो ठौर ठौर
उड पाँति-पाँति मे चिर उन्मन
करते मधु के वन मे गुंजन!

वन के विटपो की डाल डाल
कोमल कलियो से लाल लाल,
फैली नव मधु की रूप ज्वाल,
जल-जल प्राणो के अलि उन्मन
करते स्पंदन, भरते गुंजन!

अब फैला फूलो मे विकास,
मुकुलो के उर मे मदिर वास,
अस्थिर सौरभ से मलय श्वास,
जीवन मधु संचय को उन्मन
करते प्राणो के अलि गुंजन!

(जनवरी, १६३२)

१

तप रे मधुर मधुर मन!
विश्व वेदना मे तप प्रतिपल,
जग जीवन की ज्वाला मे गल,
बन अकलुष, उज्ज्वल औ कोमल,
तप रे विधुर विधुर मन!

अपने सजल स्वर्ण से पावन
रच जीवन की मूर्ति पूर्णतम,
स्थापित कर जग मे अपनापन,
ढल रे ढल आतुर मन!

तरी मधुर मुक्ति ही बंधन
गंध हीन तू गंध युक्त बन
निज अरूप में भर स्वरूप मन!
मूर्तिमान बन, निर्धन!
गल रे गल निष्ठुर मन!

(जनवरी, १९३२)

२

शांत सरोवर का उर
किस इच्छा से लहराकर
हो उठता चंचल, चंचल?
सोये वीणा के सुर
क्यों मधुर स्पर्श से मरमर
बज उठते प्रतिपल, प्रतिपल!
आशा के लघु अंकुर
किस सुख से पर फड़काकर
फैलाते नव दल पर दल!
मानव का मन निष्ठुर
सहसा आँसू में झर झर
क्यों जाता पिघल पिघल गल!
मैं चिर उत्कण्ठातुर
जगती के अखिल चराचर
यों मौन मुग्ध किसके बल!

(फरवरी, १९३२)

३

आते कैसे सूने पल
जीवन में ये सूने पल?
जब लगता सब विशृंखल,
तृण, तरु, पृथ्वी, नभमण्डल!
खो देती उर की वीणा
झंकार मधुर जीवन की,
बस साँसों के तारों में
सोती स्मृति सूनेपन की!

बह जाता बहने का सुख
लहरों का कलरव नर्तन
बढ़ने की अति इच्छा में
जाता जीवन से जीवन!

आत्मा है सरिता के भी
जिससे सरिता है सरिता,
जल जल है, लहर लहर रे,
गति गति, सृति सृति, चिर भरिता!

क्या यह जीवन? सागर में
जल भार मुखर भर देना!
कुसुमित पुलिनों की क्रीड़ा
क्रीड़ा से तनिक न लेना?

सागर संगम में है सुख,
जीवन की गति में भी लय,
मेरे क्षण क्षण के लघु कण
जीवन लय से हों मधुमय!

(जनवरी, १९३२)

४

मैं नहीं चाहता चिर सुख,
मैं नहीं चाहता चिर दुख,
सुख-दुख की खेल मिचौनी
खोले जीवन अपना मुख!

सुख दुख के मधुर मिलन से
यह जीवन हो परिपूरन,
फिर घन में ओझल हो शशि
फिर शशि से ओझल हो घन!

जग पीड़ित है अति दुख से
जग पीड़ित रे अति सुख से,
मानव जग में बँट जावें
दुख सुख में औ' सुख दुख से!

अविरत दुख है उत्पीडन,
अविरत सुख भी उत्पीडन,
दुख-सुख की निशा दिवा में
सोता जगता जग जीवन!

यह सांझ उषा का आँगन,
आलिंगन विरह मिलन का,
चिर हास अश्रुमय आनन
रे इस मानव जीवन का!

(फरवरी, १९३२)

५

देखूं सबके उर की डाली—
किसने रे क्या-क्या चुने फूल

जग के छवि-उपवन से अकूल !
इसमें कलि, किसलय, कुसुम शूल !
किस छवि, किस मधु के मधुर भाव ?
किस रँग, रस, रुचि से किसे चाव !
कवि से रे किसका क्या दुराव !
किसने ली पिक की विरह तान ?
किसने मधुकर का मिलन गान ?
या फुल्ल कुसुम, या मुकुल म्लान ?
देखूँ सबके उर की डाली—
सब में कुछ सुख के तरुण फूल
सब में कुछ दुख के करुण शूल—
सुख-दुख न कोई सका भूल ?
(फरवरी, १९३२)

६

सागर की लहर लहर में
है हास स्वर्ण किरणों का,
सागर के अंतस्तल में
अवसाद अवाक कणों का !
यह जीवन का है सागर,
जग जीवन का है सागर,
प्रिय प्रिय विषाद रे इसका
प्रिय प्रि' आह्लाद रे इसका !
जग जीवन में हैं सुख दुख,
सुख दुख में है जग जीवन,
हैं बँधे बिछोह - मिलन दो
देकर चिर स्नेहालिंगन !
जीवन की लहर लहर से
हँस खेल खेल रे नाविक !
जीवन के अंतस्तल में
नित बूड़ बूड़ रे भाविक !
(जनवरी, १९३२)

७

आँसू की आँखों से मिल
भर ही आते हैं लोचन,
हँसमुख ही से जीवन का
पर हो सकता अभिवादन !
अपने मधु में लिपटा पर
कर सकता मधुप न गुंजन,

करुणा से भारी अंतर
खो देता जीवन - कम्पन !

विश्वास चाहता है मन,
विश्वास पूर्ण जीवन पर,
सुख दुख के पुलिन डुबा कर
लहराता जीवन - सागर !

दुख इस मानव आत्मा का
रे नित का मधुमय - भोजन
दुख के तम को खा खा कर
भरती प्रकाश से वह मन !

अस्थिर है जग का सुख दुख,
जीवन ही सत्य चिरंतन !
सुख दुख से ऊपर, मन का
जीवन ही रे अवलम्बन।

(जनवरी, १९३२)

८

कुसुमों के जीवन का पल
हँसता ही जग में देखा
इन म्लान, मलिन अधरों पर
स्थिर रही न स्मिति की रेखा !

वन की सूनी डाली पर
सीखा कलि ने मुसकाना,
मैं सीख न पाया अब तक
सुख से दुख को अपनाना !

काँटों से कुटिल भरी हो
यह जटिल जगत की डाली,
इसमें ही तो जीवन के
पल्लव की फूटी लाली !

अपनी डाली के काँटे
बेधते नहीं अपना तन
सोने सा उज्ज्वल बनने
तपता नित प्राणों का धन !

दुख दावा से नव अंकुर
पाता जग जीवन का वन,
करुणार्द्र विश्व की गर्जन
बरसाती नव जीवन-कण !

(फरवरी १९३२)

९

जान किस छल पीडा से
व्याकुल व्याकुल प्रतिपल मन,
ज्यो बरस-बरस पडने को
हो उमड उमड उठते घन !

अधरो पर मधुर अधर धर,
कहता मदु स्वर मे जीवन—
बस एक मधुर इच्छा पर
अर्पित त्रिभुवन यौवन धन !

पुलको से लद जाता तन,
मुद जाते मद से लोचन
तत्क्षण सचेत करता मन—
ना, मुझे इष्ट है साधन !

इच्छा है जग का जीवन,
पर साधन आत्मा का धन,
जीवन की इच्छा है छल
आत्मा का जीवन जीवन !

फिरती नीरव नयनो मे
छाया - छविया मन-मोहन,
फिर फिर विलीन होने को
ज्यो घिर घिर उठते हो घन !

ये आधी, अति इच्छाएँ
साधन भी बाधा बन्धन,
साधन भी इच्छा ही है,
सम इच्छा ही रे साधन !

रह रह मिथ्या - पीडा से
दुखता दुखता मेरा मन,
मिथ्या ही बतला देती
मिथ्या का रे मिथ्यापन !

(फरवरी, १९३२)

१०

क्या मेरी आत्मा का चिर धन ?
मैं रहता नित उन्मन, उन्मन !

प्रिय मुझे विश्व यह सचराचर,
तृण, तरु पशु पक्षी नर सुरवर,
सुन्दर अनादि शुभ सृष्टि अमर
निज सुख से ही चिर चचल मन,
मैं हूँ प्रतिपल उन्मन, उन्मन !

मैं प्रेमी उच्चादर्शों का,
संस्कृति के स्वर्गिक स्पर्शों का,
जीवन के हर्ष विमर्षों का,
लगता अपूर्ण मानव जीवन,
मैं इच्छा से उन्मन उन्मन!
जग-जीवन में उल्लास मुझे,
नव आशा, नव अभिलाष मुझे,
ईश्वर पर चिर विश्वास मुझे,
चाहिए विश्व को नव जीवन,
मैं आकुल रे उन्मन, उन्मन!
(फरवरी, १९३२)

११

खिलती मधु की नव कलियाँ
खिल रे, खिल रे मेरे मन!
नव सुषमा की पंखड़ियाँ
फैला, फैला परिमल घन!

नव छवि, नव रँग, नव मधु से
मुकुलित, पुलकित हो जीवन!
सालस सुख की सौरभ में
साँसों का मलय-समीरण!

रे गूँज उठा मधुवन में
नव गुंजन, अभिनव गुंजन,
जीवन के मधु संचय को
उठता प्राणों में स्पंदन!

खुल-खुल नव नव इच्छाएँ
फैलाती जीवन के दल,
गा गा प्राणों का मधुकर
पीता मधुरस परिपूरण!
(फरवरी, १९३२)

१२

सुंदर विश्वासों ही से
बनता रे सुखमय-जीवन,
ज्यों सहज सहज साँसों से
चलता उर का मृदु स्पंदन!

हँसने ही में तो है सुख
यदि हँसने को होवे मन,
भाते हैं दुख में आते
मोती से आँसू के कण!

महिमा के विशद जलधि मे
हैं छोटे - छोटे - से कण,
अणु से विकसित जग - जीवन
लघु अणु का गुरुतम साधन !

जीवन के नियम सरल हैं,
पर है चिर गूढ सरलपन,
है सहज मुक्ति का मधु क्षण,
पर कठिन मुक्ति का बंधन !
(फरवरी, १६३२)

१३

सुंदर मृदु मृदु रज का तन,
चिर सुंदर सुख-दुख का मन,
सुंदर शैशव यौवन रे
सुंदर सुंदर जग जीवन !

सुंदर वाणी का विभ्रम,
सुंदर कर्मों का उपक्रम,
चिर सुंदर जन्म-मरण रे
सुंदर-सुंदर जग जीवन !

सुंदर प्रशस्त दिशि - अंचल,
सुंदर चिर लघु, चिर नव पल
सुंदर पुराण - नूतन रे
सुंदर सुंदर जग जीवन !

सुंदर से नित सुंदरतर,
सुंदरतर से सुंदरतम,
सुंदर जीवन का क्रम रे
सुंदर-सुंदर जग जीवन !
(फरवरी, १६३२)

१४

गाता खग प्रात उठकर—
सुंदर, सुखमय जग जीवन !
गाता खग संध्या-तट पर—
मंगल, मधुमय जग जीवन !

कहती अपलक तारावलि
अपनी आँखो का अनुभव,—
अवलोक आँख आँसू की
भर आतीं आँखें नीरव !

हँसमुख प्रसून सिखलाते
पल भर है, जो हँस पाओ,
अपने उर की सौरभ से
जग का आंगन भर जाओ।

उठ उठ लहरें कहती यह
हम कूल विलोक न पावें,
पर इस उमंग में बह बह
नित आगे बढ़ती जावें।

कँप कँप हिलोर रह जाती—
रे मिलता नहीं किनारा।
बुदबुद विलीन हो चुपके
पा जाता आशय सारा।

(जनवरी, १९३२)

१५

विहग, विहग,
फिर चहक उठे ये पुंज-पुंज,
कल कूजित कर उर का निकुंज,
चिर सुभग, सुभग।

किस स्वर्ण किरण की करुण कोर
कर गयी इन्हें सुख से विभोर?
किन नव स्वप्नों की सजग भोर?
हँस उठे हृदय के ओर छोर
जग जग खग करते मधुर रोर
मैं रे प्रकाश में गया बोर।

चिर मुंदे मर्म के गुहा द्वार
किस स्वर्ग रश्मि ने आर-पार
छू दिया हृदय का अंधकार।
यह रे किस छवि का मंदिर तीर?
मधु मुखर प्राण का पिक अधीर
डालेगा क्या उर चीर चीर।

अस्थिर है सांसों का समीर,
गुंजित भावों की मधुर भीर,
झर झरता सुख से अश्रु-नीर।

बहती रोओं में मलय वात,
स्पंदित उर, पुलकित पात गात,
जीवन में रे यह स्वर्ण प्रात।

नव रूप, गंध, रंग, मधु मरंद,
नव आशा अभिलाषा अमंद,
नव गीत गुंज, नव भाव छंद,—

(य)

विहग, विहग
जग उठे जग उठे पुंज पुंज,
कूजित गुंजित कर उर-निकुंज,
चिर सुभग, सुभग !

(जनवरी, १९३२)

१६

चाँदनी

जग के दुख दैन्य शयन पर
यह रुग्णा जीवन - बाला
रे कब से जाग रही, वह
आँसू की नीरव माला !

पीली पड़, निर्बल, कोमल,
कृश देह लता कुम्हलाई,
विवसना, लाज में लिपटी,
साँसों में शून्य समाई !

रे म्लान अंग, रँग, यौवन !
चिर मूक, सजल, नत चितवन !
जग के दुख से जर्जर उर,
बस मृत्यु शेष है जीवन !

वह स्वर्ण भोर को ठहरी
जग के ज्योतित आँगन पर,
तापसी विश्व की बाला
पाने नव जीवन का वर !

(फरवरी, १९३२)

१७

मानव

तुम मेरे मन के मानव,
मेरे गानों के गाने,
मेरे मानस के स्पन्दन,
प्राणों के चिर पहचाने !

मेरे विमुग्ध - नयनों की
तुम कान्त - कनी हो उज्ज्वल,
सुख की स्मिति की मृदु रेखा,
करुणा के आँसू कोमल !

सीखा तुम से फूलों ने
मुख देख मन्द मुसकाना,

तारा ने सजल नयन हो
करुणा किरणें बरसाना!

सीखा हँसमुख लहरों ने
आपस में मिल खो जाना,
अलि ने जीवन का मधु पी,
मृदु राग प्रणय के गाना!

पृथ्वी की प्रिय तारावलि!
जग के वसन्त के वैभव!
तुम सहज सत्य, सुन्दर हो,
चिर आदि और चिर अभिनव!

मेरे मन के मधुवन में
सुषमा के शिशु! मुसकाओ,
नव नव साँसों का सौरभ,
नव मुख का सुख बरसाओ!

मैं नव-नव उर का मधु पी,
नित नव ध्वनियों में गाऊँ,
प्राणों के पंख डुबाकर,
जीवन मधु में घुल जाऊँ!

(जनवरी, १९३२)

१८

झर गयी कली, झर गयी कली!

चल सरित पुलिन पर वह विकसी,
उर के सौरभ से सहज बसी,
सरला प्रात ही तो विहँसी,
रे कूद सलिल में गयी चली!

आयी लहरी चुम्बन करने,
अधरों पर मधुर अधर धरने,
फेनिल मोती से मुँह भरने,
वह चंचल सुख से गयी छली!

आती ही जाती नित लहरी,
कब पास कौन किसके ठहरी?
कितनी ही तो कलियाँ फहरीं
सब खेलीं, हिलीं, रहीं सँभली!

निज वृन्त पर उसे खिलना था,
नव-नव लहरों में मिलना था,
निज सुख दुख सहज बदलना था,
रे गेह छोड़ वह बह निकली!

है लेन - देन ही जग जीवन,
पर अपना सबका अपनापन,
खो निज आत्मा का अक्षय धन,
लहरों में भ्रमित, गयी निगली !

(फरवरी, १९३२)

१९

भावी पत्नी के प्रति

प्रिये, प्राणों की प्राण !

न जाने किस गृह में अनजान
छिपी हो तुम, स्वर्गीय विधान !
नवल कलिकाओं की - सी वाण,
बाल रति सी अनुपम, असमान—
न जाने, कौन कहाँ, अनजान,
प्रिये, प्राणों की प्राण !

जननि अञ्चल में झूल सकाल
मृदुल उर कम्पन - सी वपुमान,
स्नेह सुख में बढ़ सखि ! चिरकाल
दीप की अकलुष शिखा समान,
कौन - सा आलय, नगर विशाल
कर रही तुम दीपित, द्युतिमान ?
शलभ चचल मेरे मन प्राण
प्रिये, प्राणों की प्राण !

नवल मधुऋतु निकुंज में प्रात
प्रथम कलिका सी अस्फुट गात,
नील नभ अन्तःपुर में, तन्वि !
दूज की कला सदृश नवजात,
मधुरता, मृदुता - सी तुम, प्राण !
न जिसका स्वाद स्पर्श कुछ ज्ञात,
कल्पना हो, जाने परिमाण ?
प्रिये, प्राणों की प्राण !

हृदय की पलकों में गति हीन
स्वप्न ससृति - सी सुखमाकार,
बाल भावुकता बीच नवीन
परी - सी धरती रूप अपार,
झूलती उर में आज किशोरि !
तुम्हारी मधुर मूर्ति छविमान,
लाज में लिपटी उषा समान,
प्रिये, प्राणों की प्राण !

मुकुल मधुपो का मृदु मधुमास,
स्वण, सुख, श्री, सौरभ का सार
मनोभावा का मधुर विलास,
विश्व सुखमा ही का ससार,
दृगो मे छा जाता सोल्लास
व्योम-बाला का शरदाकाश,
तुम्हारा आता जब प्रिय ध्यान,
प्रिय, प्राणो की प्राण!

अरुण अधरो की पल्लव - प्रात,
मोतियो - सा हिलता - हिम - हास,
इन्द्रधनुषी पट से ढक गात
बाल विद्युत का पावस लास
हृदय मे खिल उठता तत्काल
अधखिले - अगा का मधुमास,
तुम्हारी छवि का कर अनुमान
प्रिये, प्राणो की प्राण!

खेल सस्मित सखियो के साथ
सरल शशव - सी तुम साकार,
लोल कोमल लहरो मे लीन
लहर ही सी कोमल, लघु भार,
सहज करती होगी, सुकुमारि!
मनोभावो मे बाल विहा
हसिनी - सी सर मे कल-गान
प्रिये, प्राणा की प्रान!

खोल सौरभ का मृदु कच-जाल
सूघता होगा अनिल समोद,
सीखते होग उड़ खग-बाल
तुम्ही स कलरव केलि विनोद,
चूम लघु पद चंचलता, प्राण!
फूटते होगे नव जल-स्रोत,
मुकुल बनती होगी मुसकान
प्रिय, प्राणो की प्राण!

मूर्तिमत [illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]

अरे वह प्रथम मिलन अज्ञात !
विकम्पित मृदु उर, पुलकित गात,
सशंकित ज्योत्स्ना सी चुपचाप,
जडित पद, नमित-पलक दृग पात,
पास जब आ न सकोगी, प्राण !
मधुरता म - सी मरी अजान
लाज की छुईमुई - सी म्लान
प्रिये, प्राणो की प्राण !

सुमुखि, वह मधु क्षण ! वह मधु-वार !
धरोगी कर म कर सुकुमार !
निखिल जब नर नारी ससार
मिलेगा नव सुख से नव बार,
अधर उर मे उर अधर समान
पुलक से पुलक, प्राण से प्राण,
कहगे नीरव प्रणयाख्यान !
प्रिये, प्राणो की प्राण !

अरे चिर गूढ प्रणय आख्यान !
जब कि रुक जायेगा अनजान
साँस - सा नभ उर मे पवमान,
समय निश्चल, दिशि पलक समान,
अवनि पर झुक आयेगा, प्राण !
व्योम चिर विस्मृति से म्रियमाण !
नील सरसिज सा हो हो म्लान,
प्रिये, प्राणो की प्राण !

(एप्रिल, १९२७)

२०

कब स विलोकती तुमको
ऊषा आ वातायन से ?
स ध्या उदास फिर जाती
सूने गृह के आँगन स !

लहरें अधीर सरसी मे
तुमको तकती उठ-उठ कर,
सौरभ-समीर रह जाता
प्रेयसि, ठण्डी साँसें भर !

हैं मुकुल मुदे डाला पर,
कोकिल नीरव मधुवन म
कितने प्राणा के गाने
ठहरे हैं तुमको मन मे !

तुम आओगी, आशा में
अपलक हैं निशि के उडुगण!
आओगी, अभिलाषा से
चंचल, चिर नव, जीवन-क्षण!

(फरवरी, १९३२)

२१

मुसकुरा दी थी क्या तुम, प्राण!
मुसकुरा दी थी आज विहान?
आज गृह-वन उपवन के पास
लोटता राशि राशि हिम हास,
खिल उठी आँगन में अवदात
कुंद-कलियों की कोमल प्रात!
मुसकुरा दी थी, बोलो प्राण!
मुसकुरा दी थी तुम अनजान?
आज छाया चहुँदिशि चुपचाप
मृदुल मुकुलों का मौनालाप,
रुपहली कलियों से कुछ लाल,
लद गयी पुलकित पीपल डाल
और वह पिक की मर्म-पुकार
प्रिये! झर झर पड़ती साभार,
लाज से गड़ी न जाओ, प्राण!
मुसकुरा दी क्या आज विहान!

(अक्तूबर, १९२७)

२२

नील कमल-सी हैं वे आँख!
डूबे जिनके मधु में पाँख—
मधु में मन मधुकर के पाँख,
नील जलज सी हैं वे आँख!
मुग्ध स्वर्ण किरणों ने प्रात
प्रथम खिलाये वे जलजात,
नील व्योम ने ढल अज्ञात
उन्हें नीलिमा दी नवजात,
जीवन की सरसी उस रात
लहरा उठी चूम मधु वात,
आकुल लहरों ने तत्काल
उनमें चंचलता दी ढाल,
नील नलिन-सी हैं वे आँख!

जिनमें बस उर का मधुबाल
कृष्ण बनी बन गया विशाल,
नील सरोरुह-सी ये आँख!
(जनवरी, १९२७)

२३

तुम्हारी आँखों का आकाश!
सरल आँखों का नीलाकाश--
खो गया मेरा खग अनजान,
मृगेक्षिणि! इनमें खग अज्ञात!
देख इनका चिर करुण प्रकाश,
अरुण कोरों में उषा विलास,
खोजने निकला निभृत निवास,
पलक पल्लव प्रच्छाय निवास,
न जाने ले क्या-क्या अभिलाष
खो गया बाल विहग नादान!
तुम्हारे नयनों का आकाश
सजल, श्यामल, अकूल आकाश!
गूढ़, नीरव, गम्भीर प्रसार,
न गहने को तृण का आधार,
बसायेगा कैसे संसार,
प्राण! इनमें अपना संसार!
न इनका ओर छोर रे पार,
खो गया वह नव पथिक, अजान!
(अक्तूबर, १९२७)

२४

नवल मेरे जीवन की डाल
बन गयी प्रेम विहग का वास!
आज मधुवन की उन्मद वात
हिला रे गयी पात सा गात,
मन्द द्रुम मर्मर-सा अज्ञात
उमड़ उठता उर में उच्छ्वास!
नवल मेरे जीवन की डाल
बन गयी प्रेम विहग का वास!
मदिर कोरों से कोरक जाल
बेधते मम बार रे बार,
मूक चिर प्राणों का पिक बाल —
आज कर उठता करुण पुकार,

अरे अब जल-जल नवल प्रवाल
लगाते रोम रोम मे ज्वाल,
आज बौरे रे तरुण रसाल
भौर मन मँडरा गयी सुवास !

(माघ, १६२८)

२५

आज रहने दो यह गृह काज,
प्राण ! रहने दो यह गृह-काज !
आज जाने कैसी वातास
छोडती सौरभ श्लथ उच्छवास,
प्रिये, लालस सालस वातास,
जगा रोम्रो मे सौ अभिलाप !
आज उर के स्तर स्तर मे, प्राण !
सजग सौ सौ स्मृतियाँ सुकुमार,
दृगो मे मधुर स्वप्न ससार,
मम मे मदिर स्पृहा का भार।
शिथिल, स्वप्निल पखडिया खोल
आज अपलक कलिकाएँ बाल,
गूजता भूला भौरा डोल,
सुमुखि, उर के सुख से वाचाल !
आज चचल चचल मन प्राण
आज रे शिथिल शिथिल तन भार,
आज दो प्राणा का दिन मान
आज ससार नही ससार !
आज क्या प्रिये, सुहाती लाज !
आज रहने दो सब गृह-काज !

(फरवरी, १६३२)

२६

मधुवन

आज नव मधु की प्रात
झलकती नभ पलको मे प्राण !
मुग्ध यौवन के स्वप्न समान,—
झलकती, मेरी जीवन-स्वप्न ! प्रभात
तुम्हारी मुख छवि सी रुचिमान !
आज लोहित मधु प्रात
व्योम लतिका मे छायाकार
खिल रही नव पल्लव सी लाल,

तुम्हारे मधुर कपोलो पर सुकुमार
लाज का ज्यो मृदु किसलय जाल !
आज उन्मद मधु प्रात
गगन के इन्दीवर से नील
झर रही स्वर्ण मरन्द समान,
तुम्हारे शयन शिथिल सरसिज उन्मील
छलकता ज्यो मदिरालस, प्राण !
आज स्वर्णिम मधु प्रात
व्योम के विजन कुज मे, प्राण !
खुल रही नवल गुलाब समान,
लाज के विनत वृन्त पर ज्यो अभिराम
तुम्हारा मुख अरविन्द सकाम !
प्रिये, मुकुलित मधु प्रात
मुक्त नभ - वेणी मे सोभार
सुहाती रक्त पलाश समान,
आज मधुवन मुकुलो मे झुक साभार
तुम्हे करता निज विभव प्रदान !

(२)

डोलने लगी मधुर मधुवात
हिला तृण, व्रतति, कुज तरु पात,
डोलने लगी प्रिये ! मृदु वात
गुज मधु गन्ध धूलि हिम - गात !
खोलने लगी, शयित चिरकाल,
नवल कलि अलस पलक-दल जाल,
बोलने लगी डाल से डाल,
प्रमुद, पुलकाकुल कोकिल-बाल !
युवाओ का प्रिय पुष्प गुलाब,
प्रणय स्मृति चिह्न, प्रथम मधुबाल,
खोलता लोचन दल मदिराभ,
प्रिये, चल अलिदल से वाचाल !
आज मुकुलित कुसुमित चहु ओर
तुम्हारी छवि की छटा अपार,
फिर रहे उन्मद मधु प्रिय भौंर
नयन पलको के पख पसार !
तुम्हारी मजुल मूर्ति निहार
लग गयी मधु के वन मे ज्वाल,
खडे किंशुक, अनार, कचनार
लालसा की लौ मे उठ लाल !
कपोलो की मदिरा पी, प्राण !
आज पाटल गुलाब के जाल !

विनत शुक नासा का धर ध्यान
बन गये पुष्प पलाश अराल !
खिल उठी चल दशनावलि आज
कुन्द कलियों में कोमल आभ,
एक चंचल चितवन के व्याज
तिलक को चारु छत्र सुख लाभ !
तुम्हारे चल पद चूम निहाल
मंजरित अरुण अशोक सकाल,
स्पर्श से रोम रोम तत्काल
सतत सिंचित प्रियंगु की बाल !
स्वर्ण-कलियों की रुचि सुकुमार
चुरा चम्पक तुमसे मृदु वास,
तुम्हारी शुचि स्मिति से साभार,
भ्रमर को आने दे क्यों पास ?
देख चंचल मृदु पटु पद - चार
लुटाता स्वर्ण-राशि कनियार,
हृदय फूलों में लिये उदार
नम - ममर्श मुग्ध मन्दार !
तुम्हारी पी मुख - वास तरंग
आज बौरे भौंरे, सहकार,
चुनाती नित लवंग निज अंग
तन्वि ! तुम सी बनने सुकुमार !
लालिमा - भर फूलों में, प्राण !
सीखती लाजवंती मृदु लाज,
माधवी करती झुक सम्मान
देख तुम में मधु के सब साज !
नवेली बेला उर की हार,
मोतिया मोती की मुस्कान,
मोगरा कर्णफूल सा स्फार,
अँगुलियाँ मदनबान की बान !
तुम्हारी तनु-तनिमा लघु भार
बनी मृदु व्रतति प्रतति का जाल,
मृदुलता सिरिस मुकुल सुकुमार
विपुल पुलकावलि चीना डाल !
प्रिये कलि कुसुम कुसुम में आज
मधुरिमा मधु सुषमा सुविकास,
तुम्हारी रोम रोम छवि-व्याज
आ गया मधुवन में मधुमास !

(३)

वितरती गृह वन मलय-समीर
साँस, सुधि, स्वप्न, सुरभि सुख, गान,

मार केशर - शर मलय - समीर
हृदय हुलसित कर, पुलकित प्राण!

बेलि - सी फैल - फैल नवजात
चपल, लघु - पद, लहलह, सुकुमार,
लिपट लगती मलयानिल गात
झूम, झुक - झुक सौरभ के भार!

आज, तृण, छद, खग, मृग, पिक, कीर,
कुसुम, कलि, प्रतति, विटप, सोच्छवास
अखिल आकुल, उत्कलित, अधीर,
अवनि, जल, अनिल, अनल, आकाश!

आज वन मे पिक, पिक मे गान,
विटप मे कलि, कलि मे सुविकास,
कुसुम मे रज, रज मे मधु, प्राण!
सलिल मे लहर, लहर मे लास!

देह मे पुलक, उरो मे भार,
भ्रुवा मे भग, दृगो मे बाण,
अधर अमृत, हृदय मे प्यार,
गिरा मे लाज, प्रणय मे मान!

तरुण विटपो से लिपट सुजात,
सिहरती लतिका मुकुलित गात,
सिहरती रह - रह सुख से, प्राण,
लोम - लतिका बन कोमल - गात!

गध - गुजित कुञ्जो में आज
बँधे बाहो मे छायाऽलोक,
मर्मरित छत्र, पत्र दल व्याज
लिये द्रुम, तुमको खडी विलोक!

मिल रहे नवल बेलि तरु, प्राण!
शुकी शुक, हस - हसीनि सग,
लहर सर, सुरभि समीर विहान,
मगी मग कलि अलि, किरण - पतग!

मिलें अधरो से अधर समान,
नयन से नयन, गात से गात,
पुलक से पुलक, प्राण से प्राण,
भुजो से भुज, कटि से कटि शात!

आज तन तन मन मन हो लीन,
प्राण! सुख सुख स्मृति स्मृति चिरसात,
एक क्षण अखिल दिशावधि हीन!
एक रस, नाम - रूप - अनात!

(अगस्त १९३०)

रूप-तारा तुम पूर्ण प्रकाम,
मृगेक्षिणि ! सार्थक-नाम !
एक लावण्य-लोक छविमान,
नव्य नक्षत्र समान,
उदित हो दृग पथ मे अम्लान
तारिकाओ की तान !
प्रणय का रच तुमने परिवेश
दीप्त कर दिया - मनोनभ-देश,
स्निग्ध सौंदर्य शिखा अनिमेष !
अमन्द, अनिन्द्य, अशेष !
उषा सी स्वर्णोदय पर भोर
दिखा मुख कनक-किशोर,
प्रेम की प्रथम मदिरतम-कोर
दृगो मे दुरा कठोर,
छा दिया यौवन-शिखर अछोर
रूप किरणो मे बोर,
सजा तुमने सुख-स्वप्न-सुहाग,
लाज लोहित-अनुराग !
नयन-तारा बन मनोभिराम
सुमुखि, अब सार्थक करो स्वनाम !
तारिका सी तुम दिव्याकार,
चंद्रिका की झकार !
प्रेम-पखो मे उड अनिवार
अप्सरी-सी लघु भार,
स्वर्ग से उतरी क्या सोद्गार
प्रणय-हसिनि सुकुमार ?
हृदय सर मे करने अभिसार,
रजत-रति स्वर्ण विहार !
आत्म-निर्मलता मे तल्लीन
चारु चित्रा सी, आभासीन !
अधिक छुपने मे खुल अनजान
तन्वि ! तुमने लोचन मन छीन,
कर दिये पलक प्राण गति हीन,
लाज के जल की मीन !
रूप की-सी तुम ज्वलित विमान,
स्नेह की सृष्टि नवीन !
हृदय-नभ-तारा बन छविधाम
प्रिये ! अब सार्थक करो स्वनाम !
प्रथम यौवन मेरा मधुमास
मुग्ध उर मधुकर, तुम मधु प्राण !

शयन लोचन, सुधि स्वप्न-विलास,
मधुर-तन्द्रा प्रिय - ध्यान!
शून्य जीवन निशा आकाश,
इन्दु - मुख इन्दु समान,
हृदय सरसी, छवि पद्म - विकास,
स्पृहाएँ ऊर्मिल - गान!
कल्पना तुममे एकाकार,
कल्पना मे तुम आठो याम,
तुम्हारी छवि मे प्रेम अपार,
प्रेम मे छवि अभिराम,
अखिल इच्छाओ का ससार
स्वर्ण छवि मे निज गढ छविमान,
बन गयी मानसि! तुम साकार
देह दो एक - प्राण!

(नवम्बर, १६२५)

२८

कलरव किसको नही सुहाता?
कौन नही इसको अपनाता?
यह शैशव का सरल हास है,
सहसा उर मे है आ जाता!
कलरव किसको नही सुहाता?
कौन नही इसको अपनाता?
यह ऊषा का नव विकास है,
जो रज को है रजत बनाता!
कलरव किसको नही सुहाता?
कौन नही इसको अपनाता?
यह लघु लहरो का विलास है,
कलानाथ जिसमे खिच आता!

(१६२२)

२६

अलि! इन भोली बातो को
अब कैसे भला छिपाऊँ!
इस आख मिचौनी से मैं
कहू? कब तक जी बहलाऊँ?
मेरे कोमल भावो को
तारे क्या आज गिनेंगे?

कहू ? इन्हें ओस बूदा - सा
फूलो म फैला आऊँ ?

अपने ही सुख मे खिल खिल
उठते य लघु लहरा - से
अलि ! नाच-नाच इनके संग
इनम ही मिल मिल जाऊँ ?

निज इद्रधनुष पखो मे
जो उडत ये तितली से,
मैं भी फूलो के वन म
क्या इनके संग उड जाऊँ ?

क्यो उछल चटुल मीना स
मुख दिखला ये छिप जात !
कहू, डूब हृदय - सरसी मे
इनके मोती चुन लाऊँ ?

शशि की सी कुटिल कलाएँ
देखो, ये निशि दिन बढत,
अलि ! उमड उमड सागर सी
अम्बर के तट छू आऊँ !

चुपके दुविधा के तम मे
ये जुगुन - से जल उठते,
कहू इनके नव दीपो स
तारो का व्योम बनाऊँ !

—ना, पीले तारो - सी ही
मेरी कितनी ही बातें
कुम्हला चुपचाप गयी हैं,
म कसे इन्हें भुलाऊ !

(१९३२)

३०

आँखो की खिडकी से उड-उड
आते ये आते मधुर विहग,
उर उर से सुखमय भावो के
आते खग मेरे पास सुभग !

मिलता जब कुसुमित जन समूह
—नयनो का नव मुकुलित मधुवन—
पलको की मृदु पखुडियो पर
मँडराते मिलते ये खग गण !

निज कोमल पखो से छूकर
ये पुलकित कर देते तन - मन,

अस्फुट स्वर मे मन की बातें
कहते रे मन से ये क्षण - क्षण !

उर उर म मृदु मृदु भावो के
विहगा क रहत नीड सुभग,
इस उर स उस उर मे उडते
ये मन के सुदर स्वण - विहग !

(फरवरी, १६३२)

३१

जीवन की चचल सरिता म
फेंकी मैंने मन की जाली,
फँस गयी मनोहर भावा की
मछलियाँ सुघर, भोली भाली !

मोहित हो, कुसुमित पुलिनो से
मैंने ललचा चितवन डाली,
बहु रूप रग रेखाओं की
अभिलाषाएँ देखी - भाली !

मैंने कुछ सुखमय इच्छाएँ,
चुन ली सुदर, शोभाशाली,
औ' उनको सोने - चादी स
भर ली प्रिय प्राणो की डाली !

सुनता हूँ, इस निस्तल जल मे
रहती मछली मोतीवाली,
पर मुझे डूबने का भय है
भाती तट की चल जल माली।

आयेगी मेरे पुलिना पर
वह मोती की मछली सुदर,
मैं लहरो के तट पर बैठा
देखूगा उसकी छवि जी भर !

(फरवरी १६३२)

३२

मेरा प्रतिपल सुदर हो,
प्रतिदिन सुदर सुखकर हो,
यह पल - पल का लघु जीवन
सुदर सुखकर शुचितर हो !

हा बूदें अस्थिर, लघुतर,
सागर म बूदें सागर,

यह एक बूंद जीवन का
मोती-सा सरस, सुघर हो!
मधुऋतु के कुसुम मनोहर,
कुसुमों की ही मधु प्रियतर,
यह एक मुकुल मानस का
प्रमुदित, मोदित मधुमय हो!
मेरा प्रतिपल चिन्मय हो,
निःसंशय मंगलमय हो,
यह नव-नव पल का जीवन
प्रतिपल तन्मय, तन्मय हो!

(जनवरी, १९३१)

३२

आज शिशु के कवि को अनजान
मिल गया अपना गान!

खोल कलियों ने उर के द्वार
दे दिया उसको छवि का देश,
बजा भौंरों ने मधु के तार
कह दिये भेद भरे संदेश,
आज सोये खग को अज्ञात
स्वप्न में चौंका गयी प्रभात,
गूढ़ संकेतों में हिल पात
कह रहे अस्फुट बात,
आज कवि के चिर चंचल प्राण
पा गये अपना गान!

दूर, उन खेतों के उस पार,
जहाँ तक गयी नील झंकार,
छिपा छाया-वन में सुकुमार
स्वर्ग की परियों का संसार!
वहीं, उन पेड़ों में अज्ञात
चांद का है चाँदी का वास,
वहीं से खद्योतों के साथ
स्वप्न आते उड़-उड़ कर पास,
इन्हीं में छिपा कहीं अनजान
मिला कवि को निज गान!
आज शिशु के कवि को अम्लान
मिल गया अपना गान!

(जनवरी, १९३२)

३४

लायी हूँ फूलों का हास,
लोगी मोल, लोगी मोल ?
तरल तुहिन-वन का उल्लास
लोगी मोल, लोगी मोल ?

फैल गयी मधुऋतु की ज्वाल,
जल-जल उठती वन की डाल।
कोकिल के कुछ कोमल बोल
लोगी मोल, लोगी मोल ?

उमड़ पड़ा पावस परिप्रोत—
फूट रहे नव-नव जल स्रोत।
जीवन की ये लहरें लोल
लोगी मोल लोगी मोल ?

विरल जलद पट खोल अजान
छायी शरद रजत मुसकान,
यह छवि की ज्योत्स्ना अनमोल ?
लोगी मोल, लोगी मोल ?

अधिक अरुण है आज सकाल—
चहक रहे जग जग खग-बाल,
चाहो तो सुन लो जी खोल
कुछ भी आज न लूँगी मोल।

(एप्रिल, १९२७)

३५

जीवन का उल्लास,—
यह सिहर, सिहर
यह लहर, लहर,
यह फूल फूल करता विलास।
रे फैल-फैल फेनिल हिलोल
उठती हिलोल पर लोल-लोल,
शत युग के शत बुदबुद विलीन,
बनते पल पल शत-शत नवीन,
जीवन का जलनिधि डोल डोल
कल-कल छल छल करता किलोल।
डूबे दिगि पल के ओर छोर
महिमा अपार, सुषमा अछोर!
जग-जीवन का उल्लास—

यह सिहर, सिहर,
यह लहर, लहर,
यह फल-फूल भरता विलास!

(फरवरी, १६३२)

३६

प्राण! तुम लघु लघु गात!
नील नभ के निकुंज में लीन
नित्य नीरव, निःसंग, नवीन
निखिल छवि की छवि! तुम छवि-हीन
अप्सरी-सी अज्ञात!

अधर मर्मर युत, पुलकित अंग,
चूमती चल-पद चपल तरंग,
चटकती कलियाँ पा भ्रू-भंग,
थिरकते तृण, तरु पात!

हरित-द्युति चंचल अंचल-छोर
सजल-छवि, नील-कच, तन गोर
चूर्ण-कच, साँस सुगंध-झकोर,
परों में साँय-प्रात!

विश्व हृत शतदल निभृत-निवास,
अहर्निश साँस-साँस में लास,
अखिल जग-जीवन हास-विलास
अदृश्य अस्पृश्य, अजात!

(१६३०)

३७

जग के उर्वर आँगन में
बरसो ज्योतिर्मय जीवन!
बरसो लघु लघु तृण तरु पर
हे चिर अव्यय, चिर नूतन!

बरसो कुसुमों में मधु बन,
प्राणों में अमर प्रणय धन,
स्मिति स्वप्न अधर पलकों में,
उर अंगों में सुख-यौवन!

छू छू जग के मृत रज कण
कर दो तृण तरु में चेतन,
मृणमरण बाँध दो जग का
दे प्राणों का आलिंगन!

वरसो सुख वन, सुषमा वन,
वरसो जग - जीवन के घन !
दिशि दिशि मे औ' पल-पल म
वरसो ससृति के सावन !

(जून, १६३०)

३८

नीरव तार हृदय म
गूज रहे हैं मजुल लय मे,
रहस स्पश स अरुणोदय मे !
नीरव तार हृदय मे—
चरण - कमल पर अपण कर मन,
रज रजित कर तन,
मधुरस - मज्जित कर मम जीवन
चरणाऽमृत - आशय मे !
नीरव तार हृदय म—
नित्य - कम पथ पर तत्पर धर,
निमल कर अतर,
पर -सवा का मदु - पराग भर
मेरे मधु सचय मे !

(१६१६)

३६

विहग के प्रति

विजन वन के ओ विहग कुमार,
आज घर - घर रे तेरे गान,
मधुर मुखरित हो उठा अपार
जीण जग का विपण्ण उद्यान !

सहज चुन चुन लघु तृण, खर, पात
नीड रच रच निशि-दिन सायास,
छा दिये तूने, शिल्पि सुजात,
जगत की डाल - डाल म वास !

मुक्त पखो मे उड दिन रात,
सहज स्पन्दित कर जग के प्राण,
शून्य नभ मे भर दी अज्ञात
मधुर जीवन की मादक तान !

सुप्त जग म गा स्वप्निल गान
स्वण स भर दी प्रथम प्रभात

मंजु गुंजित हो उठा अजान
फुल्ल जग-जीवन का जलजान !

श्रान्त, सोती जब सन्ध्या-वात,
विश्व-पादप निश्चल, निष्प्राण,—
जगाता तू पुलकित कर पात
जगत जीवन का शतमुख गान !

छोड़ निर्जन का निभृत निवास,
नीड़ में बंध जग के सानन्द
भर दिये कलरव से दिशि आस
गृहों में कुसुमित, मुदित, अमन्द !

रिक्त होते जब-जब तरु-वास
रूप धर तू नव-नव तत्काल,
नित्य नादित रखता सोल्लास
विश्व के अक्षय वट की डाल !

मुग्ध रोओं में मेरे, प्राण !
बना पुलकों के सुख का नीड़,
फूकता तू प्राणों में गान
हृदय मेरा तेरा आनीड़ !

दूर वन के ओ राजकुमार !
अखिल उर उर में तेरे गान,
मधुर इन गीतों से सुकुमार,
अमर मेरे जीवन मन, प्राण !
(अगस्त, १९३०)

४०

एक तारा

नीरव सन्ध्या में प्रशान्त
डूबा है सारा ग्राम प्रान्त !
पत्रों के आनत अधरों पर सो गया निखिल वन का मर्मर,
ज्यों वीणा के तारों में स्वर !
खग कूजन भी हो रहा लीन, निर्जन गोपथ अब धूलि हीन,
धूसर भुजंग-सा जिह्म, क्षीण !
झींगुर के स्वर का प्रखर तीर केवल प्रशान्ति को रहा चीर
सन्ध्या प्रशान्ति को कर गभीर !
इस महा शान्ति का उर उदार, चिर आकांक्षा की तीक्ष्ण धार
ज्यों बेध रही हो आर-पार !
अब हुआ सान्ध्य स्वर्णाभ लीन,
सब वर्ण-वस्तु से विश्व हीन !
गंगा के चल जल में निर्मल, कुम्हला किरणों का रक्तोत्पल
है मूँद चुका अपने मृदु दल !

लहरो पर स्वण रेख सु दर पड गयी नील, ज्यो अधरो पर
अरुणाई प्रखर शिशिर स डर ।
तरु शिखरो स वह स्वण विहग उड गया, खोल निज पख सुभग
किस गुहा - नीड म रे किस मग ।
मृदु - मृदु स्वप्ना स भर अचल, नव नील - नील, कोमल - कोमल
छाया तरु वन मे तम श्यामल ।
पश्चिम नभ मे हूँ रहा देख
उज्ज्वल, अमन्द नक्षत्र एक ।
अकलुप, अनिन्द्य नक्षत्र एक ज्यो मूर्तिमान ज्योतित विवेक,
उर मे हो दीपित अमर टेक ।
किस स्वर्णाकाक्षा का प्रदीप वह लिये हुए ? किसके समीप ?
मुक्तालोकित ज्यो रजत सीप ।
क्या उसकी आत्मा का चिर धन ? स्थिर अपलक नयना का चितन
क्या खोज रहा वह अपनापन ।
दुलभ रे दुलभ अपनापन, लगता यह निखिल विश्व निजन,
वह निष्फल इच्छा स निधन ।
आकाक्षा का उच्छ्वसित वेग
मानता नहीं बन्धन - विवेक ।
चिर आकाक्षा स ही थर - थर, उद्वलित रे अहरह सागर,
नाचती लहर पर हहर लहर ।
अविरत इच्छा ही मे नतन करते अबाध रवि, शशि, उडगन,
दुस्तर आकाक्षा का बन्धन ।
रे उडु, क्या जलते प्राण विकल ? क्या नीरव नीरव नयन सजल ।
जीवन निसग रे व्यथ विफल ।
एकाकीपन का अन्धकार, दुस्सह है इसका मूक भार
इसके विषाद का रे न पार ।

× × ×

चिर अविचल पर तारक अमन्द ।
जानता नही वह छन्द बन्ध ।
वह रे अनन्त का मुक्त मीन, अपने असग सुख म विलीन
स्थित निज स्वरूप मे चिर नवीन ।
निष्कम्प शिखा - सा वह निरुपम, भेदता जगत जीवन का तम,
वह शुद्ध प्रबुद्ध, शुभ्र वह सम ।
गुजित अलि सा निजन अपार, मधुमय लगता घन अन्धकार
हलका एकाकी व्यथा भार ।
जगमग जगमग नभ का आगन लद गया कुन्द कलियो से घन,
वह आत्म और यह जग दशन ।

(फरवरी, १९३)

४१

चाँदनी

नीले नभ के शतदल पर
वह बैठी शारद-हासिनि,
मृदु-करतल पर शशि-मुख धर,
नीरव, अनिमिष, एकाकिनि!

वह स्वप्न-जड़ित नत चितवन
छू लेती अग-जग का मन,
श्यामल, कोमल, चल चितवन
जो लहराती जग जीवन!

वह फूली बेला की बन
जिसमें न नाल, दल, कुड्मल,
केवल विकास चिर निर्मल
जिसमें डूबे दस दिशि-दल!

गूढ़, निर्थ, असम्भव, अस्फुट
भेदो की शृगार !
मोहिनि, कुहकिनि, छल विभ्रममयि,
चित्र - विचित्र अपार !
शैशव की तुम परिचित सहचरि,
जग से चिर अनजान
नव शिशु के संग छिप छिप रहती
तुम, मा का अनुमान,
डाल अँगूठा शिशु के मुँह मे
देती मधु स्तन दान,
छिपी थपक से उसे सुलाती,
गा - गा नीरव - गान !
तन्द्रा के छाया-पथ से आ
शिशु-उर में सविलास,
अधरों के अस्फुट मुकुलो मे
रँगती स्वप्निल हास,
दन्त-कथाओ से अबोध शिशु
सुन विचित्र इतिहास
नव नयनो मे नित्य तुम्हारा
रचत रूपाभास !
प्रथम रूप मदिरा से उन्मद
यौवन मे उद्दाम
प्रेयसि के प्रत्यग अग में
लिपटी तुम अभिराम,
युवती के उर मे रहस्य बन,
हरती मन प्रतियाम,
मदुल पुलक मुकुलो स लद कर
देह - लता छवि - धाम !
इन्द्रलोक मे पुलक - नृत्य तुम
करती लघु - पद - भार,
तडित - चकित चितवन से चचल
कर सुर - सभा अपार।
नग्न देह मे सतरँग सुरधनु
छाया - पट सुकुमार,
खोस नील - नभ की वेणी मे
इन्दु कुन्द द्युति स्फार !
स्वगगा मे जल विहार जब
करती, बाहु - मृणाल !
पकड पैरत इन्दु बिम्ब के
शत - शत रजत मराल,
उड - उड नभ मे शुभ्र फेन कण
बन जाते उडु - बाल,

सजल देह - द्युति चल लहरो मे
बिम्बित सरसिज - माल !
रवि - छबि चुम्बित चल जलदा पर
तुम नभ मे, उस पार,
लगा अक से तडित् भीत शशि—
मग - शिशु को सुकुमार,
छोड गगन मे चचल उडुगण
चरण - चिह्न लघु - भार,
नाग - दत - नत इन्द्रधनुष - पुल
करती तुम नित पार !
कभी स्वर्ग की थी तुम अप्सरि,
अब वसुधा की बाल,
जग के शैशव के विस्मय से
अपलक पलक - प्रवाल !
बाल युवतियो की सरसी मे
चुगा मनोज्ञ मराल,
सिखलाती मृदु रोम हास तुम
चितवन कला अराल !

तुम्हे खोजते छाया - वन मे
अब भी कवि विरयात
जब जग जग निशि - प्रहरी जुगनू
सो जाते चिर प्रात,
सिहर लहर, मर्मर कर तरुवर,
तपक तडित अज्ञात,
अब भी चुपके इगित देते
गूज मधुप कवि - भ्रात !
गौर - श्याम तन, बैठ प्रभा - तम,
भगिनी भ्रात सजात
बुनते मृदुल मसृण छायाचल
तुम्हें तन्वि ! दिन रात
स्वर्ण - सूत्र मे रजत - हिलोरें
कचु काढती प्रात,
सुरँग रेशमी पख तितलियाँ
डुला, सिराती गात !

तुहिन - बिन्दु मे इन्दु रश्मि-सी
सोयी तुम चुपचाप
मुकुल - शयन मे स्वप्न देखती
निज निरुपम छबि आप,
पटुल लहरियो से पल - चुम्बित
मलय - मृदुल पद - चाप
जलजो मे निद्रित मधुपो से
करती मौनालाप !

नील रेशमी तम का कोमल
मोल - खोल कच - भार,
तार - तरल लहरा लहराचल
स्वप्न विकच स्तन हार,
शशि - कर - सी लघुपद, सरसी मे
करती तुम अभिसार,
दुग्ध - फेन शारद ज्योत्स्ना म
ज्योत्स्ना-सी सुकुमार !
मेहदी युत मृदु करतल छवि से
कुसुमित सुभग सिगार,
गौर देह द्युति हिम शिखरो पर
बरस रही साभार,
पद - लालिमा उषा, पुलकित - पर
शशि स्मित घन सोभार,
उडु - कम्पन मृदु मृदु उर-स्पदन,
चपल वीचि पद चार !
शत भावो के विकच दलो से
मण्डित, एक प्रभात
खिली प्रथम सौदय पद्म - सी
तुम जग मे नवजात,
भृगो से अगणित रवि शशि ग्रह
गूज उठे अज्ञात,
जगज्जलधि हिल्लोल विलोडित
गध अध दिशि वात !
जगती के अनमिष पलको पर
स्वर्णिम स्वप्न समान,
उदित हुई थी तुम अनन्त
यौवन मे चिर अम्लान,
चचल अचल म फहरा कर
भावी स्वण विहान,
स्मित आनन मे नव प्रकाश से
दीपित नव दिनमान !
सखि, मानस के स्वग-वास मे
चिर सुख मे आसीन,
अपनी ही सुषमा से अनुपम,
इच्छा मे स्वाधीन,
प्रति युग मे आती हो रगिणि !
रच रच रूप नवीन,
तुम सुर-नर मुनि ईप्सित अप्सरि !
त्रिभुवन भर मे लीन !
अग अग अभिनव शोभा का
नव वसन्त सुकुमार,

सिकता की सस्मित सीपी पर मोती की ज्योत्स्ना रही विचर,
लो, पालें चढ़ी, उठा लंगर !
मृदु मन्द मन्द, मन्थर मन्थर, लघुतरणि, हंसिनी-सी सुन्दर,
तिर रही, खोल पालो के पर !
निश्चल जल के शुचि दर्पण पर बिम्बित हो रजत पुलिन निर्भर
दुहरे ऊँचे लगते क्षण भर !
कालाकाँकर का राजभवन सोया जल मे निश्चिन्त, प्रमन
पलको पर वैभव स्वप्न सघन !

नौका से उठती जल हिलोर,
हिल पडते नभ के ओर-छोर !
विस्फारित नयनो से निश्चल कुछ खोज रहे चल तारक दल
ज्योतित कर नभ का अन्तस्तल ,
जिनके लघु दीपो को चचल, अंचल की ओट किये अविरल
फिरती लहरें लुक छिप पल पल !
सामने शुक्र की छवि झलमल, पैरती परी सी जल मे कल,
रुपहरे कचो मे हो ओझल !
लहरो के घूघट से झुक झुक, दशमी का शशि निज तियक मुख
दिखलाता, मुग्धा-सा रुक रुक !

अब पहुची चपला बीच धार,
छिप गया चाँदनी का कगार !
दो बाँहो से दूरस्थ तीर धारा का कृश कोमल शरीर
आलिंगन करने को अधीर !
अति दूर क्षितिज पर विटप माल लगती भ्रू रेखा-सी अराल,
अपलक नभ नील नयन विशाल,
मा के उर पर शिशु-सा समीप, सोया धारा म एक द्वीप,
ऊर्मिल प्रवाह को कर प्रतीप,
वह कौन विहग? क्या विकल कोक, उडता हरने निज विरह शोक?
छाया की कोकी को विलोक !

पतवार घुमा, अब प्रतनु भार
नौका घूमी विपरीत धार !
डाँडो के चल करतल पसार, भर भर मुक्ताफल फेन-स्फार,
बिखराती जल मे तार-हार !
चाँदी के साँपो सी रलमल नाचती रश्मियाँ जल में चल
रेखाओं-सी खिंच तरल-सरल !
लहरों की लतिकाओं मे खिल, सौ-सौ शशि, सौ सौ उडु झिलमिल
फले फूले जल मे फेनिल !

मकुटि-मग नव नव इच्छा के
म गो का गुजार,
शत - शत मधु माकाक्षाओ से
स्पन्दित पथु उर भार,
नव माशा के मदु मुकुलो से
चुम्बित लघु पदचार।
निखिल विश्व ने निज गौरव
महिमा, सुपमा कर दान,
निज मपलक उर के स्वप्नो से
प्रतिमा कर निर्माण,
पल पल का विस्मय, दिशि दिशि की
प्रतिभा कर परिधान,
तुम्हें कल्पना औ' रहस्य मे
छिपा दिया मनजान!
जग के सुख - दुख, पाप - ताप,
तृष्णा - ज्वाला स हीन,
जरा - ज म - भय - मरण - शू य,
यौवनमयि, नित्य नवीन,
मतल विश्व शोभा वारिधि मे
मज्जित जीवन - मीन,
तुम मदृश्य, मस्पृश्य मप्सरी,
निज सुख म तल्लीन।

(फरवरी, १९३२)

४३

नौका विहार

शा त, स्निग्ध, ज्योत्स्ना उज्ज्वल।
मपलक मनन्त, नीरव भूतल।
सैकत शय्या पर दुग्ध धवल, त वगी गगा, ग्रीष्म विरल,
लेटी हैं श्रा न, क्ला त, निश्चल।
तापस बाला गगा निमल, शशि मुख से दीपित-मृदु करतल,
लहरे उर पर कोमल कु तल!
गोरे मगो पर सिहर सिहर, लहराता तार-तरल सुदर
चचल मचल - सा नीलाम्बर!
साडी की सिकुडन सी जिस पर, शशि की रेशमी विभा से मर
सिमटी हैं वतुल मृदुल लहर!

चाँदनी रात का प्रथम प्रहर,
हम चले नाव लेकर सत्वर!

सिकता की सस्मित सीपी पर मोती की ज्योत्स्ना रही विचर,
लो, पालें चढ़ी, उठा लगर।
मृदु मन्द मन्द, मन्थर मन्थर, लघुतरणि, हंसिनी-सी सुन्दर,
तिर रही, खोल पालो के पर।
निश्चल जल के शुचि दर्पण पर बिम्बित हो रजत पुलिन निर्भर
दुहरे ऊँचे लगते क्षण भर!
कालाकाँकर का राजभवन सोया जल मे निश्चिन्त, प्रमन
पलकों पर वैभव स्वप्न सघन।

नौका से उठती जल हिलोर,
हिल पडते नभ के ओर-छोर।
विस्फारित नयनो से निश्चल कुछ खोज रहे चल तारक दल
ज्योतित कर नभ का अन्तस्तल,
जिनके लघु दीपो को चचल, अचल की ओट किये अविरल
फिरती लहरें लुक छिप पल पल।
सामने शुक्र की छवि झलमल, पैरती परी सी जल मे कल,
रुपहरे कचो मे हो ओझल।
लहरो के घूघट से झुक झुक, दशमी का शशि निज तिर्यक मुख
दिखलाता, मुग्धा सा रुक-रुक।

अब पहुची चपला बीच धार,
छिप गया चाँदनी का कगार।
दो बाँहो से दूरस्थ तीर, धारा का कृश कोमल शरीर
आलिगन करने को अधीर।
अति दूर क्षितिज पर विटप माल लगती भ्रू रेखा-सी अराल,
अपलक नभ नील नयन विशाल,
मा के उर पर शिशु सा समीप, सोया धारा मे एक द्वीप,
ऊर्मिल प्रवाह को कर प्रतीप
वह कौन विहग? क्या विकल कोक, उडता हरने निज विरह शोक?
छाया की कोकी को विलोक!

पतवार घुमा, अब प्रतनु भार
नौका घूमी विपरीत धार।
डाँडो के चल करतल पसार, भर-भर मुक्ताफल फेन-स्फार,
बिखराती जल मे तार हार।
चाँदी के साँपो-सी रलमल नाचती रश्मियाँ जल मे चल
रेखाओ सी खिच तरल-सरल।
लहरो की लतिकाओ मे खिल, सौ-सौ शशि सौ सौ उडु झिलमिल
फले फूले जल मे फेनिल।

अब उथला सरिता का प्रवाह, लग्गी से ले ले सहज थाह
हम बढ़े घाट को सहोत्साह!

ज्यों-ज्यों लगती है नाव पार
उर में आलोकित शत विचार।
इस धारा-सा ही जग का क्रम, शाश्वत इस जीवन का उद्गम,
शाश्वत है गति, शाश्वत संगम।
शाश्वत नभ का नीला विकास शाश्वत शशि का यह रजत हास,
शाश्वत लघु लहरों का विलास।
हे जग-जीवन के कर्णधार! चिर जन्म मरण के आर-पार,
शाश्वत जीवन नौका विहार।
मैं भूल गया अस्तित्व ज्ञान, जीवन का यह शाश्वत प्रमाण
करता मुझको अमरत्व दान!

४४

[क]

तेरा कैसा गान,
विहगम! तेरा कैसा गान?
न गुरु से सीखे वेद पुराण,
न षड्दर्शन, न नीति विज्ञान,
तुझे कुछ भाषा का भी ज्ञान,
काव्य रस, छन्दों की पहचान?
न पिक-प्रतिभा का कर अभिमान,
मनन कर, मनन, शकुनि नादान।
हँसते हैं विद्वान,
गीत खग, तुझ पर सब विद्वान।
दूर, छाया-तरु-वन में वास
न जग के हास-अश्रु ही पास,
अरे, दुस्तर जग का आकाश
गूढ़ रे छाया ग्रथित प्रकाश,
छोड़ पंखों की शून्य उड़ान
वन्य खग! विजय नीड़ के गान।

[ख]

मेरा कैसा गान
न पूछो मेरा कैसा गान।
आज छाया वन वन मधुमास
मुग्ध मुकुलों में गन्धोच्छ्वास,
लुढ़कता तृण-तृण में उल्लास,
डोलता पुलकाकुल वातास,

फूटता नभ मे स्वर्ण विहान,
आज मेरे प्राणो मे गान।
मुझे न अपना ध्यान,
कभी रे रहा न जग का ज्ञान।
सिहरते मेरे स्वर के साथ
विश्व पुलकावलि से तर-पात
पार करते अनंत अज्ञात
गीत मेरे उठ साय-प्रात,
गान ही मे रे मेरे प्राण,
अखिल प्राणो मे मेरे गान।

(जुलाई, १६२७)

४५

चीटियो की सी काली पाँति
गीत मेरे चल फिर निशि-भोर,
फैलते जाते हैं बहु भाँति
बधु। छूने अग-जग के छोर!

लाल लहरो-से यति गति हीन
उमड़-बह, फैल अकूल अपार,
अतल से उठ-उठ, हो हो लीन
खो रहे बधन गीत उदार!

दूब से कर लघु-लघु पदचार—
बिछ गये छा-छा गीत अछोर,
तुम्हारे पदतल छू सुकुमार
मृदुल पुलकावलि बन चहुँ ओर।

तुम्हारे परस परस के साथ
प्रभा मे पुलकित हो अम्लान,
अध-तम मे जग के अज्ञात
जगमगाते तारो से गान!

हँस पडे कुसुमो मे छविमान
जहाँ जग मे पद-चिह्न पुनीत,
वही सुख के आसू बन, प्राण।
ओस मे लुढक, दमकते गीत।

बधु। गीतो के पख पसार
प्राण मेरे स्वर मे लयमान
हो गये तुम स एकाकार
प्राण मे तुम औ तुम मे प्राण।
(अगस्त, १६३०)

ज्योत्स्ना

[प्रथम प्रकाशन-वर्ष १९३४]

सोमा को

विज्ञापिका

काव्य के चारु चरणों से हिन्दी के दारु पथ को पार कर प्रांजल-श्री श्री सुमित्रानंदन काव्योपवन के सांजलि खिले हुए प्रकाश दृष्टि सुंदर गुलाब हैं। आज उन्हीं की प्रतिभा के रूप रंग, मधु-गन्ध और भावोच्छ्वास की प्रशंसा से प्रति मुख मुखर है। अब वे 'ज्योत्स्ना' में मनोहर नाट्यकार के शुचि रूप हिन्दी संसार के सामने आ रहे हैं। मैं गुलाब को देखता हूँ, उसके काँटों को नहीं। 'ज्योत्स्ना' में उनका पहला प्रिय, भावमय, श्वेत वाणी का कोमल कवि रूप ही दृष्टिगोचर होता है, जिसकी सुख-स्पर्श रश्मियों की तीव्र गति, हलकी थपकियाँ युग जागति का सर्वोत्तम साधन हैं।

लखनऊ
१-१-३४

'निराला'

निवेदन

ज्योत्स्ना का रूपक पाठकों के सामने प्रस्तुत है। इस मून शाइन में यदि उनका किंचिन्मात्र मनोरंजन हो सका, तो मैं अपना श्रम सफल समझूंगा।

नक्षत्र
कालाकांकर
१९३४

सुमित्रानंदन पंत

संध्या

ज्योत्स्ना — इंदु
सुरभि — पवन
कल्पना — स्वप्न
उषा — अरुण

छाया, विहग, किरण, ताराएँ,
ओस, झींगुर, जुगनू, मग,
कुसुम, लहर तितली,
आदि
सेवक सहचर

एक

ूरी रग के अस्ताचल पर, गेरू की इटो से निर्मित, स ध्या का
ान्त निवास, उत्तर, दक्षिण पूव की ओर तीन बडे बडे वत्तचूड
खे, जिनमे हलके धानी रग के परदे दूरवर्ती दिग त का आभास दे
हैं। पश्चिम की ओर प्रवाल का विशाल प्रवेश द्वार, जिसके ऊपरी
मे लाल पोतो की अधवृत्त लडिया झूल रही है। आसमानी रेशम
छत पर, इधर-उधर साझ के बादलो की टुकडियो की तरह गुलाबी,
ी जालिया लटकी है, बीच बीच मे पक्षियो के दो तीन उडते हुए
कढे है।

मूगे के फश पर, धुनी रुई की तरह, ढेर र कोमल सुनहला प्रकाश
ा है, जिस पर गेरुए मलमल की धोती पहने, प्रौढ उम्र स ध्या,
म्प दीप शिखा की तरह, दत्तचित्त बठी है। मृणाल सी लम्बी, पतली,
बाहे, वक्ष स्थल के साझ के सरोज बारीक सुनहली कचुकी से
, दमकते भाल पर दो एक चि ता की रेखाएँ, भौहे पतली, कुछ
क झुकी हुइ, स्निग्ध, शारद आनन, शा त, गम्भीर मुद्रा, कपोलो,
ो एव पष्ठ भाग पर रुपहले सुनहले बाल बिखरे।

सामन एक बडा सा नीले रेशम का चँदोवा फैला है, जिस पर वह,
चि तित भाव से, चादी के तार से सितारे काढती एव उत्सुक दष्टि
ार बार बाहर की ओर देखती जाती है।

प्रवेश द्वार के सामने दूर तक फैला आँगन, जिसमे यत्र तत्र कु द,
, जुही चमेली की अधखिली कलियाँ महक रही हैं। एक ओर खूँटे
बँधी, गेहुए रग की गाय आराम से बठे बैठे जुगाली कर रही है,
ो ओर सोने की किरणा का बडा सा खाली पीजडा पडा है। चहार
ारी के बाहर चारो ओर आम्र अशोक, वट, पीपल आदि पेडो की
क्षितिज रेखा की तरह फैली है जिसके अ तराल से अस्तमित किरणें
निझर की तरह फूट रही हैं।

नेपथ्य मे सगीत ध्वनि, सिर से पाँव तक लटकते हुए, पतले, ढीले,
ो के लबादे की तरह, एक असाधारण लम्बी दुबली स्त्री आकृति,
के झरमुट से बाहर निकल, गाती हुई, आँगन मे टहलती है। यह
आकृति छाया है, जो दोपहर की धूप न सह सकने के कारण, दिन
पेडो के नीचे सो रहने के बाद, स्निग्ध स ध्या का उपभोग करने बाहर
ती है और बहुत प्रम न जान पडती है। दिन भर के आलस्य को
 मिटाने के लिए अपने कुम्हलाये अगो को बार-बार खीचकर ही
उसने अपनी आकृति इतनी लम्बी बना ली है। वह अपनी स्वच्छ
के सुख को गाकर, ताली देकर, हँसकर, कलियो की माला गूथकर
तरह से प्रकट करती है।

गीत

प्रलय पल्लव, सघन प्रलय,
श्यामल छवि छाया !
स्वप्निल मन, तन्द्रिल तन,
शिथिल वसन भाया !

जीवन में धूप छाँह,
सुख दुख के गले बाँह,
मिटती सुख की न चाह,
अमिट मोह माया !

जग के मग में उदास
आओ यदि, पान्थ ! पास,
हरूँ सकल ताप त्रास,
शीतल हो काया !

[छाया गाती, माला गूँथती प्रवेश-द्वार से अन्दर प्रवेश करती है।]

सन्ध्या कौन छाया ?

छाया (सन्ध्या के खुले बालों में बेला-कलियों की माला पहनाती हुई, नमस्कारपूर्वक) हाँ, मैं हूँ जीजी !

सन्ध्या (छाया की ओर स्नेह दृष्टि से देखकर) आज का वेश तो तेरा बड़ा विचित्र है री !

छाया (चाटु दृष्टि से) मेरे लबादे को कहती हैं ? यह वसन्त के नये कोंपलों की परछाइँ है, जीजी ! सुबह उठी, तो देखा, मेरे अंगों में नया लबादा झूल रहा है। घर की छत के छिद्र हरी भरी मरमराहट से भर गये हैं, उनसे अब धूप नहीं टपकती। इधर-उधर छितरी हुई शिशिर की धज्जियाँ-कड़ियाँ सर्वत्र हरियाली से लिप पुत गयी हैं। पैरों के नीचे कोमल हरित फर्श अंकुरित हो उठा है। मारे खुशी के मेरे कुम्हलाये अंग जैसे खिल उठे ! उन पल्लवों की अस्फुट मर्मर में स्वर मिलाकर मैं कब तक गाती रही, कब दोपहर हुआ, कब सो गयी—कुछ भी याद नहीं ! दिन भर नये बौरों की सुगन्ध के साथ भौंरों की गूँज ने मन में पैठकर कितने ही मधुर स्वप्नों की सृष्टि कर डाली ! दिन ढल चुकने पर जब आँखें खुलीं तो किसी तरह आलस की थकान दूर कर आपसे मिलने चली आयी।

सन्ध्या मैं पहले ही समझ गयी थी री तेरे स्वर में अब तरुण पत्रों का मर्मर एवं नये वसन्त का उल्लास भर गया है।

छाया (प्रसन्न होकर) मैं कभी एक सी नहीं रह सकती, जीजी ! प्रत्येक घड़ी बदलती रहती हूँ। जब जैसी हवा चलती है, अपने को वैसा ही पाती हूँ। मैं क्या हूँ, मैं स्वयं नहीं जानती !

सन्ध्या (स्नेह के तिरस्कार से) तभी तो तुझे माया कहते हैं।

छाया (हँसती है) आपको सदैव से वैसा ही देखती आयी हूँ, जीजी ! शिशिर वसन्त, शीत ताप, बाल्य-यौवन के पार, इस

वम श्रौर श्राकांक्षामय विश्व के श्रस्ताचल पर श्रापका श्रासन पहले ही से श्रटल है। श्रापके तापसी वेश श्रौर सवामूर्ति के सामने सूय का प्रकाश भी मन्द पड जाता है। वे इस विश्व चक्र के साथ घमते रहने पर भी श्रापके श्री चरणो म विनत पद्म-श्रजलि देना नही भूलत।

सन्ध्या (सितारे काढती हुई) तू श्राजकल वाक्-पटु भी हो गयी है।

छाया (ध्यानपूवक नीले रेशम के चंदोवे को देखती हुई, उसका सिरा हाथ मे लेकर) लकिन श्राज यह क्या देख रही हूँ, जीजी! श्रापकी छत्र छाया तो श्रपनी ही नीरव शान्ति के लिए प्रसिद्ध है। उसमे यह लोलुप श्रांखो की उत्सुकता कहाँ से श्रा गयी? मेरी श्रोर कोई इस तरह श्राँखें फाडकर देखे, मैं तो सहमकर मर जाऊँ, इसीलिए रजनी जीजी के यहाँ—

सन्ध्या तुझे नही मालूम क्या, श्राज वसन्त-पूर्णिमा है? तू तो इन्दु को जानती ही है।

छाया जानती क्यो नही, रजनी जीजी के श्रनुरूप ही उनका लाडला लडका है, जिसे दुलार से चन्दो चन्दो कहकर उन्होंने श्रासमान पर चढा दिया है। विलास की सजीव प्रतिमा! उसके कलक की बात भला ससार मे किससे छिपी है?

सन्ध्या दुर, पगली! तू कला के महत्त्व को क्या समझे? इन्दु का सौन्दय-बोध श्रौर कला प्रेम स्वग म भी प्रसिद्ध है इसी स उसे कलाधर, कलानाथ की उपाधि मिली। ससार को पहले उसी ने सौन्दय के सम्मोहन का परिचय दिया। उसी ने जीवन के जड निश्चेष्ट समुद्र मे उच्चाकांक्षाश्रो की तरगें उठायी। मनुष्य का हृदय श्रनादि काल स इच्छाकांक्षाश्रो म लहराता रहा है। इन्दु ने ही प्रकृति के सौन्दय को पहचान कर उस श्रपनी कला से सजीव किया।

छाया *(विनम्र हो) जीजी, मैं क्या जानूँ जीवन क्या है, कला क्या है। मैं जो पूछ रही थी—*

सन्ध्या वही तो तुझे समझा रही हूँ। सुन श्राज वसन्त पूर्णिमा है। श्राज इन्दु श्रपने शासन की बागडोर वह ज्योत्स्ना को देनेवाला है। उसी क राज्याभिषेक के लिए मैं यह छत्र बना रही हूँ। श्राज से ससार म श्रादश साम्राज्य स्थापित होगा। ज्योत्स्ना के जीवन का ध्येय विलास नही प्रेम है। वह श्रपन साम्राज्य म स्नेह सहानुभूति, सौन्दय श्रादि उन्नत भावनाश्रो का प्रचार करेगी।

छाया (श्राश्चय से) ज्योत्स्ना का राज्य? वह जिस रात भर म जुन्हाई जम्हाई न जाने क्या कहते हैं! उसी ज्योत्स्ना का श्रादश साम्राज्य?

सन्ध्या हाँ श्रादश साम्राज्य! वह मनुष्य के हृदय म नवीन कल्पना, नवीन उच्छ्वास, उसकी पलकों म नवीन सौन्दय, नवीन स्वप्नों की सृष्टि करेगी। पशु वृत्तियों स मनुष्य को ऊपर उठाकर उसके स्वभाव को मार्जित बनायेगी। चारों श्रोर स्नेह,

जगलो मे भटकता रहा। जिधर निकला, भयभीत हिरना के झुण्ड की तरह ढेर ढेर पत्तो को मार भगाया। वन की भोली भाली प्रजा डर से कांपकर पीली पड जाती थी। बडा आनन्द रहा। मारे प्यास के गला सूख गया, तो एक बडी सी झील मे कूद पडा, लहरो के फनो पर सवार हो उन्हे नचाया। इस कालिय दमन के बाद, घण्टो फेन की गोलियाँ बना, मछलियो को छकाता रहा। जब जी ऊब गया, जाकर देर तक पके हुए गेहूँ और सरसो के खेतो मे झूलता रहा। (फिर ताली देता है) अभी घर लौट रहा था रास्ते मे दक्षिण ओर, नदी किनारे, कुछ बादलो के दल बगुलो की तरह पख फैलाये, कतार बाँधे उड रहे थे, उनका पीछा किया। ऐसे छक्के छुडाये कि सिर पर पैर रख भागते नजर आये। (अट्टहास)

सन्ध्या तेरा लडकपन न जाने कब छूटेगा। खेलन कूदन के सिवा कोई चिन्ता ही नही। जा, बहुत हुआ, अब उस पीपल के पेड पर जाकर आराम कर।

पवन पीपल पर मैं नही सो सकता, चाची। चिकन चिकने नये पत्तो के झले मे झूलने को जी करता है।

सन्ध्या पागल कही का। जा, आम म नये बौर आये हैं, उनकी गन्ध पीकर तू झूमन लगेगा, बडी जल्दी पलकें झँप जायेंगी।

पवन वहाँ भौरो का जो डर रहता है। गाना क्या आता है बस हर घडी गुनगुनाते रहते हैं। मेरी तरह सीटी बजायें तो जानू। मैं बरगद पर जाकर सोता हूँ, चाची।

[पवन गाता, सीटी बजाता, ताली देता आँगन की ओर आता है।]

गीत

सर सर मर मर भन भन सन सन—
गाता कभी गरजता भीषण,
वन वन उपवन,
पवन, प्रभजन।

मेरी चपल अँगुलिया पर चल
लोल लहरियाँ करती नतन
अधर अधर पर धर चल चुम्बन
बाँह बाह मे भर आलिगन। सर् सर—

मेरा चाबुक खा, मगेन्द्र सा
आहत घन करता गुरु गजन,
अट्टहास कर, विद्युत पर चढ
जब मैं नभ मे करता विचरण। सर सर—

[पवन वट के पास जाकर अदृश्य हो जाता है। दूर से उडता हुआ सुग्गा आकर गाय की पीठ पर बठता और पुकारता है।]

सुग्गा अम्मा, अम्मा।

सन्ध्या (प्रसन्न मन, द्वार के पास खडी होकर) आ गया तू? सब

सुख, सौंदय, सगीत का सागर उमड उठेगा। एक शब्द म, ससार मे स्वर्ग उतर आयेगा।

छाया (आनन्द और आश्चय से) ससार मे स्वग! ऐसा क्या सम्भव हो सकता है, जीजी?

सन्ध्या ससार कभी से आदश स्थिति के स्वप्न देखता आ रहा है। मनुष्य अपनी उवर बुद्धि के अनेक विचारो, हृदय की मनोरम भावनाओ कल्पनाओ से निर्मित, सब प्रकार से पूण, आदश परिस्थितियो के लोक मे रहना चाहता है। समय समय पर उसने जीवन की पूणता को अनेक स्वरूप दे डाले हैं। ज्ञान विज्ञान के बल से अनेक मानसिक, भौतिक शक्तियो पर विजय प्राप्त कर ली है। अब वह आदश स्थिति का उपभोग करना चाहता है।

छाया विधाता के विधान का रहस्य अज्ञेय है, जीजी! मैं अनादि काल से देखती आयी हूँ, ससार मे चिरकाल तक कोई भी स्थिति नही ठहर सकती, इससे सष्टि के स्वतन्त्र विकास मे बाधा पडती है।

[सहसा दक्षिण की खिडकी का परदा हिलने लगता है। पवन झरोखे से कूदकर अन्दर आता है। पवन सुदर, स्वस्थ, अनिलातप से पोषित स्मितमुख युवक, बदन में हलके आसमानी रग की जाली, जिसमे यत्र-तत्र फूलों का पराग लगा है, घुँघराली, भूरी अलकों से उलझी कलियाँ, हाथ मे आम की मजरी, गले मे पत्तो की लचीली टहनी का धनुष। पवन के प्रवेश करते ही कमरा सुगन्ध से भर जाता है, वह गहरी साँसें ले रहा है।]

पवन (स्नेह मिश्रित स्वर मे) चाची, ओ चच्ची!

सन्ध्या क्या है रे?

[पवन छाया को देखकर अट्टहास कर डराने के अभिप्राय से दोनों हाथ उसे पकडने के लिए फैलाकर, चारों ओर घूमने लगता है। छाया भयभीत हो, थर थर काँपती हुई द्वार की ओर भागती है।]

सन्ध्या ओ गवार, ओ धूत!

छाया (आँगन की ओर दौडती) जाती हूँ, जाती हूँ।

सन्ध्या (आद्र स्वर मे) जाओ, छाया। तुम दोनो तो साथ रह ही नही सकते!

छाया (रुष्ट होकर) धूत अन्धड का कुपूत! ससार भर के कूडे की टोकरी ढोनेवाला!

[पेडो की आड में ओझल हो जाती है]

पवन (सन्ध्या का अचल झकोरता हुआ) थक गया हूँ चाची! थककर चर-चूर हो गया हूँ।

सन्ध्या (स्नेह उपालम्भ से) थकेगा नही तो क्या होगा? एक जगह तेरे पाँव रहते हैं? दिन भर धूप म आवारा फिरता है।

पवन (हाथ पर हाथ मारकर) आज दिन भर शिकार के पीछे

जंगलों में भटकता रहा। जिधर निकला, भयभीत हिरनों के झुण्ड की तरह ढेर ढेर पत्तों को मार भगाया। वन की भोली भाली प्रजा डर से काँपकर पीली पड़ जाती थी। बड़ा आनन्द रहा। मारे प्यास के गला सूख गया, तो एक बड़ी सी झील में कूद पड़ा, लहरों के फनों पर सवार हो उन्हें नचाया। इस जालिम दमन के बाद, घण्टों फेन की गोलियाँ बना, मछलियों को छकाता रहा। जब जी ऊब गया, जाकर दर तक पके हुए गेहूँ और सरसों के खेतों में झूलता रहा। (फिर ताली देता है) अभी घर लौट रहा था रास्ते में दक्षिण ओर, नदी किनारे कुछ बादलों के दल बगुलों की तरह पंख फैलाये, कतार बाँधे उड़ रहे थे उनका पीछा किया। ऐसे छक्के छुड़ाये कि सिर पर पैर रख भागते नजर आये। (अट्टहास)

संध्या तेरा लड़कपन न जाने कब छूटेगा। खेलने कूदने के सिवा कोई चिन्ता ही नहीं। जा, बहुत हुआ, अब उस पीपल के पेड़ पर जाकर आराम कर।

पवन पीपल पर मैं नहीं सो सकता चाची। चिकने चिकने नये पत्तों के झूले में झूलने को जी करता है।

संध्या पागल कहीं का। जा, आम में नये बौर आये हैं, उनकी गंध पीकर तू झूमने लगेगा बड़ी जल्दी पलकें झँप जायेंगी।

पवन वहाँ भौरों का जो डर रहता है। गाना क्या आता है बस हर घड़ी गुनगुनाते रहते हैं। मेरी तरह सीटी बजायें तो जानूं। मैं बरगद पर जाकर सोता हूँ, चाची।

[पवन गाता, सीटी बजाता, ताली देता आँगन की ओर आता है।]

गीत

सर् सर मर मर झन झन सन सन—
गाता कभी गरजता भीषण,
वन वन, उपवन,
पवन, प्रभंजन।

मेरी चपल अँगुलियों पर चल
लोल लहरियाँ करतीं नर्तन,
अधर अधर पर धर चल चुम्बन,
बाँह बाँह में भर आलिंगन। सर सर—
मेरा चाबुक खा, मृगेन्द्र सा
आहत घन करता गुरु गर्जन,
अट्टहास कर, विद्युत पर चढ़
जब मैं नभ में करता विचरण। सर् सर्—

[पवन वट के पास जाकर अदृश्य हो जाता है। दूर से उड़ता हुआ सुग्गा आकर गाय की पीठ पर बैठता और पुकारता है।]

सुग्गा अम्मा, अम्मा।

संध्या (प्रसन्न मन, द्वार के पास खड़ी होकर) आ गया तू? सब

कुशल से ता हैं ?

[सुग्गा आठ साल का लड़का, हरे वस्त्र, गले में लाल रेशमी रुमाल बाँधे, दिन भर के बाद, शाम को घर लौट आने की प्रसन्नता मे, कुन्द की झाड़ियों में इधर उधर फुदकता, गरदन मटका मटकाकर कहता है—]

सुग्गा आ गया, मैं आ गया !

सन्ध्या (स्नेह उपालम्भ से) क्यो रे, तुझे घर आने की बड़ी उतावली रहती है न ? मुनिया को कहाँ छोड़ आया ?

[पूर्व दिशा से पक्षियों के चहकने का स्वर सुनायी पड़ता है ।]

सुग्गा वह सुनो, मैया हरियल सबको लिये आ रहे हैं ।

सन्ध्या अच्छा, सबको आ जाने दे, समय भी हो गया, मैं ठाकुरजी के द्वार म दीया जला आती हूँ । (भीतर प्रवेश)

सुग्गा सत्य, शिव, सुन्दरम, सत्य, शिव, सुन्दरम । (रटता है)

[सन्ध्या छत पर नीली रेशमी डोरी से टँगे, चाँदी के छोटे से डिब्बे को नीचे उतारती और उसका ढकना खोल कर रस्सी को फिर ऊपर चढ़ा देती है। चमचमाते हीरे की तरह शुक्र का प्रकाश कमरे मे फैल जाता है । सन्ध्या घुटनों के बल बैठ, आँखें मूँद, हाथ जोड़ ईश वन्दना करती है ।

बाहर झुण्ड झुण्ड पक्षी आकर आँगन मे चहकते हैं । सन्ध्या के बाहर आते ही मुनिया, फुलसुंही, खजन, चटक आदि उसके चारों ओर पख फड़फड़ाकर मँडराते एव कन्धों, बाँहों और गोद से लिपट एक साथ पुकारते हैं ।]

पक्षी अम्मी, अम्मी !

[मुनिया खजन फुलसुंही, कुररी, श्यामा, हरियल, महोख, कपोत, कोयल चटक, नीलकण्ठ आदि सब अपने अपने रग बिरगे परों से सुचित, छोटे-बड़े बालक-बालिकाओं के रूप मे अभिनय करते हैं ।]

सन्ध्या (वात्सल्य से) सब बच्चे आ गये ? आ गयी मुनिया, आ गये खजन ? मेरी आँख का तारा ! (फुलसुंही के ऊपर हाथ फेरती हुई) तू भी आ गयी फूलकुमारी, रानी बिटिया ! (प्यार करती है)

फुलसुंही मैं रानी बिटिया हूँ ! सूघो, अम्मा ! मेरा मुह सूघो । बताओ, किस फूल का पराग है ? अच्छा, मेरे पख सूघो, आती है गुलाब की महक ?

सन्ध्या पगली !

गुलदुम फूल, अम्मा से क्यो पूछती है ? अम्मा को गन्ध मरन्द की बिलकुल भी पहचान नही । आ, मैं बताऊँ ।

[दोनो फुदककर बेला, चमेली, गुलाब की झाड़ियो के पास जाते हैं ।]

चटक (सामने आकर) अम्मी, ओ अम्मी !

संध्या क्या है रे चिरौटे ? थक गया क्या ? बड़ा चंचल, बड़ा नटखट है ! (कुररी की ध्वनि)
वह कौन ? कुररी आ रही है क्या ?

महोख (अपने भारी स्वर में) अम्मा, यह हमेशा पिछड़ जाती है, बड़ी बोदी है।

कुररी और तू ?

महोख मेरे तो पंख ही साँझ के हैं, देखती नहीं। (अपने सिन्दूरी पंख फड़फड़ाता है) मैं ही तो अपने पंखों पर साँझ को लाता हूँ।

तीतर (बुलबुल से) आज की बाजी मेरे हाथ रही। (गरदन मटकाकर हर्ष प्रकट करता है)

बुलबुल मुझे लड़ना बिल्कुल पसन्द नहीं विवश होकर ऐसा करना पड़ता है। (गुलाब का फूल सूँघता है)

हरियल ओह ! आज गोली के निशाने से बाल-बाल बचा ! अभी तक जी धड़क रहा है।

सुआ (सहानुभूतिपूर्वक) मनुष्यों की यह कैसी निर्दयता है। हमारे आकाश से उन्मुक्त पंखों के आनन्द को देख नहीं सकते !

[आम की डालों पर कोयल कूक उठती है। मोर अपना पंख भार फैलाकर संध्या के परों से लिपटता है।]

संध्या (मोर के पीठ पर हाथ फेरती) सब बच्चे आ गये ? आरती का समय टल रहा है। आओ मिलकर आरती गा लो।

[सब पक्षी दोनों ओर अर्धवृत्त पाँति में बैठ, संध्या का अनुसरण कर आरती गाते हैं। नेपथ्य में वीणा बेला, क्लेरिओनेट आदि बाजे बजते हैं। मधुर श्लक्ष्ण कोमल तीव्र स्वरों के मिश्रण से वायु मण्डल गूंज उठता है।]

गीत

जीवन का श्रम-ताप हरो, हे !
सुख-सुषमा के मधुर स्वर्ण से
सूने जग गृह द्वार भरो, हे !
लौटे गृह सब श्रान्त चराचर,
नीरव तरु अधरों पर मर्मर,
करुणा-नत निज कर पल्लव से
विश्व-नीड़ प्रच्छाय करो, हे !
उदित शुक्र अब अस्त भानु-बल,
स्तब्ध पवन नत नयन पद्म दल,
तन्द्रिल पलकों में निशि के शशि !
सुखद स्वप्न बनकर विचरो, हे !

[आरती समाप्त हो जाने पर कुछ पक्षी पंखों में मुँह छिपाकर सोने का उपक्रम करते हैं कुछ अपनी चोंचें बच्चों के मुँह में डाल उन्हें खिलाते हैं।]

कोयल अम्मी, मैं आम की डाल पर सोता हूँ ! (प्रस्थान)

हरियल,
नीलण्कठ } हम पीपल पर सोयेंगे, वहाँ ठण्डी हवा मिलती है।

(प्रस्थान)

चटक
खजन } हम बाँसो के झुरमुट मे छिप जाते हैं। (प्रस्थान)

सुग्गा आदि हम तो पिंजडे मे सोयेंगे।

[मना, श्यामा सुग्गा, लाल, अगिन आदि पिंजडे मे सोने का उपक्रम करते हैं

चकोर चार दिन की चादनी यौवन! इसम प्रेम के अगारे चुगने ही मे आनन्द है! जीवन के रपहले पलो को निद्रा की विस्मृति मे खोना मूखता नही, तो क्या है? जाऊँ, किसी एकात सरित पुलिन पर बैठकर, पूनो की अपार चाँदनी म, अनिमेष आँखो से, प्रेयसी के चन्द्र मुख की शोभा का पान करूँ। (प्रस्थान)

टिटहरी मैं भी जाती हूँ, कहीं हम पर आसमान न टूट पडे, हवा मे टगकर उसे रोकती हूँ। (प्रस्थान)

[सन्ध्या आगार की चहारदीवारी से सटा आबनूस का बडा सा किवाड बन्द कर देती है। अन्धकार के काले परदे मे सारा दृश्य ओझल हो जाता है।]

दो

रात्रि का प्रथम प्रहर। इन्दु का विशाल, अष्टकोण, नीलम का अन्त पुर, नीहार की आसमानी छत पर जाज्वल्यमान मणि रत्नो का नक्षत्र लोक अविराम लय मे घूमकर शीतल प्रकाश विकीर्ण कर रहा है। वायु मण्डल मे, मधुर झकारो की तरह विद्युत रेखाएँ लहरा कर विलीन हो रही हैं। शीशे की विशाल शिलाओ से खचित दीवारो के निम्न भागो में एक ही आकृति अनेक प्रतिच्छवियो का रूपाभास प्रतिफलित करती है। ऊपरी भाग म, प्रवाल के फ्रेमो मे, सुरागनाओ के पूर्णाकृति निरावत चित्र टगे हैं।

मुख्य दिशाओ की ओर चार दीवारो मे चार विशाल वृत्तचड द्वार है, जिनमे किरणो की डोरियो मे गुथी ओस की लडिया झिलमिला रही हैं। शेष दीवारो मे चार बडी बडी खिडकियाँ, जिनमे बिजली से आलोकित बादलों के पतले पतल परदे पडे हैं।

अन्त पुर का घन नग्ल नीहारिका का फश सुर-बालाओ के चचल पद क्षेपो से स्पन्दित हो पद तलो को चूम प्रतिपल पद्म बिम्बो से खिल-खिल उठता है, और कमरे के बीच मे तरग की तरह उठकर, निश्चल हो, अँगूठे के बल नत्य भाव म झुकी हुई अप्सरा की आकृति का अध-वत्त तल्प बन गया है जो बैठते ही सकोच के कारण मन्द गतिलय मे दोलित होने लगता है। तल्प पर कोमल धवल बादलो की रोमिल तहें बिछी है, जिनम लटकती हुई बिजली की रुपहली सुनहरी रेखाएँ, जरी की झालर की तरह झूल रही हैं। तकिया के स्थान पर मन्दार मल्लिका, पारिजात के ढेर हैं। पास ही हाथी दाँत की छोटी सी मेज पर, सुधा से

पूण स्फटिक की पारदर्शी सुराही और दाख का प्याला रखा है। स्वर्गीय सौरभो की सांसो से अन्त पुर महक रहा है।

मुख्य द्वारो से चित्रा, रोहिणी, विशाखा, पुष्पा आदि ताराओं का गाते हुए प्रवेश आठ से चौदह साल तक की कुमारियां, अगो मे हल्की दूध फेन सी बादलो की जाली लिपटी है, रुपहली अलको म कुन्द के फूल। ताराएँ अग भगी पूवक तल्प के चतुर्दिक घूमकर हिलत हुए नीलिमा के चिकने फश पर, नृत्य करती एव गाती हे।

नृत्य गीत

कुन्द धवल, तुहिन तरल,
तारा दल, ए—
तारक चल हिम जल पल,
नील गगन विकसित दल
नीलोत्पल, ए—(हम)—
नृत्य निरत सकल सतत,
रवि, शशि, उडु ग्रह अविरत
पुलकित अणु अणु गति रत,
प्रेम विकल, ए—(हम)—
निखिल जगत प्रेम ग्रथित,
मोहित चर अचर भ्रमित,
प्रेम अजर, अमर प्रथित,
जीवन चल, ए—(हम)—

[अचानक एक हिरन कमरे म घुसकर उनके चारो ओर दौडने लगता है। हिल्लोलित फश पर उसके पांवो की अस्पष्ट चाप सुनकर, सब ताराएँ कानो मे उँगलियां डाल, एक दूसरे की ओर देखती हैं। गीत नृत्य थम जाता है।]

रोहिणी आर्द्रा जा तो इस उद्धत हिरनौटे को जल्दी से रजनी जीजी की कज्जल कोठरी म बन्द कर आ। सम्राज्ञी ज्योत्स्ना स्वगगा मे जल विहार कर आती ही हागी। इस प्रकार का उत्पात उपद्रव वह नही सह सकती। अभी उस राज बहन पुष्पा, नत्य करते करत, नीहार के आगन के चिकने फलक पर फिमल गयी थी—

विमला (आश्चय भाव से) हा ?

रोहिणी तू अभी नयी आयी है बहन! इस तरह कई तवगी ताराएँ नत्य के उल्लास म फिसल पडती हैं। मत्य लोकवाले इस तारे का टूटना कहते हैं। हां, हमारी सम्राज्ञी उसके गिरन की आवाज से मूच्छित हाते होत बची। तभी स उन्हान एक नवीन प्रकार के भाव नृत्य एव मूक अभिनय की सष्टि की है। इन्द्रलोक के कुशल कलाविद् और गन्धव, खासकर कामे आचाय उस नत्य की बडी प्रशसा करते हैं।

[आर्द्रा हिरन को पकड ले जाती है]

चित्रा वह देखो सम्राट और सम्राज्ञी आ रहे हैं।

[इन्दु और ज्योत्स्ना का प्रवेश। साथ मे चारों ओर

मोतियों की बौछारें करती हुई ताराएं। सारा प्रांत पुर आलोक से हँस उठता है। इन्दु सुन्दर, स्वस्थ युवा, स्मिति दीप्त आनन आभा चक्र से शोभित है, चूर्ण रुपहली अलकों मे चन्द्रमणि का तरल आलोक जगमगा रहा है, वदन से चिपका हुआ रुपहली रश्मियों का वस्त्र अँगरखा, जिसमे बाँहें नहीं। बायीं बाँह मे आलोक-कनियों का केयूर, कमर से नीचे आधी जाँघों तक गलित मोतियो की लड़ियाँ लटक रही हैं पाँवों मे चाँदी के तार का फुलस्लीपरनुमा जूता। गले मे फूलों का धनुष, बायें हाथ म फूलों का बाण। दायाँ हाथ शश शावक को छाती से चिपकाये, और बायीं बाँह ज्योत्स्ना के कटि प्रदेश से लिपटी है।

ज्योत्स्ना अनिन्द्य सुन्दरी आलोक-बिम्ब आनन, उषा स्मित कपोल, विशाल नील-नभ नयन, प्रलम्ब, पश्मिल पलकें, विद्युत रेखाओं सी भृकुटि, प्रवाल ज्वाल अधर, मुक्तातप दशन, लम्बी सौन्दर्य शिखाओं सी उँगलियाँ आलोक रोओं की आधी बाँह कचुकी, कदम्ब गेंद से उठे उरोज, सलमे सितारे की हलकी नीहारिका की साडी, पृष्ठदेश से लहराती हुई रेशमी चाँदनी बादलों से छनते हुए आलोक प्रसार की तरह झूलकर, फश को चूम रही है, जिसके दोनों ओर लटकती हुई ओस की लडियो के छोर ताराएँ पकडे हैं। गोरी कलाइयो मे किरणों मे गुम्फित स्वनदी के दो रफार मुक्ताफल, गले मे ताराबिन्दुओं की एकावली, जिसमे तरल के स्थान पर इन्दु का छोटा सा चित्र, इन्दु के बायें कन्धे पर दायाँ कपोल, एव दायीं बाँह बायीं बाँह मे डाले है।

छोटी ताराएँ इन्दु के आने पर धीरे धीरे अदृश्य हो जाती हैं। चित्रा, आर्द्रा आदि तल्प के चारों ओर अनेक राशियों मे विभक्त हो, मौन-नाट्यपूर्वक भावनृत्य करती हैं।]

इन्दु (प्रवेश करते हुए) तुम्हे कुछ भी अदेय नही, प्रिये! (कुसुम बाण को मेज पर शश शावक को तल्प पर रख) मैं अपने समस्त शासनाधिकार तुम्हे सौंप चुका हू। आज पृथ्वी पर सम्राज्ञी ज्योत्स्ना का साम्राज्य रहेगा, यह बात स्वर्ग मे प्रसिद्ध हो चुकी है। तुम ससार मे नये युग की विभा बनकर अवतीर्ण होओ। नव जीवन की सन्देश वाहक बनकर प्राणियो को प्रेम का नवीन स्वर्ग, सौन्दर्य का नवीन आलोक, जीवन का नवीन आदर्श दिखाओ। तुम्हारे हृदय को मैं समझता हूँ वह जीवमात्र के सुख एव कल्याण की कामना से ओत प्रोत है।

ज्योत्स्ना स्वामी का मुझ पर अटल स्नेह एव विश्वास है, इससे मैं कृतार्थ हो गयी। मैं देख रही हूँ नाथ! मर्त्यलोक से मान वीय भावनाएँ धीरे-धीरे लुप्त होती जा रही हैं। प्रेम विश्वास,

सत्य न्याय, सहयोग और समत्व, जो मनुष्य आत्मा के देव भोजन हैं, एकदम दुर्लभ हो गये हैं। पशु बल, घृणा, द्वेष और अहंकार सर्वत्र आधिपत्य जमाये हैं। अंध विश्वासों की घोर अंध निशा में, चारों ओर जाति भेद, वर्ण भेद, धर्म भाषा भेद, देशाभिमान, वंशाभिमान, दानवों की तरह किमाकार रूप धरकर मानवता के जर्जर हृदय पर ताण्डव नृत्य कर रहे हैं। विश्व का विशाल आँगन, राष्ट्रवादों की व्योमचुम्बी भित्तियों से अनेक संकीर्ण काराओं में विभक्त हो गया है, जिनके शिखरों पर दिन रात, विनाश के बादल धुआंधार मँडरा रहे हैं। अर्थ और शक्ति के लोभ में पड़कर, संसार की सभ्यता ने, मनुष्य जाति के उन्मूलन के लिए, संहार की इतनी अधिक सामग्री शायद ही कभी एकत्रित की होगी।

इन्दु संसार की समस्या का तुमने जो निदर्शन किया, वह सत्य है, रानी! स्वर्ग के वायुमण्डल के निचले स्तर आजकल मर्त्य-लोक की आर्त पुकारों से पीड़ित हो उठे हैं। जीव मात्र की चिंता में निरत स्वर्ग के देवता संसार के भविष्य के लिए शंकित एवं उद्विग्न हो उठे हैं। मनुष्य जाति के भाग्य का रथ चक्र इस समय जड़वाद के गहरे पंक में धँस गया है। शासक-शासित, धनी निर्धन, शिक्षित अशिक्षितों के बीच बढ़ते हुए भेद भावों की दुरन्त खाई, मानव सभ्यता को निगल जाने के लिए मुंह बाये हुए है। मनुष्य के आत्म ज्ञान का स्रोत अनेक प्रकार के भौतिक वाद विवादों के मरु में लुप्त हो गया है। और सभ्य जातियाँ इन्द्रिय परायणता की मृग-तृष्णा में भटककर संदेह वादिनी हो गयी है।

जाओ रानी! देवगण तुम्हारे सहायक हों। तुम संसार में अवतरित होकर मानव जाति को सत्य और समत्व का संदेश दो। विश्व के लिए प्रेम के प्रकाश का नवीन केन्द्र बनो, जिसके चारों ओर, सौरमण्डल की तरह, वर्तमान अनेक संस्कृतियाँ, वाद विवाद, ज्ञान विज्ञान, राष्ट्र जातियाँ, अर्थ और शक्तियाँ, यथास्थान एकत्रित होकर, एक विराट विश्व संस्कृति की परिधि के भीतर, भविष्य के आकाश में नृत्य करने लगें। तुम जाकर, अनादि काल से अनन्त गतागत जीवों की भावनाओं से पोषित, प्राणि मात्र के अनश्वर स्नेह से सिंचित, स्वयं जाग्रत, आत्म प्रकाश के प्रदीप को विश्व भर के कल्याण के लिए मानव जाति के हाथों में रख आओ।

ज्योत्स्ना (हाथ जोड़कर गदगद स्वर में) स्वामी का आशीर्वाद सफल हो।

इन्दु मैं अभी तुम्हारी यात्रा का प्रबन्ध किये देता हूँ। (पुकारता है) खेचर! खेचर!

(पुष्प का प्रवेश)

पुष्प (झुककर) स्वामिन!

इन्दु — कौन? पुष्प तुम्हारे मुख पर सदैव कुहासा ही रहता है! जाओ, किरणो से कहो सम्राज्ञी ज्योत्स्ना का यान सुसज्जित कर शीघ्र उपस्थित करें। सम्राज्ञी छाया पथ से मनुष्य लोक की यात्रा करेंगी।

पुष्प — जो आज्ञा स्वामिन! (प्रस्थान)

इन्दु — आओ रानी, जाने से पहले तुम्हारे साथ कुछ मनोरंजन कर लूं। फिर भला सम्राज्ञी को इस सेवक की सुधि कहा रहेगी?

[इन्दु ज्योत्स्ना को बाँह पकडकर तल्प पर बिठाता है। तल्प एक मधुर गीत लय के साथ दोलित हो उठता है। ऊपर, छत्र की तरह दो बादलों के टुकडे अपने पख फलाकर मॅडराने लगते हैं जिन पर दो इन्द्र धनुषी आभा के मण्डल चक्राकार घूमते हैं।]

ज्योत्स्ना — सुधि? (हार का तरल दिखाकर) आप ही की छवि तो निरन्तर मेरे हृदय-स्पन्दन मे झूमती है, नाथ! अच्छा, क्या मुझे मर्त्य लोक मे आकर दर्शन दीजियेगा?

इन्दु — जब भी तुम मेरा स्मरण करोगी, मैं मनोगति से आकर तुमसे मिलूगा प्रिये!

ज्योत्स्ना — इस स्वर्ग सुख को छोडकर?

इन्दु — जहा तुम रहो वही मेरा स्वर्ग है कुमू!

[इन्दु मेज पर से सुराही उठाकर शख के प्याले मे अमृत उँडेलता और ज्योत्स्ना के ओठो तक ले जाकर उत्सुक दृष्टि से उसका मुख देखता है। ज्योत्स्ना अपनी प्रलम्ब पलकें प्याले की ओर झुकाकर हँस पडती एव ओठ फेर लेती है।]

ज्योत्स्ना — ऊँ हूँ, मैं पान नही करूँगी। फूल मे विकास की तरह हृदय मे जो सहज प्रसन्नता व्याप्त है वह क्या कम है? मैं पान नही करूगी, नाथ!

इन्दु — (पीता हुआ) जानता हूँ, तुम्हारे अधरामृत को यह देवलोक का अमृत नही पा सकता। पर जब मैं सुधा पात्र को तुम्हारे लाल लाल ओठो के पास ले जाता हूँ, उसकी बूद बूद मे सुरा का रग आ जाता है, जैसे ओस मे सरोवर मे उषा उदय हुई हो। मैं पूछता हूँ यह जड अमृत भी तुम्हारे ओठो से सहमकर लज्जा से लाल हो उठता है?

ज्योत्स्ना — (स्नेह तिरस्कार से) आपको सुधा-पान और रसिकता के सिवा कोई काम भी है?

इन्दु — यही नही, जब तुम इस सुराही की ओर चचल चितवन फेरती हो मुझे भ्रम हो जाता है, इसमे रगरलियाँ खेल रही हैं! जानती हो किसकी चितवन की चाँदनी मे सरोवर मे सरोज सहम जाते हैं?

ज्योत्स्ना — (लज्जाधीर होकर) रहने दो, स्वामी!

इन्दु — तुम्हारे मुख से नाथ का स्नेह-सम्बोधन कभी से नही सुना, कुमू!

ज्योत्स्ना — (प्रेम भाव का छिपे छिपे उपभोग करने के अभिप्राय से)

मुझे विनोद के लिए समय ही कहा मिलता है ? (मेज पर से कुसुम बाण उठाकर, धीरे धीरे पखडिया नोचकर फर्श पर बिखराती हुई) मैं चाहती हू, प्रेम की भाषा अधिक सस्कृत, प्रेम प्रकट करने के हाव भाव और भी नवीन एव मार्जित हों।

इन्दु (ज्योत्स्ना का हाथ पकडकर) यह क्या कर डाला, रानी! काम का कुसुमो का बाण छिन भिन कर पैरो तले कुचल दिया। (ज्योत्स्ना खिलखिलाकर हँस पडती है) तुम्हारे चचल कटाक्षो के सामने काम के कुसुम बाण भले ही व्यथ हो लेकिन मनुष्य लोक का काम अगो की इच्छाओ के बिना कैसे चल सकेगा? एकात शयन गृह म रूठे दम्पतिया का बकुल हरसिंगार और रजनीगधा की सुगध कौन सा सदेश सुनाकर मिलन को उत्सुक करगी? रात के लम्बे लम्बे प्रहर किन मधुमय स्वप्नो की सष्टि कर उ ह सुख से आत्म विस्मत करेंगे?

[ज्योत्स्ना की अनिमेष भाव पूण दष्टि इन्दु की उत्सुक दष्टि से मिलती है। इन्दु विह्वल हो उसे आलिगन पाश मे बाँध लेता है, दोनो के मुख झुक जाते हैं। ताराएँ उल्लसित हो उनके चारो ओर नृत्य करती एव गाती हैं।]

गीत

जब मिलते मौन नयन पल भर,
खिल खिल अपलक कलिया सुन्दर
दखती मुग्ध, विस्मित, नभ पर! जब०

तुम मन्दिर अधर पर मधुर अधर
धरते, झरते हिम कण झर झर
मानी के चुम्बन स छूकर
मदु मुकुलो के सस्मित मुख पर। जब०

तुम आलिंगन करते हिमकर!
नाचती हिलोरें सिहर सिहर,
सौ सौ बाहो मे बाँह भर
मरम आकुल उठ-उठ, गिरकर। जब०

जब रहस मिलन होता सुखकर,
स्वर्गिक सुख स्वप्नो स सुदर
भर जाता स्नेहातुर होकर,
अग अग का विरह विधुर अतर। जब०

[ज्योत्स्ना अपने को बलपूवक इन्दु की बाँहों से छुडा कर खडी हो जाती है। उसके सकेत से गीत नत्य थम जाता है। तार ए उसी तरह, विविध रागिनियों मे विभक्त हो तल्प के चारो ओर भावाभिनय करती हैं।]

ज्योत्स्ना ना, ना, ना,— स्वामी! मैं मनुष्यो के लिए इसस भी सुदर एव सूक्ष्म भावनाओ की सष्टि करूँगी। उनके मनोरजन के लिए नवीन स्फूर्ति नवीन उमग नवीन हाव भावो की मानसी प्रतिमाएँ गढूँगी। मनुष्य की रुचि को मार्जित कर उन्हें आदश सौदय, आदश प्रेम सिखाऊँगी।

इन्दु (मुसकुराकर) जो एक बार इन विद्रुम की प्यालियों का मधु पान कर लेता है, सौन्दर्य के अस्फुट गुलाब से इस मुख का गन्धोच्छवास पीकर बेसुध हो जाता है, वह सदैव के लिए सुरुचि कुरुचि के बन्धनों से मुक्त हो जाता है। अरुचि तो उसके पास फटकती ही नहीं। कलियों के अधरों पर मँडराने का आनन्द भौंरा जानता है, आम्र मंजरियों की गन्ध कोयल ही पहचानता है, पंखों से पंख सटाकर रहने का सुख कपोत को ज्ञात है।

ज्योत्स्ना मनुष्य का पशु-पक्षियों की आँखों से देखकर उसका मूल्य नहीं आँका जा सकता नाथ! उसे पशु-पक्षियों से अपना आदर्श सीखना नहीं। अपनी ही आत्मा के प्रकाश में अपना महत्त्व समझकर उसे अपनी वृत्तियों का विकास करना है। ना, ना, स्वामी! उन्मत्तों की तरह ओठ-से ओठ टकराने की इस कुरूप प्रथा का मैं किसी तरह समर्थन न कर सकूँगी, किसी तरह भी नहीं।

इन्दु (ज्योत्स्ना की आदर्श तृषा से मन ही मन प्रसन्न हो परिहास पूर्वक) दक्षिण-पवन कलियों से कहे, मेरे स्पर्श से तुम्हारी पंखुड़ियाँ पुलकित न हों, लहरों से कहे, मेरे छूते ही तुम सिहर मत उठो, या दीप पतंग से कहे, मेरे प्रकाश से आत्म विस्मृत हो तुम प्राणों का बलिदान न करो—यह कब हो सकता है, प्रिये!

[पुष्प के साथ प्राण वाहक किरणों का गाते हुए प्रवेश।]

गीत

हम स्वर्ग किरण, आलोक वरण, सुकुमारी,
हम चिर अदृश्य अप्सरियाँ भू-नभ चारी।
छबि की अलकों सी स्मिति की रेखाओं सी,
जग जीवन की झंकारों सी सुखकारी।
हम संसृति के पट के तानों-बानों-सी,
जीवन अंकुर सी, सृजन-सूत्र सी न्यारी।
हम ज्योति वाहिनी, दृष्टि दायिनी जग की,
सब रूप, रंग, रेखाएँ ... ...।

ज्योत्स्ना (इन्दु को प्रणाम कर) तुम्हारे प्रेम और शुभ कामनाओं को अपने साथ ले जा रही हूँ, नाथ ! मर्त्यलोक के संकटों से वे मेरी रक्षा करें।

इन्दु प्रसन्न मन से जाओ, रानी ! अपने रूप सौन्दर्य से तुमने संसार को जिस तरह मुग्ध किया, अपने भाव सौन्दर्य से भी अब उसी प्रकार मुग्ध करो।

[ज्योत्स्ना दूज की कला के यान में बैठती है जिसके चारों ओर ओस की लड़ियाँ झूल रही हैं। सप्त रंगों में आभूषित किरणें यान को कंधों पर रख, विरल, जलद पथ खोलकर चलने का उपक्रम करती हैं।]

ज्योत्स्ना किरणो, मधुर ध्वनि में गाते हुए, मुझे छाया पथ से ले चलो। भू-लोक के मानस सरोवर में मेरा यान उतरेगा।

किरणें हम लोग पलक मारते ही संगीत की मधुर झंकार की तरह, पृथ्वी के निद्रित कण कुहर में प्रवेश करती हैं। सम्राज्ञी भार मुक्त हैं, यान के बोझ से हम अभ्यस्त हैं।

[सहसा कमरे का प्रकाश मन्द पड़ जाता है। यान और इन्दु के बीच अँधियाली का पर्दा पड़ जाता है। एक ओर से श्याम वर्ण रजनी प्रवेश करती है। सलमे सितारे की काली रेशमी साड़ी, लम्बे-लम्बे सघन नील आलुलायित कुन्तल स्कन्ध, पृष्ठ एवं वक्ष पर बिखरे हुए एड़ी तक लटक रहे हैं, जिनमें जुगनुओं की लड़ियाँ जगमगा रही हैं। साथ में ठिगने, बौने, गदबदे मनुष्य के वेश में उलूक है। भूरे रंग के वस्त्र, टेढ़ी नुकीली नाक, बिल्ली की तरह बड़ी बड़ी गोल, चमकीली आँखें, जिनके चारों ओर रोओं की भौंरिया उठी हैं, पीठ पर रोमिल पंख, सिर पर बालों की चोटी।]

रजनी (स्नेह भाव से) तुम्हारी यात्रा का समाचार सुन तुम्हें आशीर्वाद देने आयी हूँ बहू ! तुम लाड़-प्यार में पली, दूध में नहाई, भोली भाली बच्ची हो। अभी भले बुरे का बोध भी तुम्हें अच्छी तरह नहीं हुआ। तुम्हें मर्त्य लोक में किसी प्रकार का कष्ट न हो, अपने विश्वस्त अनुचर उलूक को तुम्हारे साथ किये देती हूँ। दुस्समय में यह तुम्हारी सहायता करेगा। मर्त्य लोक के प्रत्येक गली कोने से यह भली भाँति परिचित है। (उलूक से) बहू का साथ मत छोड़ना रे, अच्छा !

उलूक (भारी स्वर में) हूँ ऊँ।

[ज्योत्स्ना रजनी को प्रणाम करती, रजनी उसे आशीर्वाद देती है। किरणें पंख खोलकर, गाते हुए, उड़ने का उपक्रम करती हैं।]

गीत

रजत किरण, रजत वरण,
पुलकित तन, चपल चरण !

तडित चकित चल चितवन,
तुहिन शुभ्र स्मिति वितरण ! रजत०

[उल्लू पर मारता हुआ सवक आग निकलकर ओझल हो जाता है, मान अभी अदृश्य नहीं होता, परदा गिरता है।]

तीन

रात्रि का द्वितीय प्रहर, भूलाक के निजन पवत प्रात का एक दृश्य, अतरिक्ष के नीरव कूलो म चाँदनी का अपार फेनिल सागर उमड रहा है। चारो ओर सीप के पख म उडते हुए व्योमचर आनेवाले अलौकिक दृश्य की सूचना द रहे हैं। वायु के प्रश्वासो स वनौषधियाँ, फासफरस की तरह सुलगकर, रग बिरग आलाक उदगत कर रही हैं। दूध की तरगो के सम न उठे हिम शिखरो की अधित्यका म, पृथ्वी के विशाल अचल-सा मानस सरोवर फैला हुआ है। हिम की उज्ज्वल शिलाओ म पुन-पुन प्रतिफलित चन्द्रातप आँखो को चकाचौंध कर अनक वर्णों की रत्नच्छाया प्रसारित कर रहा है।

सरोवर के बीच मे बला, जुही एव कुद कलियो की बदनवारो से सज्जित, चाँद की कला के आकृति की विशद रुपहली नाव है, नाव पर चाँदी की चौकडी भरत हिरना की पीठ पर मातियो स खचित हाथीदाँत का सिंहासन, जिसम फन कोमल मखमल की जरीदार गद्दियाँ और तकिये लगे है। दानो ओर स उडते हुए चाँदी के हस, जिनके पखो पर हीरे की कनियाँ दमक रही हैं। ऊपर आसमानी रेशम का घूमता हुआ छत्र मणि किरणें विकीर्ण कर रहा है, छत्र की परिधि म मोतियो की लडियाँ झूल रही हैं।

सिंहासन के चतुर्दिक हँसमुख किशोर वयस ओसो की पाँति, आठ से दस साल के बच्चे, चमकील टसर के वस्त्र अबरक क पत्रा म झल मला रहे हैं, चादी की चूण अलको म छोटे छोटे मोती बिखरे हैं, उत्सुक अधीर दृष्टि, अगो को हिला-डुलाकर बाल सुलभ चचल हाव भाव प्रकट कर रहे हैं। बायी ओर पुष्पा के हृदय म उच्छवसित दुर्निवार कामना सी सुरभि पुष्पो की चटकीली पखडियों स सजी, लालसा से लाल पल्लवो की चोली पहने मदिर गध निगत करती, कसरी अलकों मे रजनीगधा की माला बाध रही है। दायी ओर छरहरे बदन का सुदर स्वस्थ युवक पवन अनिमेष अतृप्त दृष्टि से सुरभि का उन्मुक्त सौदय पान कर रहा है। सरोवर मे कई का का, अँगूठ के बल खडा, मुग्ध दृष्टि से आकाश की ओर देख रहा है। इधर उधर कुछ राजहस लम्बी लम्बी ग्रीवाएँ पीठ पर रखे सो रहे हैं।

[ओस बाल कौतूहल वश चारों ओर कुदक कुदककर चचल नाट्य पूवक गाते हैं। नेपथ्य मे बेला और जलतरग बजता है।]

गीत

जीवन चल जीवन वल,
जीवन हिम जल लघु-पल ।
विश्व सुखद, विश्व विशद,
विश्व विकच प्रेम-कमल ।
खिल खिलकर, झिलमिलकर
हिल मिल लें, बधु ! सकल,
जम नवल, अगणित पल
लेंगे बन, सजन प्रवल ! जी०

पवन सम्राज्ञी के आने मे न जाने क्यो विलम्ब हो रहा है ।

[आकाश मे मधुर सगीत ध्वनि गूजती है]

सुरभि वह सुनो, सम्राज्ञी का आगमन सूचक मगल सगीत सुनायी पडता है । आकाश से मधुर स्वरो की पुष्प वृष्टि हो रही है ।

[धीरे धीरे गीत ध्वनि स्पष्ट हो उठती है । नेपथ्य मे बाजा बजता है ।]

पवन जान पडता है, चिरकाल स मूक आकाश वीणा, आज अपने ही आनन्द स मुखरित हो, मधुर, मन्द झकारो मे गूज उठी है ।

[किरणो का मधुर श्लक्ष्ण स्वर सुनायी पडता है]

आकाश गीत

सजल स्निग्ध स्मिति, मधुर मन्द गति री
इन्दु किरण अमतोज्वल ।
चटुल लहर पर चपल लास कर
मुकुल अधर पर मदुल हास भरती
चूम चूम स्वप्निल दल ।
रजत स्वर्ण परियो सी सुन्दर,
उतर मुग्ध तन्द्रिल पलको पर,
सुख-स्वप्नो मे नित हँस हँस रगती
जगती के दग अचल ! सजल०

पवन (आकाश की ओर सकेत कर) वह देखो, उस तीव्र वेग से घूमते हुए ज्योति बिन्दु को !

[सब उत्सुक दृष्टि आकाश को देखते हैं]

एक ओस मोती देखो सम्राज्ञी का यान ! (ताली बजाता है)

पवन अब देखो राजहस की तरह प्रकाश के पख फैलाये—

मोती चटुल ! पोत ! (उँगली उठाकर) वह देखो, विमल ! रत्ती ! देखो ! (सब ओस आश्चर्यचकित देखते हैं)

पवन असख्य किरणो के पख फैलाये एक नवीन आलोक सृष्टि पृथ्वी पर अवतरित हो रही है । जान पडता है, भू लोक को समीप जानकर चतुर यान वाहको ने अपना वेग मन्द कर लिया है ।

[आकाश वाणी]

किरणें सम्राज्ञी ! इन्द्र, गन्धर्व, मध मरुत-लोको को पार कर अब

हमारा यान भू लोक के समीप आ गया है। वह देखिए, नीचे पृथ्वी तल का दृश्य !

ज्योत्स्ना देख रही हूँ,—दूर से, शून्य दिगन्त में घूमती हुई जो पृथ्वी गोल लट्टू के समान छोटी जान पड़ती थी, और नीचे उतरने पर जो भूमि रेखा समुद्र के उच्छ्वसित वक्ष में मुँह छिपाये स्तनपान करते हुए शिशु सी लगती थी, वही पास पहुँचने पर, उच्च हिम किरीट से शोभित, सरिताओं के चंचल मुक्ता हारों से मण्डित, शस्य श्यामल अचला, अनन्त संतप्त प्राणियों की पुण्य धात्री, अचला के रूप में बदल गयी है। वे जुगनुओं की तरह चमकते शायद धनिकों के प्रासाद हैं। और, इधर उधर निष्प्रभ छोटी सी छितरी निधनों की दीन-हीन बस्तियाँ। बीच-बीच में लम्बे, पतले, साँपों की तरह बल खाये, टेढ़े मेढ़े, वे शायद रास्ते हैं।

एक किरण सूर्य के मुक्त प्रकाश में नृत्य करती, वायु के नील रेशमी अंचल को फहराती, हरित शस्य की चोली पहने, हँसमुख चंचल बालिका सी यह पृथ्वी सदैव से देवताओं की दुलारी रही है।

ज्योत्स्ना ठीक कहती हो। असंख्य कोटि के जीवों एवं मनुष्यों से युक्त, वन उपवन, मरु उर्वर, पर्वत समुद्रों से निर्मित यह पृथ्वी अपनी समस्त विभिन्नताओं के रहते हुए भी एक है। ये अभ्रभेदी पर्वत और दुस्तर समुद्र भी इसकी एकता को नष्ट नहीं कर सकते। जिस प्रकार यह बाहर से एक है, उसी प्रकार भीतर से भी इस एक आत्मा, एक मन, एक वाणी और एक विराट् संस्कृति की आवश्यकता है। यह समस्त विश्व चक्र एक ही अखण्डनीय सत्ता है, एक ही विराट शक्ति के नियमों से संचालित है। मानव जाति अपने ही भेदों के भुलावे में खो गयी है। उसे इस अनेकता के भ्रम को आत्मा की एकता के पाश में बाँधकर, समस्त विभिन्नता को एक विश्वजनीन स्वरूप देकर नियन्त्रित करना होगा। अनियन्त्रित प्रकृति विकृति मात्र है। एक बार मैं समस्त मानव समाज को महासागर की असंख्य तरंगों की तरह एक ही भावोच्छ्वास से आन्दोलित उद्वेलित, एक ही नृत्य लय में उठते गिरते, और एक ही मानव प्रेम के राग से मुखरित उल्लसित देख पाती !

किरणें समस्त जीव जगत् निद्रा की सुखद गोद में विश्राम कर रहा है। साँसों के आवागमन के सिवा प्राणियों के मनोलोक में सम्पूर्ण मानसी क्रियाएँ निश्चेष्ट हो सो रही हैं। इस समय जड़ चेतन में कुछ भी भेद नहीं जान पड़ता।

ज्योत्स्ना किरणो, मेरा यान इसी मानस सरोवर में उतरेगा, जो कुई की असंख्य आँखें खोल, अनिमेष हो, मेरी प्रतीक्षा कर रहा है।

किरणें ऐसा ही होगा, सम्राज्ञी !

[पुन गीत ध्वनि, नेपथ्य मे बाजा बजता है। सब लोग एकटक आकाश की ओर देखते हैं।]

गीत

तुम चन्द्र वदनि, तुम कुन्द दशनि,
तुम शशि प्रेयसि, प्रिय-परछाईं।
नभ की नव रंग सीपी से तुम
मुक्ताभा सदश उमड आयी।
उर मे अविकच स्वप्नो का युग,
मन की छवि तन से छन छायी।
श्री, सुख, सुखमा की कलि चुन चुन
जग के हित अचल भर लायी।

[धीरे धीरे प्रकाश बढता है एव सारा दृश्य आलोक-प्लावित हो उठता है। इन्द्रधनुषी किरणो द्वारा वाहित, मधुर मुखरित, ज्योत्स्ना का दिव्य यान नाव पर अवतरित होता है। सरोवर मे राजहसों का दल, असमय आखें खुल जाने पर ग्रीवा उठा उठाकर कल ध्वनि करता है।]

ओस (एक साथ) सम्राज्ञी की जय!

पवन-सुरभि सम्राज्ञी की जय!

[ज्योत्स्ना सिंहासन पर आसीन होती है। दायें बायें पार्श्वों मे पवन और सुरभि, उनके चतुर्दिक किरणें अपना स्थान ग्रहण करती हैं। ओस स्वागत गान गाते हैं।]

गीत

सरल चटुल, विमल विपुल,
हिम शिशु हुलसाये!
दल दल पर, झलमल कर,
मोती मुसकाये!
मुकुल मुकुल पर विलास,
कलि कलि पर हास हास,
तृण-तृण पर तरल लास,
भू पर उडु छाये!
स्वागत, सम्राज्ञि! आज,
श्री सुख के सजे साज,
चल छवि वल तुहिन-ताज,
मणि द्युति गल जाये।

[ज्योत्स्ना के सकेत से गीत नृत्य थम जाता है। ओस सिंहासन के दोनों ओर दो टोलियो मे बँटकर चचल नाट्य पूर्वक मूक अभिनय करते हैं।]

ज्योत्स्ना (प्रसन्न भाव से) तुमसे और सुरभि से मिलकर मुझे हार्दिक प्रसन्नता हुई, पवन!

पवन सदैव स्वच्छन्द प्रकृति पवन को सम्राज्ञी के सौजन्य ने वशीभूत कर लिया।

सुरभि सुरभि सम्राज्ञी की सेवा के लिए सदैव प्रस्तुत रहेगी।

ज्योत्स्ना पवन ! ससार की इस समय क्या स्थिति है, मुझे सक्षेप मे सुनाओ। तुम सदागति हो, तुमसे कोई भेद छिपा नहीं रहता।

पवन सम्राज्ञी, इस युग के मनोजगत मे सर्वत्र ऊहापोह और अशांति मची है। एक ओर धर्मान्धता, अन्ध विश्वास और जीर्ण रूढियो से सग्राम चल रहा है, दूसरी ओर वैभव और शक्ति का मोह मनुष्य की छाती को लोह शृखला की तरह जकडे हुए है। बुद्धि का अहकार, प्रखर त्रिशूल की तरह बढकर, मनुष्य के देवत्व प्रिय स्वभाव एव आदर्श प्रिय हृदय को स्वार्थ की नोक से छेद रहा है। विद्वान् लोग जीवन के गूढ प्रश्नो एव विश्व की जटिल समस्याओ पर विज्ञान का नवीन प्रकाश डालकर सृष्टि के गूढ रहस्यो को नवीन ढग से सुलझाने की चेष्टा कर रहे हैं। विश्वासवाद के दुष्परिणाम स, भौतिक ऐश्वर्य पर मुग्ध एव इन्द्रिय सुख से लुब्ध मनुष्य-जाति, समस्त वेग से जडवाद के गर्त की ओर अग्रसर हो रही है। मानव सभ्यता का अर्थवाद की दृष्टि से ऐतिहासिक तत्त्वावलोचन करने पर समस्त प्राचीन आदर्शो, विचारो, सस्कारो, नैतिक नियमो एव आचार व्यवहारो के प्रति विश्वास उठ गया है। मनुष्य मनुष्य न रहकर एक ओर निरकुश धनपति दूसरी ओर त्रस्त श्रमजीवी बन गया है। इस आतरिक विपर्यय के कारण ससार का मनोलोक, द्रवित वाष्प पिण्ड की तरह प्रलय-वेग स घमकर, अपने अतरतम जीवन मे समस्त विरोध उन्मूलन एव विश्व व्यापी परिवर्तन का आह्वान करना चाहता है। अपने अस्पष्ट भविष्य को मूर्त, स्पष्ट एव सबल स्वरूप देकर मनुष्य समार की सभ्यता के इतिहास म नवीन स्वर्ण युग का निर्माण करना चाहता है। जब तक वह किसी सतोषजनक परिणाम पर नही पहुच सकेगा सृष्टि के सरल, सुगम, सनातन नियमो पर उसका अविश्वास ही बना रहेगा। और चारो ओर अशाति, अन्धकार, पशुबल एव तामसी प्रवृत्तियो का बोल-बाला रहेगा।

ज्योत्स्ना जान पडता है, मनुष्य को यथार्थप्रकाश की आवश्यकता है। इस अनादि, अनन्त जीवन पर अनन्त दृष्टिकोणो से प्रकाश डाला जा सकता है। ज्ञान विज्ञान से मनुष्य की अभिवृद्धि हो सकती है, विकास नहीं हो सकता। सरल, सुन्दर और उच्च आदर्शों पर विश्वास रखकर ही मनुष्य जाति सुख शान्ति का उपभोग कर सकती है, पशु से देवता बन सकती है। आदर्श चिन्तन अनुभूतियो की अमर प्रतिमाएँ हैं वे तार्किक सत्य नहीं, अनुभावित सत्य हैं। आदर्शों को सापेक्ष दृष्टि से देखने मे उनका मूल्य नही आँका जा सकता, उन्हें निरपेक्षत मान लेने पर ही मनुष्य उनकी महत्ता तक पहुँच सकता है। निरपेक्ष सत्य शून्य नही वह सब है। प्रत्येक वस्तु का निरपेक्ष मूल्य भी है। प्रत्येक व्यक्ति के लिए असीम है। देश काल, समाज आदर्शों की सीमाएँ हैं सार नहीं।

उनके इतिहास हैं, तत्त्व नही।

(नेपथ्य मे झिल्ली की कर्कश झकार सुनायी पडती है)

ज्योत्स्ना पथ्वी पर उतरत ही मत्यलोक के प्राणियो का तक वितक, ऊहापोह, चीत्कार चिाकार कानो के परदे फाडन लगा। इस आन दपूण सष्टि का अथ इ होने जीवन सग्राम समझ लिया है। रात दिन द्व द्व सघष, वाद विवाद, ईर्ष्या-कलह के सिवा इ हे और कुछ सूझता ही नही। हाय, इ द्रियो की मदिरा पीकर यह मनुष्य जाति उ मत्त हो गयी है। इसने अपनी आत्मा के अमर आन द को क्षण भगुर इ द्रियो के हाथ बेच दिया है! इसकी समस्त शक्ति मृगतष्णा के स्वग का निर्माण करने मे लगी है, जो इसे विनाश के मरु मे भटकाकर सदव और भी दूर भागता जाता है! प्रकृति की इस अपार रूप-राशि पर मुग्ध होकर मनुष्य का प्रकृतिवादी बन जाना आश्चय की बात नही, कि तु इससे मुक्त न हो सकना अवश्य ही दुख की बात है।

[एक नाटे कद, गठीले बदन के बलिष्ठ मनुष्य के वेश मे झींगुर का प्रवेश। ताँबे का सा रग, दढ पुट्ठे, लौह तार सी नाडियाँ, सख्त चौडा पजा, मोटी, न मुडनेवाली उँगलियाँ, काँच की सी चमकीली, भाव शू य आँखें, मोटे होठ, तीर सी तनी लम्बी लम्बी बटी मूछें। इस मनुष्य के अगो मे मांस का लचीलापन नहीं वे मशीन के पुरजों की तरह एक निश्चित यान्त्रिक भाव से सचालित हो रहे ह। मुखाकृति मे एक प्रकार की अविश्वासजनित तीव्र सतकता व्याप्त है। इसके क धो पर लोहे की बुनी जाली, कलाइयों पर लोहे के पट्ठे बँधे हैं। कमर मे पिस्तौल, तलवार, चाकू आदि अस्त्र शस्त्र लटक रहे हैं। हाथ मे वाद्य के ढग का लोह य त्र है, जिस पर वह आरानुमा लोहे का गज फेरकर, एक प्रकार का ककश घघर-रव पदा करता हुआ, पुरुष स्वर मे गा रहा है।]

गीत

जो है समथ, जो शक्तिमान,
जीने का है अधिकार उसे।
उसकी लाठी का बैल विश्व,
पूजता सभ्य ससार उसे!
दुबल का घातक दैव स्वय
समझो बस भू का भार उसे।
'जैसे को तैसा'—नियम यही,
होना ही है सहार उसे!
है दास परिस्थितिया का नर,
रहना उनके अनुसार उसे।
जीता है योग्य सदा जग मे
दुबल ही है आहार उसे!

ज्योत्स्ना पवन ! ससार की इस समय क्या स्थिति है, मुझे सक्षेप मे सुनाओ। तुम सदागति हो, तुमसे कोई भेद छिपा नही रहता।

पवन सम्राज्ञी, इस युग के मनोजगत म सवत्र ऊहापोह और श्राति मची है। एक ओर धर्मान्धता, अ ध विश्वास और जीण रूढियो से सग्राम चल रहा है, दूसरी ओर वभव और शक्ति का मोह मनुष्य की छाती को लोह शृखला की तरह जकडे हुए है। बुद्धि का अहकार, प्रखर त्रिशूल की तरह बढकर, मनुष्य के देवत्व प्रिय स्वभाव एव आदश प्रिय हृदय को स्वाथ की नोक से छेद रहा है। विद्वान् लोग जीवन के गूढ प्रश्नो एव विश्व की जटिल समस्याओ पर विज्ञान का नवीन प्रकाश डालकर सष्टि के गूढ रहस्यो को नवीन ढग से सुल झाने की चेष्टा कर रहे है। विकासवाद के दुष्परिणाम से, भौतिक ऐश्वय पर मुग्ध एव इन्द्रिय सुख से लुब्ध मनुष्य जाति, समस्त वेग स जडवाद के गत की ओर अग्रसर हो रही है। मानव सभ्यता का अथवाद की दृष्टि स ऐतिहासिक तत्त्वावलोचन करने पर समस्त प्राचीन आदर्शों, विचारो, सस्कारो, नैतिक नियमो एव आचार व्यवहारो के प्रति विश्वास उठ गया है। मनुष्य मनुष्य न रहकर एक ओर निरकुश धनपति, दूसरी ओर श्रात श्रमजीवी बन गया है। इस आन्तरिक विपयय के कारण ससार का मनोलोक, द्रवित वाष्प पिण्ड की तरह प्रलय वग से घमकर, अपने अन्तरतम जीवन म समस्त विरोध उन्मूलन एव विश्व व्यापी परिवतन का आह्वान करना चाहता है। अपने अस्पष्ट भविष्य को सुस्थ स्पष्ट एव सबल स्वरूप दकर मनुष्य ससार की सभ्यता के इतिहास म नवीन स्वण युग का निर्माण करना चाहता है। जब तक वह किसी सन्तापजनक परिणाम पर नही पहुच सकेगा, सृष्टि के सरल, सुगम सनातन नियमो पर उसका अविश्वास ही बना रहेगा। और चारा ओर अज्ञान अध कार, पशुबल एव तामसी प्रवत्तियो का बोल-बाला रहेगा।

ज्योत्स्ना जान पडता है मनुष्य को यथाथप्रकाश की आवश्यकता है। इस अनादि, अनन्त जीवन पर अनन्त दष्टिकोणो से प्रकाश डाला जा सकता है। नान विज्ञान से मनुष्य की अभिवद्धि हो सकती है विकास नही हो सकता। सरल सुन्दर और उच्च आदर्शों पर विश्वास रखकर ही मनुष्य जाति सुख शान्ति का उपभोग कर सकती है पशु से देवता बन सकती है। आदश चिरन्तन अनुभूतियो की अमर प्रतिमाएँ हैं वे तार्किक सत्य नही अनुभावित सत्य हैं। आदर्शों को सापेक्ष दष्टि से देखने मे उनका मूल्य नही आँका जा सकता, उन्ह निरपेक्षत मान लेने पर ही मनुष्य उनकी आत्मा तक पहुच सकता है। निरपेक्ष सत्य शून्य नही वह सब है। प्रत्येक वस्तु का निरपेक्ष मूल्य भी है। आदश व्यक्ति के लिए असीम है। दश काल, समाज आदर्शों की सीमाएँ हैं सार नही,

उनके इतिहास हैं, तत्व नही।

(नेपथ्य मे झिल्ली की कर्कश झकार सुनायी पडती है)

ज्योत्स्ना पृथ्वी पर उतरते ही मर्त्यलोक के प्राणियो का तर्क वितर्क, ऊहापोह, चीत्कार किलकार कानो के परदे फाडने लगा। इस आनन्दपूर्ण सृष्टि का अर्थ इन्होने जीवन सग्राम समझ लिया है। रात दिन द्वन्द्व सघर्ष, वाद विवाद, ईर्ष्या कलह के सिवा इन्हे और कुछ सूझता ही नही। हाय, इन्द्रियो की मदिरा पीकर यह मनुष्य जाति उन्मत्त हो गयी है। इसने अपनी आत्मा के अमर आनन्द को क्षण भगुर इन्द्रियो के हाथ बेच दिया है! इसकी समस्त शक्ति मृगतृष्णा के स्वर्ग का निर्माण करने मे लगी है, जो इसे विनाश के मरु मे भटकाकर सदैव और भी दूर भागता जाता है! प्रकृति की इस अपार रूप राशि पर मुग्ध होकर मनुष्य का प्रकृतिवादी बन जाना आश्चर्य की बात नही, किन्तु इससे मुक्त न हो सकना अवश्य ही दुख की बात है।

[एक नाटे कद, गठीले बदन के बलिष्ठ मनुष्य के वेश मे झींगुर का प्रवेश। ताँबे का सा रग, दृढ पुट्ठे, लौह तार सी नाडिया, सख्त चौडा पजा, मोटी, न मुड़नेवाली उँगलिया, काच की सी चमकीली, भाव शून्य आँखें, मोटे होठ, तीर सी तनी लम्बी लम्बी बटी मूछें। इस मनुष्य के अगों मे मास का लचीलापन नहीं, वे मशीन के पुरजों की तरह एक निश्चित यान्त्रिक भाव से सचालित हो रहे ह। मुखाकृति मे एक प्रकार की अविश्वासजनित तीव्र सतर्कता व्याप्त है। इसके कन्धो पर लोहे की बुनी जाली, कलाइयो पर लोहे के पटठे बँधे हैं। कमर मे पिस्तौल, तलवार, चाकू आदि अस्त्र शस्त्र लटक रहे हैं। हाथ मे वाद्य के ढग का लौह यन्त्र है, जिस पर वह आरानुमा लोहे का गज फेरकर, एक प्रकार का कर्कश घर्घर रव पैदा करता हुआ पुरुष स्वर मे गा रहा है।]

गीत

जो है समर्थ, जो शक्तिमान,
जीने का है अधिकार उसे।
उसकी लाठी का बैल विश्व,
पूजता सभ्य ससार उसे!

दुर्बल का घातक दैव स्वय
समझो बस भू का भार उसे।
'जैसे को तैसा'—नियम यही,
होना ही है सहार उसे!

है दास परिस्थितियो का नर,
रहना उनके अनुसार उसे।
जीता है योग्य सदा जग में
दुर्बल ही है आहार उसे!

तम, भय पशु से मनुज तन देता
जीवन विकास का तार उसे,
वह शासन क्यों न करे भू पर
चुनना है सबका सार उसे ! जो०

ज्योत्स्ना पवन, इस मर्त्यलोक के दूत से कहो, अपना बेसुरा आलाप बन्द करे, नहीं तो हम बहरे हो जायेंगे।

[बाजे में कर्कश नाद करते हुए झींगुर का प्रस्थान।]

ज्योत्स्ना मनुष्य का ऐसा बर्बर वेश देखकर, उसके मुँह से पाशविक सिद्धान्त एवं आसुरी उद्गारों को सुनकर आश्चर्य होता है। 'समर्थ और शक्तिशाली को ही जीने का अधिकार है', 'दुबलों का दैव भी घातक है', आदि,—नैतिक अतिवाद जीवन के नियम बन रहे हैं। सर्वत्र अतृप्ति ही अतृप्ति है ! घृणा से घृणा ही बढ़ती है। वैमनस्य से वैमनस्य ही पैदा होता है। स्नेह, समत्व, सहृदयता आदि मानव स्वभाव की उच्च विभूतियों से विश्वास ही उठ गया है। ना, ना, इस तरह मेरा कार्य नहीं चलेगा। मनुष्य को इस अपूर्ण एकांगी बुद्धिवाद से ऊपर उठना पड़ेगा। (पवन और सुरभि से) पवन ! तुम्हारे स्वभाव की उत्तेजनशील भाव प्रवणता और सुरभि के सौन्दर्य की अतिशय मादकता से मैं अच्छी तरह परिचित हूँ। सुरभि ! तुम तरुण वसन्त के हृदयोच्छ्वास से निःसृत, यौवन की उद्दाम लालसा की सजीव प्रतिमा हो। तुम दोनों के मधुर सम्मिलन से, मनुष्य जाति के मंगल के लिए मैं दो सूक्ष्म तत्वों को जन्म देना चाहती हूँ, जो अपनी ही सूक्ष्मता के प्रभाव से संसार के मनोलोक में प्रवेश कर, मनुष्यों के हृदय में उन्नत संस्कृत भावनाओं का विकास एवं प्रचार करेंगे।

पवन सुरभि सम्राज्ञी की इष्ट सिद्धि के लिए पवन और सुरभि अपना जीवन उत्सर्ग करने को प्रस्तुत हैं।

ज्योत्स्ना (प्रसन्नता पूर्वक) मुझे तुम लोगों से यही आशा थी। मेरी अलौकिक शक्ति तुम्हारे इस आत्मत्याग में सहायक होगी।

[ज्योत्स्ना खड़ी होकर, दोनों हाथों से अपने अंचल छोर को नाव पर बैठे हुए ओस और किरणों के ऊपर फेरती है। चाँदनी के स्वप्निल भाव से सब लोग अपने स्थान पर बैठे ऊँघने लगते हैं, एवं माथा झुकाकर धीरे धीरे तन्द्रामग्न हो जाते हैं। चारों ओर हरे रंग का आलोक फैल जाता है। वायु मण्डल में बुक्के का चूर्ण प्रकाश कणों की तरह बरस-बरसकर चमकने लगता है। ज्योत्स्ना ताली बजाती है। छोटे छोटे पंख फैलाये हुए दीपों से जुगनू, ऊपर से परियों के बच्चों की तरह उतरकर, चारों ओर उड़ उड़कर मौन नाट्य पूर्वक नृत्य करते हैं। पाँच से सात साल तक के बालक, हलके वस्त्र पहने पीठ पर बिजली का छोटा-सा बल्ब लगाये जुगनुओं का अभिनय करते हैं। नेपथ्य में बाजा बजता है।

प्रकाश धीरे धीरे नीला, पीला, गुलाबी, बैंगनी, कई प्रकार के रग बदलता है और जुगनुओ का रग भी उसी प्रकार परिवर्तित होता जाता है। कोमल मधुर कण्ठों का स्वर वायु मे गूज उठता है।]

गीत

जगमग-जगमग हम जग का मग,
ज्योतित प्रतिपग करते जगमग।
हम ज्योति शलभ, हम कोमल प्रभु
हम सहज सुलभ दीपो के नभ।
चचल, चचल, बुझ-बुझ, जल जल,
शिशु उर पल-पल, हरते छल छल।
हम पटु नभचर, हँसमुख सुदर,
स्वप्नो को हर लाते भू पर।
झिलमिल झिलमिल, स्वप्निल, तद्रिल
आभा हिल मिल, भरते झिलमिल।

[इसी बीच में ज्योत्स्ना पवन और सुरभि को अपनी छिगुनी से छू देती है, दोनो उद्दीपित हो एक दूसरे की ओर आकर्षित होते हैं। पवन निर्निमेष दृष्टि से सुरभि के मुख को देखता हुआ धीरे धीरे उसके पास पहुँचता है। दोनों की चार आखें होतीं, सुरभि का सिर झुक जाता है। पवन सुरभि का हाथ अपने हाथ पर लेता है। दोनों देर तक एक दूसरे का मुख देखते हुए अपने को भावावेश मे भूल जाते हैं। नेपथ्य मे गीत की लय द्रुत-से द्रुततर होती जाती है। जुगनू उसी प्रकार गाते रहते हैं।]

पवन (गीत थम जाने पर) सुरभि!

सुरभि नाथ!

पवन तुम अपनी मादक साँसें पिला पिलाकर मेरी आँखो के सामने यह किस छाया-लोक की सृष्टि कर रही हो, प्रिये! मैं आत्म विस्मृत हो देश-काल से परे, एक दूसरे ही स्वप्न-जगत मे घूम रहा हूँ! उस लोक की सौंदर्य-सुषमा के सामने यह ससार विश्री और बासी लगता है। तुम्हारे इस अस्फुट हृदय म इतना लावण्य, इतनी मादकता और मधुरता कहा छिपी थी, प्रियतमे!

सुरभि मेरे अनन्त यौवन का मधु तुम्हारे ही लिए है, प्रियतम! मेरी हृदय-कली के तुम्हीं एकमात्र मधुप हो।

[प्याली की आकृति की अधखिली कली पवन के ओठों से लगाती है। पवन मधुपान करता है।]

पवन तुम्हारे पिलाये मधु से तृप्ति ही नही होती। (फिर पीता है) ओह, मेरे अग अग शिथिल होते जा रहे हैं। अलस इच्छाओ के सुख से पलकें लदकर झूमने लगी हैं! इच्छामयी! वासनामयी! (मुदती हुई आँखों को चेष्टा पूर्वक खोलकर) प्रियतमे!

सुरभि प्रियतम !

[पवन सुरभि को पास बिठाकर अपनी बाँहों मे बाँध लेता है। दोनो देर तक इसी प्रकार प्रेम विह्वल एव बेसुध रहते हैं। ज्योत्स्ना जुगनुओ को सकेत करती है। जुगनू पवन और सुरभि के चारो ओर मँडराकर गाते हैं, नेपथ्य मे बाजा बजता है।]

गीत

हम है प्रकाश के शिशु सस्मित,
जग के तम म हँस हँस पडते !
जीवन की चिनगारियाँ अमर,
फिर फिर बुझते, फिर फिर जलत !
हम एक ज्योति की बहु बूँदें,
जग-करतल मे चू चू झरते।
हम जागति के उज्ज्वल लघु-पल,
जगती की चिर-निद्रा हरते।
दुविधा के तम म ज्योति दिखा,
हम पथ प्रदीप उर के बनते।
छाया-पथ से हर स्वप्नो को
स देश सुखद जग स कहते ।

पवन (आँखें ब द किये) आखो के सामने परदे के बाद परदे खुल रहे हैं। कैसा अपार सौ दय है ! क सा असीम आन द ! यह छाया जगत् ही ससार का मनोलोक है, जिसके नेपथ्य मे छिपी हुई अदृश्य सूक्ष्म शक्तियाँ विश्व के रगमच पर अभिनय करने को अवतरित होती हैं। रूप, छवि, प्रतिछवि! —सब कुछ सूक्ष्म से सूक्ष्मतम होता जा रहा है। ओह इस भावना का कही अ त है।

सुरभि कैसा सम्मोहन ! कसी परितृप्ति है ! मेरा हृदय देह के ब धनो से मुक्त हो, सदैव के लिए इस सौ दय के स्वग मे लीन होकर तदाकार बन जाना चाहता है। कसा मधुर मधुर आकषण है !

पवन प्रिये, यह जागृति है या स्वप्न ?

सुरभि नाथ यह सत्य है या कल्पना ?

[स्वप्न और कल्पना साकार हो दो देव दूतो की तरह ऊपर से उतरकर पवन और सुरभि के सामने झूलने लगते हैं। स्वप्न सु दर सुकुमार युवक, विस्मय से पूण निमल नील नयन, गुलाब से सस्मित कपोलों पर पीले भौरों की पाँति की तरह सुनहली अलकें बिखरीं। बदन मे रेशमी आलोक की छाया वस्त्र की तरह लिपटी है, जिससे देह की आभा बालातप सी झलक रही है। दोनों क धो पर विस्फारित पलको की तरह दो आलोकित पख हैं। नीचे की देह मे नीहारिका की तरह हलका आसमानी वेष्टन झूल रहा है। कल्पना विकच यौवना, सर्वांग सु दरी, अकूल नील

नयन, कोमल दृष्टि, मेधावी नासिका, सरल अकलुष स्मिति, सजीव कपोल, स्वभाव सरकृत मुखाकृति, अनेक रंगों का छायातप भीने पट की तरह अंगों में भूल रहा है, दोनों कंधों पर मयूर-पुच्छ की तरह दो पख हैं।]

पवन — कैसा स्वर्गीय सौंदय है!

सुरभि — कैसा स्वर्गीय सम्मोहन!

[ज्योत्स्ना ताली बजाती है, गीत-नृत्य थम जाता है। जुगनू धीरे धीरे ओझल हो जाते हैं। पवन और सुरभि आलिंगनपाश खोल, यत्न-पूर्वक उठकर अपने अपने स्थानों पर खड़े हो जाते हैं। ओस और किरणें आँखें खोलते हैं। स्टेज पर हलका आसमानी प्रकाश छा जाता है। स्वप्न और कल्पना पृथ्वी पर अवतरित हो सम्राज्ञी का अभिवादन कर गाते हैं। सब लोग आँखें मल मलकर एकटक उनकी ओर देखते हैं। नेपथ्य में बागेश्री की धुन बजती है।]

गीत

शिशुओं के अविकच उर में
हम चिर रहस्य बन रहते!
छाया-वन के गुंजन में
युग युग की गाथा कहते!
अनिमिष तारक पलकों पर
हम भावी का पथ तकते!
नव युग की स्वर्ण कथाएँ
ऊषा अचल पर लिखते!
सीमाएँ बाधा-बंधन,
नि:सीम सदैव विचरते,
हम जगती के नियमों पर
अनियम से शासन करते!
हम मनोलोक से जग में
युग-युग में आते-जाते,
नव-जीवन के ज्वारों में
दिशि पल के पुलिन डुबाते!

स्वप्न और कल्पना — इन मानवीय भावनाओं के वस्त्र पहना एवं मानवीय रूप, रंग और आकार ग्रहण कराकर हमें आपने उन्मुक्त नि:सीम से किस दिव्य प्रयोजन के लिए अवतीर्ण करवाया, सम्राज्ञी! वह कौन सा देव-कार्य है? स्वप्न और कल्पना उसे जानने को उत्सुक हैं।

ज्योत्स्ना — तुम्हारी उत्सुकता स्पृहणीय है। स्वप्न और कल्पने! सुनो, इस बुद्धिवाद के भूलभुलइय में खोयी हुई, जड़वाद, सापेक्षवाद, विकासवाद आदि अनेक वाद विवादों की टेढ़ी मेढ़ी पचीली गलियों में भटकी हुई, नास्तिकता और संदेहवाद से पीड़ित, पशुओं के अनुकरण में लीन मानव-जाति का परित्राण करना है। उसकी आँखों के सामने जीवन का नवीन आदर्श, सौंदय

का नवीन स्वप्न, स्नेह-सहानुभूति एव समत्व का नवीन प्रकाश, सुख और शाति का नवीन स्वर्ग निर्माण करना है। उस प्रेम के अधिक विस्तृत राजमार्ग पर चलना है। धर्मान्धता, रूढ़िप्रियता, प्रेत पूजा, निर्मूल प्रथाओ एव निरर्थक रीति नीतियो के बधनो से मुक्त करना है। उसकी बुद्धि को अधिक सरल, हृदय को अधिक उज्ज्वल बनाना है। उसे जड़ता से चैतन्य की ओर, शरीर से आत्मा की ओर, रूप से भाव की ओर अग्रसर करना है।

स्वप्न कल्पना हमारा आना सार्थक हुआ।

ज्योत्स्ना काव्य, सगीत चित्र, शिल्प द्वारा मनुष्य के सम्मुख जीवन की उन्नत मानवीय मूर्तियो को स्थापित करना है। इसके लिए कौन सी राह सुगम होगी कौन सी पद्धति अचूक होगी, यह तुम लोगो को सोचना है। तुम दोनो मानव जाति के कल्याण एव मुक्ति का द्वार खोलने मे मेरी सहायता करो। तुम्हारी अलौकिक शक्ति, वायवी प्रतिभा एव मायावी आकर्षण के प्रभाव से यह कार्य अधिक सुगमता से सम्पन्न हो सकेगा, इसीलिए मैने तुम्हारा आवाहन किया है।

कल्पना सम्राज्ञी के उन्नत उदार हृदय का परिचय पाकर मै कृतार्थ हुई। समय समय पर मानव जाति के सम्मुख एक-से एक ऊँचे आदर्श रखे गये, पर कोई भी आदर्श उसका सम्पूर्णत परिष्कार नही कर सका। सदैव से मनुष्य मे उसी तरह सद असद प्रिय अप्रिय का सम्मिश्रण रहा है, भले ही उसमे मात्राओ का न्यूनाधिक भेद रहा हो। विगत युगो का मनुष्य मनस्तत्त्व की विवेचना मे अधिक सफल नही हुआ, इसीलिए मनोजगत को अनिर्वचनीय माया आदि अनेक नाम देकर, त्याग विराग की सहायता से अपने को भुलावे मे डाल उसने जीवन को अज्ञान जनित दुख जनित समझ लिया। और अपनी आत्मा के लिए एक काल्पनिक स्वर्ग का इन्द्रजाल निर्मित कर इस जन्म मृत्यु सुख दुख के चिर आलिगन पाश मे बँधी हुई जीवन की कठोर वास्तविकता से छुटकारा पाने के लिए उसने अनेक छाया सत्यो पर अवलम्बित एक मिथ्या आत्म प्रवचना का आश्रय ग्रहण किया। जिस असीम जीवन शक्ति के अमर स्पर्शों से यह चेतना शून्य मिट्टी अनेक रूप रगो मे पुष्पित पल्लवित हो मृत्यु के अन्धकार से चेतना के प्रकाश मे आ, असख्य जीवो एव प्राणियो का सुन्दर आकार प्रकार धारण कर ऐश्वर्यमयी होती रहती है, उसके स्नेह पाश से मुक्त होकर फिर से श्वास को वायु मे, देह को मिट्टी मे मिला देना ही उसका चरम लक्ष्य रहा। इस युग के मनुष्य का ध्यान भूत प्रकृति की ओर गया है। ससार की भौतिक कठिनाइयो से परास्त होकर, उसके दुखो से जर्जर होकर मनुष्य की समस्त शक्ति इस समय केवल बाह्य प्रकृति के अत्याचारो से मुक्ति पाने की ओर लगी है, जिसके लिए

उसने भूत विज्ञान की सृष्टि की है। वह देश काल एव भौतिक शक्तियो को हस्तगत कर रहा है। यह भूत प्रकृति ही उसके कष्टो का कारण है या कुछ और भी, इसका ठीक-ठीक निणय वह अभी नही कर पाया। मानव जीवन के बाह्य क्षेत्रो एव विभागो को सगठित एव सीमित कर, अपने आन्तरिक जीवन के लिए उदासीन होकर मनुष्य अपनी आत्मा के लिए नवीन कारा निर्मित कर रहा है।

स्वप्न (अपनी विस्मित पूण दृष्टि एकत्रित कर) मनुष्य जाति को सदैव से सौन्दय विभ्रम, प्रेम का स्वग, भावनाओ का इन्द्र जाल और दारुण दुगम वास्तविकता का विस्मरण अथवा भुलावा पसन्द रहा है। उसके सूक्ष्म वायवी हृदय तत्व को एव सीमा-हीन आकाक्षाओ को इसी मे परितृप्ति मिलती है। मनुष्य सत्य की ओर आख उठाने मे डरता ही नही, एकदम नग्न सत्य को देख सकने म असमथ भी है। सम्राज्ञी का मनोरथ सहज ही मे सिद्ध हो जाये, यदि मनुष्य के लिए एक और भी अधिक उत्तेजक, मादक, मोहक सूक्ष्म और मार्जित छलना की सष्टि कर दी जाये, जिसके सौन्दय-जाल पर मुग्ध होकर वह विलासिता, कदय पशुता, जडवाद आदि की दासता से मुक्त हो सके। सम्राज्ञी की आज्ञा हो तो मैं अपनी दिव्य वायवी शक्तियो का परिचय दू, और मनुष्य की आखो के सामने एक ऐसे अननुभूत ऐश्वय और स्वर्गीय सौन्दय का अलौकिक इन्द्रजाल उछाल दू कि वह इन्द्रियो की देह से मुक्त होकर एक अभिनव सूक्ष्म शोभा के भावाकाश मे विचरण करने लगे।

ज्योत्स्ना (आशान्वित होकर) उपायो के बार मे तक कर समय खोना ठीक नही, कोई भी उपाय हो, उन्नत और कल्याणकारी हो। समय पर और भी सुन्दर उपाय पदा होते रहते हैं। स्वप्न! मुझे तुम्हारी विश्व मोहिनी शक्ति पर पूरा विश्वास है। मेरे विचारो के प्रचार एव मनोरथो की पूर्ति के लिए तुम जिन उपायो को उचित समझो, स्वतन्त्रतापूवक काम म लाओ। मैं तुम्हे पूण अधिकार देता हूँ।

स्वप्न (प्रफुल्लित होकर) सम्राज्ञी को विजय प्राप्त करने मे विलम्ब नही होगा। मैं अभी कल्पना के साथ दिन भर के काम-काज से श्रान्त एव निद्रा मे निमग्न मनुष्य-जाति के मनोलोक मे प्रवेश कर उसकी पलको मे नवीन स्वप्नो का चित्रपट बुनता हूँ, उसके मन को स्थूल वासनाओ के मोह स मुक्त कर अभिनव सौन्दय, अभिनव सुख, अभिनव सस्कृति के आकाश मे उठा देता हूँ। सम्राज्ञी यहा बैठे बैठे मेरे विश्व विदित सम्मोहन का जादू देखें। मैं अपना मायावी चित्रपट आपके सामने खोले देता हूँ। पलको म स्वप्नो की तरह मानव-जाति का समस्त भविष्य अनेक रहस्य पूण रूपो एव छाया छवियो मे उसमे प्रतिबिम्बित होता रहेगा। (स्वप्न आकाश की ओर

सकेत करता है। ऊपर से एक स्वच्छ पट, परदे की तरह, यवनिका के सामने झूलने लगता है।)

ज्योत्स्ना — मैं आनन्द एव उत्सुकता के साथ तुम्हारी दिव्य प्रतिभा का चमत्कार देखूगी।

स्वप्न-कल्पना — तो आज्ञा दीजिए।

ज्योत्स्ना — अवश्य, तुम जाकर अपना काय आरम्भ करो। शुभ काय शीघ्र हो जान से और भी मोहक बन जाता है।

[सहसा प्रकाश मन्द एव धुधला पड जाता है। तन्द्रालोक का मृदुल, शिथिल, घन अलस वायु चारों ओर व्याप्त होने लगता है, जिसके मधुर सुख स्पर्शों से सब लोग झूम झूमकर अपूव स्वप्नावस्था को प्राप्त हो जाते हैं। जलते हुए नक्षत्रों की तरह अनेक रग बिरगे उज्ज्वल प्रकाश मण्डल आंखो को चकाचौंध कर दश्य पट पर चक्राकार घूमने लगते हैं, जिनसे धीरे धीरे कई आलोक आकृतियां, मनोहर वर्णों की जगमगाहट मे स्वरूप ग्रहण कर परदे पर अवतरित होती हैं। जान पडता है, जसे स्वग का सौन्दय अपने ही उल्लास की अतिशयता से अनेक आलोक निर्झरों मे फूट फूट पडा हो। शनै-शनै ये आकृतियां अधिक स्निग्ध एव स्पष्ट आकार धारण करती हैं। नेपथ्य मे बाजा बजता है, अनेक वाद्यो की मधुर मिश्रित झकारों से समस्त वायु मण्डल, सगीत के श्वास प्रश्वासो से मधुमय हो, गूज उठता है।

स्वप्न और कल्पना सुप्त मनुष्य-जाति के मनोलोक मे प्रवेश कर मनुष्यों मे नवीन सस्कार एव भावनाएं जाग्रत करते हैं। फलत नवयुग का निर्माण करने के लिए मन स्वग से देव बाल और बालाएं प्रकट होकर अनेक मनोरम मानसी प्रतिमाओं का आकार प्रकार ग्रहण कर चित्रपट पर अवतरित होते हैं। ये आकृतियां विविध प्रकार के दिव्य, रमणीय वस्त्रो से विभूषित हैं। कोई बारीक रेशमी रोओं से आच्छादित, कोई किसलयो की लालिमा एव पुष्पो के पराग से परिवत कोई इन्द्रधनुषी छायाभास से मण्डित कोई साझ के विरल जलदों रगीन वाष्पों, अभ्रक के पत्रो एव झिलमिलाती रश्मियों से वेष्टित हैं। कुछ छोटे छोटे बालक एव बालिकाएं नग्नप्राय ह, इनके कन्धो से परो की ओर हलकी फेन की जालिया लिपटी हैं।

इन आकृतियो के पाव फश को नहीं छूते, प्रत्युत, अपने ही हलकेपन के कारण सगीत की उठती गिरती लहरो पर, ताल लय पूवक नत्य करते एव गाते हुए ये ऊपर नीचे तथा एक ओर से दूसरी ओर वाहित होते रहते हैं। इन सजन और पालन शक्तियों मे कुछ के रूप व्यक्त कुछ के अभी अद्धव्यक्त एव अव्यक्त हैं। कुछ के नाम हैं, कुछ के नहीं, उनके लिए अभी शब्द नहीं बने। वे भविष्य मे अपने आकार एव नाम ग्रहण करेंगे।

यह सारा दृश्य चित्रपट पर अंकित टाकी के ढंग का होगा।]

गीत-नृत्य

हम मन स्वग के अधिवासी,
जग जीवन के शुभ-अभिलाषी।
नित विकसित, नित वधित, अचित
युग युग के सुरगण अविनाशी।
हम भक्ति, शक्ति, हम क्षमा, त्याग,
हम सत्य, श्रेय, समताऽनुराग,
हम ऋद्धि सिद्धि, साधना धम
हम श्री, समद्धि, निष्काम कम।
(कुछ श्लक्ष्ण स्वर मे) हम नाम हीन, अस्फुट नवीन,
छवि म विलीन, अति रूप क्षीण।
हम करुणा, ममता, स्नेह, प्रीति
हम विद्या, प्रतिभा, कान्ति, कीर्ति।
हम महिमा, सुषमा ज्ञान ध्यान,
हम चित्र, नृत्य हम काव्य, गान।
लज्जा - सज्जा आशा ऽ भिलाप
क्रीडा विनोद, हम मनोल्लास।
नपथ्य लोक म चिर अदश्य,
नव युग अभिनायक उदभासी।
हम हैं प्रकाश के अमर-पुत्र,
उर उरवासी, मगल आशी।

[गीत नत्य बन्द हो जाने पर, परदे पर प्रतिफलित छायाछवियाँ भाव भगी पूवक मूक नाटय एव भाव नत्य करती हैं।]

ज्योत्स्ना (स्वप्नावेश से उठकर) धन्य है स्वप्न के उवर हृदय और कल्पना की सूक्ष्म सूझ को। मैं इन्ही सजन और पालन शक्तियो का प्रादुभाव एव विकास चाहती हूँ। इनके सम्मोहन म बधकर मनुष्य जाति अपनी तामसी वत्तियो की जघन्यता एव कुरूपता म अवश्य मुक्त हो जायेगी। इस पृथ्वी पर स्वग की विभूतियां अभिसार करन लगेंगी।

सुरभि सम्राज्ञी का स्वप्न सफल होगा, इसम मुझे कुछ भी सन्देह नही।

पवन इन स्वर्गीय शक्तियो का आविर्भाव ससार की मनोभूमि पर अवश्य हो गया है, पर अब यह देखना ह कि मनुष्य की मिट्टी का अन्धकार इन प्रकाश-पुत्रो के रूप रगो को कहा तक ग्रहण कर सकता है। ससार के सैकत-तट पर इन देव दूतो के दिव्य पद चिह्न कब तक ठहर सकते है। पाषाण को प्रतिमा का स्वरूप देकर उसमे जीवन के हाव भाव भर देना सरल है, किन्तु स्वप्नो के वायवी सौन्दय का स्थूल वास्तविकता के पाश मे बाँध देना असम्भव नही, तो दुष्कर अवश्य है। सम्राज्ञी

की कृपा म मुझे इस पृथ्वी पर अनेक नवीन युगों की ध्वजाएँ फहराने का भार सौपा गया है, मैंने पशु प्रवत्तियो की तामसी स तानो को सहज म परास्त होते नही देखा। इस भू लोक के कुछ दाशनिक तो तमोगुण के तिराभाव को असम्भव मानते हैं, और उस सष्टि के विकास के लिए एक आवश्यक उपादान समझते हैं।

सुरभि फिर भी न जाने हृदय क्या चाहता है कि ससार से यह तामसी विनाश उठ जाय, और यह सष्टि प्रेम की पलको मे, अपने हा स्वरूप पर मुग्ध, सौ दय का स्वप्न बन जाय।

[छायाकृतियाँ मूक अभिनय समाप्त कर धीरे धीरे अ तर्धान हो जाती हैं। दश्य पट पर आसमानी प्रकाश, आकाश की तरह फल जाता है और उसमे पुज पुज प्रकाश मण्डलो से अवतरित हो, सौरचक्र के विविध ग्रह, उपग्रह एव नक्षत्र, उज्ज्वल आलोकमयी मानवाकृतियाँ धारण कर सूय के चारो ओर घूमने लगते ह।]

सुरभि वह देखिए सम्राज्ञी! नेत्रो का चकाचौंध करनेवाला सौर-मण्डल का जाज्वल्यमान दश्य!

[नेपथ्य मे गीत वाद्य, प्रकाश मूर्तियाँ ताल लय के अनुरूप, नत्य पूवक, सूय की परिक्रमा करती हुई गाती हैं।]

गीत

चि मय प्रकाश से विश्व उदय
चि मय प्रकाश मे विकसित, लय।
रवि, शशि, ग्रह, उपग्रह तारा चय
अग जग प्रकाशमय हैं निश्चय।

चित शक्ति एक रे जगज्जननि,
धत ज्योति योनि म लोकाशय,
पलते उर म नव जगत सतत,
होते जग जीण उदर म क्षय।

चिर महान द के पुलको से
भर भर नित अगणित लोक निचय,
नाचते शू य म समुल्लसित
बन शत शत सौर चक्र निमय।

अविराम प्रेम परिणय अग जग
परिणीत उभय चि मय मणमय
जड चेतन चेतन जड बन-बन
रचत चिर सृजन प्रलय अभिनय।

उ मुक्त प्रेम की बाँहो म
सुख दुख सदसत होत त मय,
वह विश्वात्मा रे अग जग का
वह अखिल चराचर का समु य।

[शन नन सौरमण्डल का दश्य क्षीण होकर अदश्य हो जाता है। उसके स्थान पर शू य मे घूमता हुआ भूगोल

का दृश्य सामने आता है, जिससे सूर्यातप मे, समुद्र की नील तरगो पर नृत्य करती हुई, अनन्त यौवना, मातृ स्वरूपा पृथ्वी अवतीर्ण होती है। नील अनिल का फहराता हुआ रेशमी दुकूल, विशाल पयोधरो पर हरीतिमा की कचुकी, अगो मे अनेक मणिरत्नालकार, गले मे लम्बी लम्बी उज्ज्वल मोतियो की लडिया, प्रशान्त प्रसन्न आनन, शिर पर बालेन्दु से मण्डित रजत हिमकिरीट, दायें हाथ मे धान की सुनहली बालियाँ बायें हाथ मे सलिल-सुधा से पूर्ण स्वर्ण पात्र। नेपथ्य मे वादन समारोह पूर्वक नाट्य गान।]

गीत

धन्य मात धन्य धात,
धन्य पुत्र सचराचर!
निखिल शस्य पुष्प - निर्झर,
कोटि कोटि, खग, पशु नर,
विविध जाति, वश प्रवर,
पुण्य धूलि - जात अमर!
प्रचुर अन्न बहु जल-फल,
सुरंग वसन भूषण कल,
रजत स्वर्ण रत्न अचल,
धरणि धाम सुर सुखकर!
कलरव, क्रीडा, विनोद,
मुखरित नित अवनि गोद,
प्रिय जग जीवन - प्रमोद
कुसुमित वन, जनपथ घर!
रवि शशि स्मित दिशि मण्डल,
नील - सिंधु चल - मेखल,
हिमगिरि, शत सरित चपल,
तडित - चकित नभ सुंदर!
रजत दिवस, स्वर्ण प्रात,
तारा - शशि खचित रात,
मधुर मरुत मलय जात,
षडऋतु नर्तन मनहर!
पत्नी - पति, भगिनि भ्रात,
दुहिता सुत, पिता मात,
स्नेह - बद्ध सकल तात,
पुरजन, परिजन, सहचर!
सर्वदेश, सर्वकाल,
धर्म जाति वर्ण जाल,
हिलमिल सब हो विशाल,
एक हृदय, अगणित स्वर!

[पृथ्वी के तिरोहित हो जाने पर, परदे पर एक रमणीक उपवन का दृश्य प्रतिफलित होता है, जिसमे भाँति

भाति के फूल एव फलों के वृक्ष शोभा भार से लदे हुए हैं। शाखाओ पर तरह-तरह के पक्षी कुदक कुदककर कलरव कर रहे हैं। इधर उधर हिरनो और पालतू पशुओं के निर्भीक झुण्ड विचर रहे हैं। बीच बीच म छोटे छोटे सुन्दर गह एव पट मण्डप बने हैं। मनोहर वेशो मे सुन्दर स्वस्थ बालक-बालिकाओ और युवक युवतियो के गिरोह उपवन मे टहलते एव कुज वितानो मे क्रीडा कौतुक, आमोद प्रमोद करते, फूल चुनते, हार गूथते, फलो का आस्वादन करते दृष्टिगोचर होते हैं।]

[युवक युवतीगण नृत्य वाद्य-पूर्वक गाते हैं]

गीत

न्योछावर स्वग इसी भू पर,
देवता यही मानव शोभन,
अविराम प्रेम की बाहो म
है मुक्ति यही जीवन बन्धन।
है रे न दिशावधि का मानव,
वह चिर पुराण, वह चिर नूतन,
मानव के हैं सब जाति, वण,
सब धम ज्ञान सस्कृति बल, धन।
मण्मय - प्रदीप मे दीपित हम
शाश्वत प्रकाश की शिखा सुषम,
हम एक ज्योति के दीप अखिल,
ज्योतित जिनसे जग का आगन।
हम पृथ्वी की प्रिय तारावलि,
जीवन वसन्त के मुकुल, सुमन,
सुरभित सुख स गह गह, उपवन
उर उर म पूण प्रेम मधु धन।

[धीरे धीरे उपवन का दृश्य हट जाता है और उसका एक भाग स्पष्ट एव वृहद् आकार मे परदे पर झूलने लगता है।

मौलसिरी की छाया मे हरी भरी दूर्वावृत पृथ्वी पर जाज नामक एक युवक बैठा हुआ उपवन की शोभा देख रहा है, उसकी जांघ पर कुहनी के बल नवयुवती यमुना लेटी है। जाज फीन रग की पोपलीन की कमीज और जांघियाँ पहने हैं। पावों मे उसी रग के रेशमी हूज हैं। यमुना हलकी आसमानी रग की साडी, उससे गहरे रग का जम्पर पहने है। पाँवों मे मखमली जूती हैं।]

सुरभि : वह देखिए सम्राज्ञी! नवीन मानव जाति का एक और दृश्य। जान पडता है उन प्रकाश पुत्रो न विश्व की मनोभूमि पर अवतीर्ण होते ही अपने दिव्य प्रभाव स मनुष्य जाति की सभ्यता म नवीन स्वर्ण युग का समारम्भ कर दिया।

ज्योत्स्ना अब हम लोग चुपचाप रहकर, अनिमष दृष्टि से नवीन युग की मानव-जाति के दस्यो का अनुशीलन करें। देखें ये लोग उन सूक्ष्म सृजन शक्तियों की सात्विक भावनाओं एवं स्वप्न और कल्पना के वायवी सौन्दर्य को किसी सन्तोषजनक मात्रा तक अपने जीवन मे अनुवादित कर सके हैं या नही।

[छायाकृतियाँ वार्तालाप करती हैं।]

यमुना (अपने आप) जॉज, जॉज, जॉज! (जॉज से) जितना ही तुम्हारा नाम रटती हूँ, वह और भी मधुर होता जा रहा है! उसका विदेशीपन न जाने कहाँ खो गया! प्राचीन छोटी मोटी सस्कृतियो ने, दुर्भेद्य दीवारो की तरह उठकर, मनुष्य मनुष्य के बीच, कितना बडा व्यवधान खडा कर दिया था? पवत और समुद्रो को वश करने मे मनुष्य को उतना प्रयास नही करना पडा, जितना उन भिन्न भिन्न धर्म और सस्कृतियो के अमोघ दुर्गों पर विजय प्राप्त करने मे!

जॉज (यमुना का हाथ हाथ मे लेकर) तुम्हारे साँवले रग की तरह मेरे नाम का विदेशीपन भी मानव प्रेम के उन्मुक्त प्रकाश मे घुल गया, यमुने! नही तो ग्वालिनो और गोपियो के सस्कारो से मुखर यमुना आज कुमारी मरियम के दूध से पले एक विदेशी युवक के गले का हार कैसे बन सकती? (हँसता है)

यमुना दुत्—जिन प्राचीन सस्कृतियो के बुझते हुए अगारो से हमारे नवीन प्रकाश की लौ उठी है, उन्हें हमे सम्मान की दृष्टि से देखना चाहिए। नही तो हम जीवन के अखण्डनीय सत्य को नही समझ सकेंगे।

जॉज क्षमा करो, यमुने! मुझे क्या मालूम था कि साँवला प्रेम लोहे की बेडियो की तरह ही कठिन होता है, उसका बन्दी किसी तरह भी मुक्ति नही पा सकता!

यमुना (उसी परिहास को बढाकर) जानते हो, मेरा जन्म बन्दीगृह मे हुआ था! तब मेरी माँ राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के युद्ध मे कारावास भुगत रही थी। तुम्हारे पिता ने ही उन्हें कैद किया था। माँ की मृत्यु के साथ ही मैं देश, जाति और धर्म की कारा से मुक्ति पा गयी! सलीम के प्रेम की धारा ने मेरे हृदय को चारो ओर से टापू की तरह घेरकर मेरा सम्बन्ध समस्त प्राचीन रूढियो के जगत् से विच्छिन्न कर दिया। हमारे विद्यार्थी-जीवन मे ही वह प्रेम का स्रोत उदगत हो गया था। सलीम की अकाल मृत्यु हो जाने पर मुझे जान पडा कि मेरे चारो ओर बालू की सूनी बेला ही शेष रह गयी है! (आह भरती है) सलीम का वह सुन्दर मुख अब भी मेरी आँखो मे घूमने लगता है! (उदास हो जाती है)

जाज (उसके गाल पर थपकी देकर) मृत्यु को मुर्दों के लिए ही रहने दो, यमुने! (यमुना का जी बहलाने के लिए गुनगुनाता है)

जीवन की लहर-लहर से
हँस खेल खेल रे नाविक !
जीवन के अंतस्तल में
नित बूड़ बूड़ रे भाविक !

यमुना (अपने को सँभालकर) हाँ तो उन्हीं दिनों तुम, न जाने, उस बालू में भटकते हुए प्यासे हिरन की तरह कहाँ से मेरे पास पहुँच गये, तुमसे मिलने पर मेरे हृदय में जीवन की नवीन बाढ़ उमगें लेने लगी। (हँसती हुई) और मैंने भी तुम्हारे पिता की लोहे की बेड़ियों का बदला तुम्हें सोने की बेड़ियों में बाँधकर लेना निश्चय कर लिया!

जॉर्ज (यमुना के गाल पर हल्की सी चपत मारकर) ऊँह उन पुरानी स्मृतियों के प्रेतों को आँखों के सामने मत आने दो! पिछले युग के संकीर्ण आकाश में जो जाति विद्रोह का घना कुहासा छाया हुआ था, वह अब लुप्त हो गया! मानव प्रेम के नवीन प्रकाश में राष्ट्रीयता, अंतर्राष्ट्रीयता, जाति और वर्ण के भूत प्रेत सदैव के लिए तिरोहित हो गए हैं। इस समय देश जाति के बंधनों से मुक्त मनुष्य केवल मनुष्य है। स्त्री पुरुष का सम्बन्ध भी अब पाँवों की बेड़ी या जीवन का बंधन नहीं रहा। वह एक स्वाभाविक आत्मसमर्पण और जीवन की मुक्ति बन गया है। निरन्तर साहचर्य, परस्पर सद्भाव एवं सह शिक्षा के कारण आधुनिक युवक-युवती का प्रेम देह की दुर्बलता न रहकर हृदय का बल एवं मन का संयम बन गया है।

[सात साल के, मातृ पितृ हीन, हँसमुख बालक, मुहम्मद का हाथ पकड़े मलमल की गुलाबी साड़ी पहने गुलाब का फूल सूँघते, विधवा युवती 'रोज' का प्रवेश, जार्ज और यमुना उसका स्वागत करते हैं। यमुना मुहम्मद की बाँहें पकड़कर उसे जोर से हिलाती है, बालक खिलखिलाकर हँस पड़ता है। सब लोग बैठते हैं।]

यमुना प्रसन्नता ही बच्चों का स्वास्थ्य और सौन्दर्य है। स्नेह के छाया की देख रेख बच्चों के सम्यक और स्वाभाविक विकास के लिए कितनी आवश्यक है यह मुझे तुम्हारे मुहम्मद को देखने से मालूम हुआ, रोज! वास्तव में, प्रेम का प्रकाश ही प्रसन्नता है!

रोज (मुहम्मद को गोद में बिठाकर) दो साल हुए जब अनुल मुझे छोड़कर संसार से चल बसा, तो मुझे यह मुहम्मद मिल गया। इसके माँ बाप हमारे पड़ोसी थे। उनकी मृत्यु हो जाने पर इसे मैंने ले लिया (फूल सूँघती है)

मुहम्मद (हाथ बढ़ाकर) यह गुलाब का फूल हम लेंगे, मम्मी!

रोज लो, (फूल देती है) जाओ दौड़कर सामने की झाड़ी में अपने लिए और फूल तोड़ लाओ। देखो, हाथ में काँटा न लगने पाये।

मुहम्मद हाथ मे काटा क्यो लगेगा ? मैं नही लगने दूगा, मम्मी !

[मुहम्मद प्रसन्नता से कुदकता हुआ फूल लेने जाता है।]

यमुना तुम ता अभी बिल्कुल बच्ची हो, रोज ! क्या उम्र है ?

रोज बाईसवाँ साल होगा।

जाज अकेले जी लग जाता है ? प्रकाश तो आपको बहुत चाहता है, आपकी सौ दय-प्रियता और मुक्त हृदय की बडी प्रशसा करता था।

रोज हा, बडे ही मधुर स्वभाव के आदमी है। आजकल स ध्या को प्राय नित्य ही मेरे यहा आ जाते हैं। वे दूसरी शादी करना चाहते है। मैं आयशा को उनसे मिलाऊँगी। अगर मैं उन्हे ठीक ठीक समझ सकी हूँ, तो आयशा के साथ वे बहुत सुखी होगे।

यमुना और तुम ?

रोज (हँसती है) मेरा तो शादी करने को अब जी नही करता, बहन ! अतुल का प्रभाव मेरे हृदय मे इतना अधिक है कि पूव प्रेम की स्मति मेरे हृदय म काफी आनन्द, सजीवता और स्फूर्ति पैदा करती रहती है।

यमुना तुम छुटपन से ही ऐसी भाव प्रवण रही हो।

रोज और फिर बहन ! समय भी नही मिलता। बहुत सा समय अस्पताल मे बीमारो को नस करने मे चला जाता है, उसका मुझे बेहद शौक है। फिर पडोसियो के बच्चे आ जाते है उनके छाटे मोटे काम रहत है। मुहम्मद तो उन सबका राजा बन बैठा है इसे वे छोडत ही नही। (मुहम्मद को आते देखकर) वह देखो, ढेर के ढेर फूल तोड लाया है।

जार्ज मानव स्वभाव से आदर्शों की तुलना करने पर, जान पडता है कि आदर्शों को सबके लिए बन्धन-स्वरूप बना देने पर वे अपना मूल्य खो बैठते है। उनमे, स्वभाव का विकास होने के बदले ह्रास होन लगता है। हमारे युग की एक विशेपता यह भी है कि आदश स्वभाव के अनुरूप चलते हैं। तुम और रोज इसका प्रत्यक्ष उदाहरण हो, यमुने !

[छाती और बाहों के बीच ढेर-ढेर फूलो को दबाये मुहम्मद का प्रवेश ! मुहम्मद फूलो को यमुना के पाँवों के पास डाल देता है। रोज उसके जाँघिए और कमीज के बटन दुरुस्त करती है। यमुना फूलो के दो छोटे छोटे गुलदस्ते बना देती है। मुहम्मद बचे हुए फूलो को नोच नोचकर बिखरा देता है।]

रोज (हँसकर) इसी तरह बिगाड बिगाडकर बच्चे बनाना सीखत हैं।

[नेपथ्य से सगीत ध्वनि सुनायी पडती है। भिन्न भिन्न देशो के बाल वद्ध युवक युवतीगण, सुरंग सुरुचिपूण वेशो मे पुष्पो से एक दूसरे को अलकृत करते, आमोद प्रमोद पूवक वसन्तोत्सव मनाते हुए एक ओर से प्रवेश कर गीत

नृत्य करते हैं। यमुना, रोज, जॉर्ज और मुहम्मद भी उनमें मिल जाते हैं।]

नृत्य गीत

जग-जीवन नित नव-नव,
प्रतिदिन, प्रतिक्षण उत्सव!
जीवन शाश्वत वसंत,
अगणित कलि कुसुम वृन्त,
सौरभ सुख श्री अनंत,
पल-पल नव प्रलय प्रभव!
रवि शशि ग्रह चिर हर्षित
जल स्थल दिशि समुल्लसित,
निखिल कुसुम कलि सस्मित,
मुदित सकल हो मानव!
आशा, इच्छानुराग,
हो प्रतीति शक्ति त्याग,
उर-उर में प्रेम-आग,
प्रेम स्वर्ग मर्त्य-विभव!

(सबका गाते गाते प्रस्थान)

[वयोनुकूल, अचपल रंगों के वस्त्र पहने सुंदर सुधीर वेशों में कुछ प्रौढ़ वयस्क विद्वान् और विदुषियों का टहलते एवं वाद विवाद करते हुए प्रवेश।]

वेदव्रत प्रत्येक युग के सामने एक गूढ़ प्रश्न रहता है, जिस ओर उस युग की समस्त ज्ञान विज्ञान की नाड़ियाँ प्रधावित रहती हैं। पिछला युग भी अपवाद नहीं था। अपने समय की गंभीर समस्याओं को सुलझाकर ही प्रत्येक युग का विजेता मनुष्य एक पग आगे उन्नति कर अपने पराक्रम से अर्जित नवीन विभवों का उपभोग करता है। जिस प्रकार पूर्व की प्राचीन सभ्यता अपने एकांगी आध्यात्मिक तत्त्वालोचन के दुष्परिणाम स्वरूप, काल्पनिक मुक्ति के फेर में फँसकर, नाम रूप पर स्थित जन समाज की ऐहिक उन्नति के लिए बाधक हुई एवं जीवन के प्रति मनुष्य के हृदय में विरक्ति पैदा कर गयी, उसी प्रकार अभी पिछली पश्चिमी सभ्यता एकांगी जड़वाद के दुष्परिणाम-स्वरूप विकासवाद, प्रकृतिवाद एवं जड़विज्ञान के फेर में पड़कर, नाम रूप के संसार के प्रति अतिशय आसक्ति पैदा कर, अर्थ लोलुपता, इंद्रिय प्रियता, पशु बल एवं विनाश के दलदल में डूब गयी। एक संकलनात्मक बुद्धि का दुष्परिणाम था, तो दूसरा विश्लेषणात्मक बुद्धि का दुष्फल। उन दोनों सभ्यताओं के संघर्ष से ही हमारे नवीन युग का जन्म हुआ। पाश्चात्य जड़वाद की मांसल प्रतिमा में पूर्व के अध्यात्म प्रकाश की आत्मा भर एवं अध्यात्मवाद के अस्थि पंजर में मूर्त तथा जड़विज्ञान के रूप रंग भर हमने नवीन युग की सापेक्षतः परिपूर्ण मूर्ति का निर्माण किया।

उसी पूर्ण मूर्ति में विविध अंग-स्वरूप पिछले युग के अनेक वाद विवाद यथोचित रूप ग्रहण कर सके हैं।

रावट इसीलिए इस युग का मनुष्य न पूर्व का रह गया है, न पश्चिम का, पूर्व और पश्चिम दोनों ही मनुष्य के बन गये हैं।

सुलेमान (मनोवैज्ञानिक) आप बहुत ठीक कहते हैं मिस्टर वेदव्रत! किन्तु पिछले युग के तानों-बानों को सुलझाने एवं नवीन युग का पट निर्माण करने में मनोविज्ञान के विकास ने सबसे अधिक मदद दी, हम यह नहीं भूल जाना चाहिए। अज्ञात काल से जन समाज के मन प्रवाह में बहते हुए, कुल गोत्र-हीन निर्जीव विचारों के कदम न जमा होकर, मानव-जीवन के स्रोत को शत शत क्षीण धाराओं में विभक्त कर गति-हीन एवं पंगु बना दिया था! पिछले युग के मनुष्य के हृदय पर मृतकाल के आकर्षण का इतना भयंकर भार रहा है कि उसकी समस्त विकास प्रिय प्रवृत्तियाँ अधोमुखी हो गयी थीं। प्राचीन निर्मूल सभ्यताओं की इतिहास भूमि से उखड़े हुए, निरर्थक, जीर्ण शीर्ण आदर्शों विचारों एवं रूढ़ियों के शुष्क ठूठ, अपने ही अपरिचय के अन्धकार में, किमाकार मृत प्रेता एवं नराकृति कंकालों की तरह सिर उठाकर, अपने अस्पष्ट, अर्थ हीन, मूक इंगितों में मानव समाज को भयभीत और कर्तव्य विमूढ़ बनाते रहे। पिछले युग का इतिहास, एक प्रकार से, उन्हीं प्राचीन लुप्तप्राय संस्कृतियों के मरणोन्मुख प्रेतों से मानव मुक्ति के विकट युद्ध का इतिहास है! विचारों के ऐतिहासिक अनुशीलन एवं मनोवैज्ञानिक विवेचन से हमें कम से-कम यह तो प्रत्यक्ष हो गया कि संसार की भिन्न भिन्न सभ्यताओं एवं संस्कृतियों के स्वर्गवासी देवी देवता एवं नरक वासी राक्षस गण जो हमारे आधुनिक युग की किशोरावस्था में मनुष्यों पर आतंक जमाते रहे हैं, केवल मनुष्य के मनो जगत में व्याप्त सद एवं असद प्रवृत्तियों के कल्पित स्वरूप एवं चित्र मात्र हैं। कला की दृष्टि से भले ही उनका कुछ मूल्य हो! हमारे सत्य की उपासना ने अब अपना स्वरूप बदल दिया है। हम यह जान गये हैं कि जो सत्य मानव-जीवन एवं मानव जाति के लिए कल्याणकारी नहीं जो उसकी शारीरिक मानसिक, आत्मिक एवं लौकिक उन्नति का समग्र रूप से पोषक नहीं, वह सत्य मानवीय सत्य नहीं हो सकता। फलतः हम जन समाज के कल्याण की दृष्टि से अपनी प्रवृत्तियों का अच्छा बुरा मूल्य आंक सकते हैं। जिस प्रकार समस्त जीवन सत्य पर अवलम्बित है, उसी प्रकार समस्त सत्य जीवन पर। सत्य जीवन के बाहर नहीं मिल सकता।

वेदव्रत इसमें क्या सन्देह यह अन्योन्याश्रय का भाव समस्त ब्रह्माण्ड में व्याप्त है।

मेरी मैं भी आपसे सहमत हूँ सुलेमान भाई! त्याग विराग अहिंसा क्षमा, दया आदि अनेक आदर्शों को धार्मिक प्रवृत्ति

वे लोग पहले से निरपेक्ष सत्य समझते आये हैं। इसलिए उनका धर्म मनुष्यों का धर्म न बनकर आदर्शों का धर्म बन गया। अपने आदर्शों के लिए उनकी अपार सहिष्णुता देखकर हम आश्चर्य चकित रह जाते हैं। जीवन की सम्पूर्णता से मानव-जीवन को विच्छिन्न कर हम ऊँचे से-ऊँचे आदर्श की ओर भी अग्रसर हों तो वह अन्त में अर्थ शून्य एवं सारहीन हो जाता है। मानव जीवन का सत्य सापेक्ष है। त्याग और भोग एक दूसरे को साधक करते हैं। इसी समत्व पर सत्य अवलम्बित है।

हेनरी मैं आप लोगों से मतभेद रखता हूँ। जीवन सत्य पर अवश्य अवलम्बित है, पर सत्य अपने ही में स्थित, निरवलम्ब, निराधार है इसीलिए वह सत्य है। हाँ, लौकिक सत्य एवं लोक-जीवन अवश्य एक-दूसरे के आश्रित हैं। एक बात और है, नवीन आदर्शों का जन्म होने एवं व्यवहार में आने से पहले, अथवा लोक समाज का बाह्य विकास होने के पूर्व ही उसकी मानसिक अवस्था में एक आन्तरिक परिवर्तन पैदा हो जाता है। इसे चाहे आप सूक्ष्म परिवर्तन कहिए, चाहे अन्तर्गत, विश्वगत या आध्यात्मिक परिवर्तन कहिए। लेकिन मनोजगत या मनस्तत्त्व स्वयं ही एक सूक्ष्म आन्तरिक विकास के कारण बदल जाता है, इसमें सन्देह नहीं।

सुलेमान (रोककर) क्या वह बदलाव सदैव विकास ही के लिए होता है?

हेनरी समष्टि रूप में, हाँ,— लेकिन इस प्रश्न को इस समय छोड़ दीजिए। क्योंकि जिस आध्यात्मिक मनोवैज्ञानिक (meta psychological) दृष्टिकोण का इस युग में विकास होने लगा है, मैं इस समय केवल उसी को लक्ष्य करके बातें कर रहा हूँ। पिछले युग का मनोविज्ञान मन की सीमाओं में बंधे रहने के कारण अधूरा था। एक आध्यात्मिक नियम के वशवर्ती होने के कारण मनस्तत्त्व स्वयं ही परिवर्तनशील है, उसका स्वभाव (Quality) ही बदल सकता है, इस तथ्य का आभास पा लेने से, आधुनिक युग के मन की आधिभौतिक सीमाएँ तोड़कर उसे एक विस्तृत प्रकाश-पूर्ण आधिदैविक भूमि पर रख दिया है। यह उसकी सर्वोपरि विजय है।

सुलेमान आप दार्शनिक हैं, इन जटिल पहेलियों को आप ही समझ सकते हैं।

हेनरी (नम्रतापूर्वक) विषय दुरूह होने के कारण मेरी बातें कठिन हो गयी मुझे खेद है। राग विराग, त्याग भोग के बारे में भी जो कुछ आप कह रहे थे वह एकांगी सत्य था, क्योंकि सभी वृत्तियाँ, समस्त प्राकृतिक विकार अक्षय हैं उनका एक सार्वकालिक मूल्य भी है। प्रवृत्ति निवृत्ति मार्ग ((Positive negative attitudes) सदैव ही रहेंगे, दोनों ही अपने अपने स्थान पर साधक हैं। पहला भोक्ता के लिए, दूसरा द्रष्टा के

लिए जिसे ज्ञान प्राप्त करना है।

वेदव्रत आपने जीवन के दोनों छोरों को अपने अध्यात्मज्ञान के पुल से जोड़ दिया है। चलिए, आगे चलकर तालाब के किनारे बेंच पर बैठें।

हेनरी चलिए। (सबका प्रस्थान)

[अन्न वस्त्र की चिन्ता से मुक्त स्वस्थ, साक्षर सिद्ध कृषकों, श्रम जीवियों एवं व्यवसायियों के नर नारियों एवं बालक-बालिकाओं का चटकीले रंगों के वस्त्र पहने गीत, वाद्य, नृत्य, व्यंग्य, विनोदपूर्वक वसन्तोत्सव मनाते हुए धीरे-धीरे प्रवेश।]

गीत

गूंजे जय ध्वनि से आसमान—
'सब मानव मानव हैं समान!'
निज कौशल, मति, इच्छानुकूल
सब कर्म निरत हों भेद भूल,
बंधुत्व भाव ही विश्व मूल,
सब एक राष्ट्र के उपादान! गूंजे०
लोकोन्नति का हो खुला द्वार,
पथ दर्शक सबका सदाचार
हों मुक्त कर्म, वाणी, विचार,
हों श्रेय प्रेय रे एक प्राण! गूंजे०
हो सहज स्नेह संस्कृत स्वभाव,
उर में उमंग, उत्साह, चाव,
धन अन्न वस्त्र का मुक्त स्राव
हो एक विश्व जीवन महान! गूंजे०
सब श्रम, उद्यम गौरव प्रधान
सब कर्मों का हो उचित मान
सब कण्ठों में हो एक गान—
मानव मानव सब हैं समान! गूंजे०
(गाते गाते प्रस्थान)

[गरिमा पूर्ण वेशों में कुछ शान्त स्निग्ध शारदाकृति, शासन और शिक्षा विभाग के अधिकारियों का विविध विषयों की चर्चा करते हुए प्रवेश।]

मि०मेरिस सभ्यता के विकास के साथ ही मनुष्य सदैव से नियंत्रण एवं शासन का पक्षपाती रहा है। राजनीतिक बंधन ही नहीं, नैतिक, सामाजिक, मानसिक, कायिक अनेक शृंखलाओं में अपने को बाँधकर मनुष्य ने मिथ्या के अनियमों एवं स्वभाव के विद्रोह से मुक्ति पायी है। लोक समाज की वह आदर्श स्थिति जिसमें उस शासन की आवश्यकता न रहे, ऐतिहासिक कल्पना मात्र है। इसका यही अर्थ हो सकता है कि या तो मानव समाज का चरम विकास हो गया है, या उसका आगे को विकास होना रुक गया है। चूँकि फिर उसे विकास

ही का नाम जीवन है, दोना ही परिणाम असम्भव हैं।

मि० माथुर समस्त विश्व सत्य और सदाचार के नियमा स ासित है, मनुष्य अपवाद होकर नही रह सकता। विगत युग म शासक और शासितो मे सामजस्य नही रहा, क्योकि वह सत्य और सदाचार का नही, शक्ति और स्वत्वाधिकार के शासन का युग था। राज्यतन्त्र, प्रजातन्त्र, लोकतन्त्र आदि सभी प्रकार के शासन, सत्य एव सदाचार के अभाव म, केन्द्र भ्रष्ट एव लक्ष्य-हीन हो गय थे। जिस सामजस्य की लय मे समग्र सौरचक्र नृत्य करता है, उसस विद्रोह कर, मानो समस्त ग्रह, उपग्रह और नक्षत्र, अपनी अपनी शक्ति एव स्वत्वो को ध्येय बना भिन्न-भिन्न वर्गों मे विभक्त हो, एक-दूसरे पर विजय पाने की लालसा के प्रलयावत मे, ताण्डव-नृत्य करने लगे थे। इसीलिए राज्यवादी शक्ति-उन्मद, पदासक्त शासनाधिकारियो के रूप मे विकृत हो गया।

मि० नीलरतन और यही दशा प्रजातन्त्र और लोकतन्त्रो की हुई। जिस प्रकार समुद्र की मुखर लहरें, असख्य स्वरूप एव स्वरो की स्वतन्त्रता पा लेने पर भी समुद्र के अतस्तल की अनन्त शान्ति की वाणी नही दे सकती, उसी प्रकार अपने ही को समझने मे अक्षम अशिक्षा-पीडित, भिन्न-भिन्न स्वार्थों के झोको के वश उठते, गिरते, मिलते, बिछुडते लोक समूह भी शान्ति के स्थापन एव अपने ही एकान्त-श्रय के सरक्षण म असफल प्रमाणित हुए। बाजे के समस्त पर्दो को एक साथ ही दबा देने से, या कुछ चुन चुन पर्दो पर बेसिलसिले हाथ फेर देने स ही राग का जन्म नही होता, राग के अनुरूप परदों को बजाने से ही राग का स्वरूप प्रकट हो सकता है। इसी प्रकार चाहे राज्यतन्त्र हो अथवा प्रजातन्त्र मानव सत्य के नियमो से परिचालित होने पर ही वे मनुष्य-जाति की सुख समृद्धि के पोषक बन सकते हैं। सच तो यह है, मनुष्य को शासन पद्धति अथवा उसके नियमो का आविष्कार नही करना है, उस केवल सत्य की जिस शासन प्रणाली से समस्त विश्व चलता है, उसका अन्वेषण कर, उसे पहचान भर लेना है। गत युग अपने को बाह्य सामजस्य देने की चेष्टा करता रहा, जब कि उसे एकमात्र आन्तरिक सामजस्य स्थापित करने की आवश्यकता थी।

मि० सुबोध शायद वह आन्तरिक विरोधो को एकदम मिटा सकने मे तब असमर्थ था उसके लिए समय की प्रतीक्षा आवश्यक थी।

मि० खेर उस युग का सबसे विकट परिणाम समाजवाद का वह स्वरूप था जो मनुष्य को समाज के गज के बौने गिरहो एव इचो मे सीमित कर देना चाहता था। मानव आत्मा की वह प्रवृत्ति जो अपनी स्वार्थ की गिरह खोलकर, समाज के बौने गज से आगे बढकर, *मानव सत्य का मापदण्ड बन जाना* चाहती है उसके विकास के लिए समाजवाद मे उपयुक्त

साधन एव सुविधाग्रा का एकदम अभाव था। जिस प्रकार व्यक्ति समाज का मान नही हो सका उसी प्रकार समाज भी व्यक्ति का मान नही बन सकता। हमारे सामाजिक एव वैयक्तिक आदर्शों का वैषम्य एव विभिन्नता इसका ज्वलन्त प्रमाण है। समाज एव व्यक्ति मे सामजस्य स्थापित करना ही होगा।

सुश्री कमला हमारे युग मे शासकों का जनता के प्रति जो सेवकों का सा भाव है यह लोक मनोविज्ञान की चरम परिणति का स्वरूप हमारे युग की सबसे बड़ी विशेषता है। इसस शासक शासितो के बीच भेद-भाव का अभ्युदय एव विद्रोह नही रह गया। अधिकारो का उपभोग ही पिछले युग के शासकों का पातक रहा है। हमारा शासक वग शासन के बाह्य रूप रगो से लुब्ध न होकर एव शासन नीति को हृदय की पवित्र वस्तु मानकर जनता के हृदय म व्यवधान ही खडा नही होने देता। मनुष्य जाति का समस्त बाह्य भेदो से ऊपर उठकर अपने हृदय को अक्षुण्ण देखने की आवश्यकता है। हृदय के अवलम्बन पर ही इस युग मे मानव-स्वभाव की दुबलताओ दोषो एव पातकों के लिए अत्यन्त क्षमा पूण दष्टिकोण हो गया है। हमारा दण्ड विधान मानव सदभावो का घातक नहीं। हमारे कारागार सबसे बडे शिक्षालय हैं, इसीलिए उन्हे अब शिक्षागार कहते है। हम दण्ड के बदले चारित्रिक शिक्षा देते हैं।

मि०रहमान वास्तव मे हमारे युग का हृदय हमारा शिक्षा विभाग है। नवयुवक और नवयुवतिया मे उच्च मानवीय आदर्शों एव विश्वजनीन भावो का पूण विकास हो सके, उनके हृदय मानव प्रेम के मधु मे एव सदाचार के सौरभ से ओत प्रोत भर जायें—इसी ओर हमारी सबसे अधिक शक्ति झुकी है। शिक्षा हृदय की साधना है। ज्ञान पद्म के मूल हृदय के सरोवर मे हैं। बुद्धि स जान लेना नही। हमारी समस्त चेष्टा इस ओर रहती है कि हमारे विद्यार्थी बुद्धि द्वारा जिस सत्य के दशनमात्र करते हैं, उस हृदय की अविराम साधना से अपने मे साकार कर लें। वे अपने ज्ञान की सजीव मूर्ति बन जाय। उनके हृदय की समस्त शक्ति भावनाओ की समस्त शिराएँ उनके ज्ञान को खीचकर, उनमे सत्य का बोध ही नही, सत्य का प्रेम अकुरित कर दें।

सुश्री कमला आपका कहना अक्षरश सत्य है। हृदय की शिक्षा म ही हमारी विश्व सस्कृति के, मानव प्रेम के एव समस्त जीव कल्याण के मूल अन्तर्हित हैं। जो शिक्षा हमारे हृदय के कपाट खोलकर मनुष्य के भीतर विश्व प्रेम की उन्मुक्त वायु नही भर सकती, वह शिक्षा हमारे सत्य की कुजी नही हो सकती।

मि०रहमान चलिए न, हमारे विद्यार्थियो मे स बहुत स युवक और

युवतियाँ यहाँ वसन्तोत्सव में आये हुए हैं। आप लोग वि
में सच्ची शिक्षा के प्रभाव से क्या हो गए हैं!

सब लोग (प्रसन्नतापूर्वक) चलिए, चलिए।

(सबका प्रस्थान)

[सुभग सुरंग वेश पूर्ण युवक-युवतियों के गिरोह के साथ, जिसमें कुछ कवि कवयित्री, चित्रकार, कलाविद एवं साहित्य ममज्ञ हैं कवि कुमार का मधुर भाव स्तुत स्वर में कविता गान करते हुए प्रवेश कुछ युवक-युवतियाँ कोमल ... स्वर में कुमार के पदों को दुहराते आ रहे हैं। कुछ कवि के भाव विलास एवं शब्द विलास की प्रशंसा कर रहे हैं। कुमार गोरा लम्बा इकहरे बदन का युवक है। लम्बे सुनहले, घुंघराले बाल खुले गले का ढीला, लम्बा सफेद रेशमी कुरता, चौड़े मोहरे का रेशमी पायजामा, कमर में आसमानी रंग की रेशमी डोरी खूबसूरती से बँधी लटक रही है, बायीं कलाई में जूही की माला लिपटी, पाँव में मखमली जूता।]

गीत

निर्भय हो, निर्भय मानव।
निर्भीक - विचर पृथ्वी पर,
विचलित मत हो विघ्नों से,
निज आत्मा पर रह निर्भर।
है पूर्ण सत्य अविनश्वर,
है पूर्ण सत्य रे नश्वर,
है पूर्ण, सत्य यह मानव
है पूर्ण निखिल सचराचर।
मत हो विरक्त जीवन से
अनुरक्त न हो जीवन पर,
जग परिधि मात्र जीवन की,
स्थित केन्द्र अमर उर भीतर।
बन शान्त धीर क्षमतामय,
बन स्नेही, सहृदय सहचर,
गुण दोष युक्त जग जीवन,
निज गुण से पर अवगुण हर।
करती नित घृणा घृणा से,
तू उस प्रेम से दे भर,
है दीप दीप से जलता
है प्रेम प्रेम पर निर्भर।
निश्चय आत्मा है अक्षय,
निश्चय मन्मय तन नश्वर,
यह जीवन चक्र चिरन्तन,
तू हँस हँस जी, हँस हँस मर!

[गीत समाप्त होने पर सब लोग प्रशंसा सूचक ध्वनि

करते हुए दूर्वादल पर बैठ जाते हैं।]

कुसुम (फूलों की माला गूंथती एवं 'निश्चय आत्मा है अक्षय' पद दुहराती हुई) जन्म-मरण के प्रति यह भाव है तो सत्य, किन्तु जीवन के इन रूप-रंगों एवं सौंदर्योपभोग के अतप्त सुख के लाभ को छोड़कर, हँसते हँसते मृत्यु के कंकाल का आलिंगन करने की कल्पना बड़ी कठिन जान पड़ती है।

कुमार (कुसुम की अलकों में छिपे गुलाब मुकुल को बाहर निकालते हुए) तुम जीती जागती कविता हो, प्रिय कुसुम ! जीवन का समस्त माधुर्य एवं प्रेम तुम्हारे लावण्य में सजीव हो उठा है। तुम्हारे मधुर स्वर में सृजन संगीत झंकृत हो उठता है। तुम्हारी इन नील अकूल आंखों के सौंदर्य पर काल पलक की तरह अनिमेष एवं मुग्ध होकर अपनी गति भूल जाता है। तुम्हें मृत्यु का भय नहीं प्यारी कुसुम ! तुम्हारे प्रेम पाश में बँधकर मरण भी जीवित हो उठेगा। वह कंकाल का प्रेमी न रहकर तुम्हारे इस रूप रंग का प्रेमी बन जायेगा।

[कुछ चित्रकार कुसुम की रूप रेखा अंकित कर रहे हैं।]

सतीश (रेखाएं खींचता हुआ कुसुम से) आपकी यति हीन रेखाओं से खिंचकर प्रत्येक मनुष्य चित्रकार बन सकता है। मधुर झंकारों की तरह परस्पर लय होती हुई आपकी रेखाओं का सामंजस्य तूलिका से संगीत की सृष्टि करने लगता है। रंग जीवन का स्पंदन पाकर सजीव हो उठते हैं, और छाया प्रकाश की संगति रूप से सौंदर्य की तरह निखर उठती है।

[फिर चित्र बनाने में लीन हो जाता है]

कुसुम (हँसती हुई) मैं भी अपने को आपकी आंखों से देख सकती !

कुमार कुसुम ! जन्म मरण, सुख दुख जीवन के बाह्य विरोधों एवं प्रतीप आविर्भावों के बीच मनुष्य को अपनी सहज बुद्धि से काम लेकर, एक बार सामंजस्य स्थापित करना ही पड़ता है। मनुष्य के आधे से अधिक असंतोष का कारण बुद्धिजन्य है। जीवन के सम्यक ज्ञान में ही जीवन का सम्यक उपयोग हो सकता है। समस्त विरोधों के भीतर जीवन की अविच्छिन्न एकता खोजकर उस पर हृदय केंद्रित कर लेना होता है। तब मनुष्य जीवन के उस चरम सूत्र को ग्रहण कर लेता है जिसके छोरों में बँधे सुख दुख, जन्म मरण आदि द्वंद्व, तुला के पलड़ों की तरह, उठते गिरते रहते हैं।

[कुसुम गम्भीर हो जाती है।]

इसी चरम सत्य के दर्शन कराना, अनेकता में जीवन की एकता का आभास दिखाना कवि, चित्रक एवं कलाकार का काम है। और, यही कला का सौंदर्य है। मुट्ठी भर धूल में कला समस्त ब्रह्माण्ड के दर्शन करा देती है। अनेकता के असमंजस में खोये हुए हृदय को एकत्रित कर कला उसे मनुष्य की आत्मा में केंद्रित कर देती है। जीवन के विराट वैचित्र्य के ताने-बाने सुलझाकर, उसे सरल सुगम बनाकर

एक ही सूत्र म उसे मनुष्य के हाथ म दे देती है ।
कुसुम मैं यही सरलता की मुक्ति चाहती हूँ ।
कुमार हम जीवन को सार रूप मे ग्रहण कर सकते हैं, ससार रूप मे नही । जीवन के इस सार म, सत्य के इस सारत्य स, मनुष्य को मिलाकर, कला उस सबसे मिला देती है । यही सत्य का एकत्व काव्य का लोकोत्तरानन्द रस है ।
एलफ्रेड विगत युग मे, कला को कला के लिए महत्त्व देते आये हैं । अब हम जानते हैं कि कला सत्य नही, जीवन ही सत्य है । कला म जो कुछ सत्य है वह उसके जीवन की परछायी होने के कारण । कलाकार या कवि जीवन को विश्व के आविर्भाव रूप मे ही सीमित नही रखता, वह उसके दर्शन समस्त विश्व म व्याप्त जीवन के सत्य स्वरूप म करता है । सत्य ज्वाला है उसके स्पर्श स समस्त भेद भावो के विरोध भस्म हो जाते है । कला अपना अस्तित्व जीवन मे लय कर जब तक उसस तदाकार नही हो जाती उसके मूर्त हाथ सत्य की ज्वाला को नही पकड सकते । सर्वोच्च कलाकार वह है जो कला के कृत्रिम पट मे जीवन की निर्जीव प्रतिकृतिया का निर्माण करने के बदले अस्थि-मास की इन सजीव प्रतिमाओ म अपने हृदय से सत्य की सासेँ भरता है, उन्ह सम्पूर्णता का सौन्दय प्रदान करता है, उनके हृदय प्रदीप को जीवन के प्रेम स दीप्त कर देता है ।
कुमार आप ठीक कहते है । दार्शनिक जिस सत्य के दर्शन प्रज्ञा द्वारा करता है, कवि को उस सत्य को हृदय म खीचकर सजीव कर देना होता है, उसे अपन जीवन म परिणत कर देना पडता है, उस सत्य की मूर्ति बन जाना पडता है । सच्चा कवि वह है, जो अपने सजन प्रेम से अपना निर्माण कर सकता है । अपन को जीवन के सत्य और सौन्दय की प्रतिमा बना लेता है । कवि का सबस बडा काव्य स्वय कवि है ।
(सतीश कुसुम का रेखा चित्र तयार कर लेता है, सब लोग उसे देखकर भूरि भूरि प्रशसा करते हैं ।)
दारा वाह, आपन रेखाओ के भीतर ही रेखा हीन सौन्दय क दर्शन करा दिये । चित्र की सगति म जस रेखाए अपना भेद भूल गयी हैं । और, पलकेँ अनिमिष होकर जसे चचल नेत्रो के सौन्दय पर पहरा दे रही है ।
कुमार (चित्र देखकर) A thing of beauty is a joy for ever
कुछ लोग बडा ही सुन्दर चित्र बना है ।
कुसुम आपका हार्दिक धन्यवाद है मिस्टर सतीश ।
सतीश (हँसकर) आप इसस भी अधिक मुझे चित्र खीचने का आनन्द दे चुकी है मिस कुसुम ।
(कुसुम माला समाप्त कर सतीश के गले मे डाल देती है ।)
सतीश जान पडता है, आज वसन्तोत्सव क दिन मुझ स्वय वसन्त-श्री

ने वरण कर लिया है।

कुमार सतीश और कुसुम एक दूसरे के लिए ही बने हैं। क्यों, तुम्हारी अपनी बहन के लिए क्या राय है, मि० प्रफुल्ल ?

प्रफुल्ल कुसुम की रुचि बडी मार्जित है, मुझे उस पर विश्वास है।
(कुमार कुसुम का हाथ सतीश के हाथ मे देता है। सब लोग हर्ष ध्वनि करते हैं, एव नव दम्पति को बधाई देते हैं।)

[वसन्तोत्सव समाप्त हुआ चाहता है। चारो ओर से झुण्ड-के झुण्ड नर नारी आकर आमने सामने दो पातियों से प्रार्थना के लिए खडे होते है। कुमार तारा, प्रफुल्ल आदि भी उनमे सम्मिलित हो जाते हैं। सतीश और कुसुम सबके बीच मे खडे होते हैं। उनका मुख सामने की ओर रहता है।]

प्रार्थना गान

मगल चिर मगल हो!
मगलमय सचराचर,
मगलमय दिशि पल हो! मगल०
तमस मूढ हो भास्वर,
पतित, क्षुद्र, उच्च प्रवर,
मत्यु-भीत नित्य, अमर,
अग जग चिर उज्ज्वल हो! मगल०
शुद्ध, बुद्ध हो सब जन,
भेद - मुक्त, निर्भय मन,
जीवित सब जीवन क्षण,
स्वर्ग यही भू तल हो! मगल०
लुप्त जाति - वर्ण विवर,
शान्त अर्थ - शक्ति - भँवर,
शान्त रक्त तप्त समर,
प्रहसित जग शतदल हो! मगल०

[प्रार्थना समाप्त कर चुकने पर सब लोग प्रसन्न मन एक दूसरे से विदा लेते हैं। धीरे धीरे उपवन रिक्त हो जाता है। यवनिका पर पुन हिम शिखरो की उपत्यका का दृश्य झूलने लगता है। रगमच पर पूर्ववत हलका आसमानी प्रकाश छा जाता है। स्वप्न और कल्पना प्रवेश करते है।]

स्वप्न कल्पना सम्राज्ञी की जय!

सब लोग स्वप्न और कल्पना की जय!

स्वप्न कल्पना सम्राज्ञी के मनोरजन एव लोक-कल्याण के लिए स्वप्न और कल्पना ने अनेक मायावी रूप धरकर, पलकों के असख्य मुद द्वारो से निद्रा के नीरव छाया लोक म प्रवेश कर, मानव जाति के मानस पट पर छाया प्रकाश के अनेक मनोरम स्वर्गीय चित्र अकित कर दिये हैं। एक ही समुद्र की अगणित तरगो की तरह, एक ही प्रकाश की अनेक दीप शिखाओ की तरह, हमने शतश नाम रूपो मे विभक्त हो, पर अभिन्न

सौदय-सृष्टि का निर्माण कर, मानव-जाति की आँखा के
सामने उसके भविष्य को साकार कर दिया है। चतना क
नि सीम प्रागण म, साँसो की डोरिया म भूलत हुए हृदय के
स्पन्दित पलनो पर सोयी हुई असम्य निश्चेष्ट आत्माए, स्वप्न
और कल्पना क वायवी पखो म उडकर, अभिनव भावनाओ
क स्वग-लोक म अभिसार कर आयी हैं। नवीन सौदय के
उ माद स उत्तजित होकर व विश्राम करना भूल गयी हैं।
उन पर फिर न निद्रा की प्रगाढ विस्मृति का अचल डालकर
उन्हे सुला दना चाहिए जिसस वे मानसिक क्लाति स मुक्त
हो कल स्वस्थ होकर जग सकें। कल का प्रभात साने का
प्रभात होगा।

ज्योत्स्ना स्वप्न ! तुम्हार और कल्पना के दिव्य कौशल एव क्रिया
चातुय स मुझ अपार आन द हुआ। तुम लोगो ने ससार के
सामन वही आदश रखे जिन्हे मनुष्य सहज म अपना सकें
एव दनिक जीवन के काय-कलाप मे परिणत कर सकें। समय
समय पर उनक सामने और भी दिव्य आदश रख जायेंग।

स्वप्न-कल्पना यह सब सम्राज्ञी के स्नेह और सहयोग का फल है। सम्राज्ञी
की कृपा स हमारा काय सफलता पूवक समाप्त हो गया है।
अब हम मुक्ति प्रदान हो। (अपने अगो की ओर इगित कर)
जब तक हम लोग विश्व के मनस्तत्त्व के इन नाम रूप के
कोषो को धारण किय रहेगे मानव जाति विश्राम नही ले
सकेगी। अतएव हम पुन अनन्त म लय होकर अव्यक्त हो
जाना चाहिए। बीज ससार को पत्र पुष्प फल देकर फिर बीज
ही मे परिणत हो जाता है। यही सष्टि का रहस्य है।

ज्योत्स्ना अच्छी बात है। इन स्वर्गीय स्वप्नो की स्मृतियो के भार से
मरा हृदय भी स्वग लोक के लिए व्याकुल हो उठा है। किरणो
मेरा यान उपस्थित करो।

द्वारा नाद के अलस सुख एव पूर्ण विश्राम के भाव दरसाती है।]

गीत

सोओ, सोओ, तात !
सोये तरु वन मे खग
सरसी मे जलजात !
सजग गगन के तारक
भू प्रहरी - प्रख्यात
सोओ जग दग तारक,
भूला पलक निपात !
चपल वायु सा मानस,
पा स्मतियो के घात
भावो म मत लहरे,
विस्मत हो जा गात !
जाग्रत उर मे कम्पन
नासा मे हो वात,
सोएँ सुख, दुख, इच्छा,
आशाएँ अज्ञात !
विस्मति के त द्रालस
तमसाचल मे रात,—
सोओ जग की स ध्या,
होव नवयुग प्रात !

[गीत समाप्त होने पर निद्रा मूक अभिनय करती हुई दीखती है, प्रकाश और भी म द होता हुआ क्षण भर के लिए अ धकार मे विलीन हो जाता है और निद्रा भी उसी अ धकार मे अदश्य हो जाती है। सवत्र पूववत प्रकाश फल जाता है।]

पवन सुरभि सम्राज्ञी का मनोरथ पूण हो गया, इससे पवन और सुरभि चिर कृताथ हुए। सम्राज्ञी के इस अभूतपूव सहवास मे जो स्वर्गीय दृश्य हमे देखने को मिल ह उनकी अलौकिक स्मृति सदैव के लिए मन म अकित रहगी। अब प्राय सभी काय समाप्त हो चुके हैं, हम लोगो की पलकें भी नीद स भारी हो, झँपने लगी है। सम्राज्ञी का यान भी उपस्थित है।

[किरणें यान उठाकर सामने खड़ी हो जाती हैं।]

ज्योत्स्ना (यान पर बठती हुई) अच्छा, मैं भी तुम सब लोगो से विदा मागती हू। इस घडी भर के मधुर मिलन न मुझे सदैव के लिए तुम्हारे स्नह पाश म बाध दिया है। तुम लोगो स बिछडत हुए मेरा हृदय व्याकुल हो रहा है। पवन तुम्हारी और सुरभि की सुखद स्मति मेरे हृदय पटल पर सदव जीवित रहेगी।

पवन सुरभि पवन और सुरभि सदैव सम्राज्ञी के अनुचर रहेंगे।

सौ दर्य सप्टि का निर्माण कर, मानव जाति की आँखो के
सामन उसके भविष्य को साकार कर दिया है। चेतना के
नि सीम प्रागण म, सासो की डोरियो म झूलते हुए हृदय के
स्पन्दित पलको पर सोयी हुई असख्य निश्चेष्ट आत्माएँ, स्वप्न
और कल्पना के वायवी पखो म उडकर, अभिनव भावनाओ
के स्वग लोक मे अभिसार कर आयी हैं। नवीन सौंदय के
उन्माद स उत्तेजित होकर व विश्राम करना भूल गयी हैं।
उन पर फिर से निद्रा की प्रगाढ विस्मृति का अचल डालकर
उन्हे सुला दना चाहिए, जिसस वे मानसिक क्लाति स मुक्त
हो कल स्वस्थ होकर जग सकें। कल का प्रभात सोने का
प्रभात होगा।

ज्योत्स्ना स्वप्न! तुम्हारे और कल्पना के दिव्य कौशल एव क्रिया
चातुय से मुझे अपार आनन्द हुआ। तुम लोगो ने ससार के
सामने वही आदश रखे जिन्हे मनुष्य सहज म अपना सकें,
एव दनिक जीवन के काय-कलाप मे परिणत कर सकें। समय
समय पर उनके सामने और भी दिव्य आदश रख जायेंगे।

स्वप्न कल्पना यह सब सम्राज्ञी के स्नेह और सहयोग का फल है। सम्राज्ञी
की कृपा से हमारा काय सफलता पूवक समाप्त हो गया है।
अब हमे मुक्ति प्रदान हो। (अपने अगों की ओर इगित कर)
जब तक हम लोग विश्व के मनस्तत्त्व के इन नाम रूप के
कोषो को धारण किये रहेगे मानव जाति विश्राम नही ल
सकेगी। अतएव हम पुन अनन्त म लय होकर अव्यक्त हो
जाना चाहिए। बीज ससार को पत्र पुष्प फल दकर फिर बाज
ही मे परिणत हो जाता है। यही सृष्टि का रहस्य है।

ज्योत्स्ना अच्छी बात है। इन स्वर्गीय स्वप्नो की स्मृतियो के भार स
मेरा हृदय भी स्वग लोक के लिए व्याकुल हो उठा है। किरणो,
मेरा यान उपस्थित करो।

[ज्योत्स्ना खडी होती है और अपनी बाँहे फलाकर
धीरे धीरे सबके ऊपर फेरती है सब लोग बठे बठे ऊँघने
लगते ह, प्रकाश धुधला पड जाता है। ज्योत्स्ना स्वप्न और
कल्पना को छू देती है। दोनो पख खोलकर धीरे धीरे ऊपर
उठते जाते ह। प्रकाश और भी मन्द पड जाता है, स्वप्न
और कल्पना उडकर अन्तर्धान हो जाते हैं। क्षण भर क
अन्धकार के बाद क्षीण धुधले प्रकाश में एक प्रौढ नारी के
वेश मे निद्रा प्रकट होती दिखायी पडती है। निद्रा का पीला
वण है, कोमल कुम्हलाये अग, मुदी हुई पलकें। मुख पर
मातत्व का भाव, बडे बडे पयोधरों पर धूप छाँह की अलस
शिथिल कचुकी, छायावण की हलकी रेशमी साडी, विस्मृति
सी सघन कोमल कश राशि, गले मे मुँदे नयनों की तरह
कमल मुकुलो की माला, दायें हाथ मे पोस्ते क फूलों का
गुलदस्ता। नेपथ्य मे मधुर मन्द वाद्य ध्वनि होती है, निद्रा
कोमल-कण्ठ से लोरी क ढग का गीत गाती एव अभिनय

द्वारा नाव के अलस सुख एव पूर्ण विश्राम के भाव दरसाती है।]

गीत

सोम्रा, सोम्रो, तात !
सोयें तरु वन मे खग
सरसी म जलजात !
सजग गगन के तारक
भू - प्रहरी - प्रख्यात,
सोम्रो जग दग तारक,
मूलो पलक - निपात !
चपल वायु-सा मानस,
पा स्मृतिया के घात
भावो म मत लहरे,
विस्मत हो जा गात !
जाग्रत उर मे कम्पन
नासा म हो वात,
सोएँ सुख, दुख, इच्छा,
म्राशाएँ म्रज्ञात !
विस्मति के त द्रालस
तमसाचल मे रात —
सोम्रो जग की स ध्या,
होव नवयुग प्रात !

[गीत समाप्त होने पर निद्रा मूक अभिनय करती हुई दीखती है, प्रकाश और भी म द होता हुआ क्षण भर के लिए अ धकार मे विलीन हो जाता है और निद्रा भी उसी अ धकार मे अदश्य हो जाती है। सवत्र पूववत् प्रकाश फल जाता है।]

पवन सुरभि सम्राज्ञी का मनोरथ पूण हो गया इसस पवन और सुरभि चिर कृताथ हुए। सम्रानी के इस अभूतपूव सहवास से जो स्वर्गीय दश्य हमे देखने को मिले ह उनकी अलौकिक स्मति सदव के लिए मन मे अकित रहगी। अब प्राय सभी काय समाप्त हो चुके है, हम लोगा की पलकें भी नींद स भारी हो, झँपने लगी हैं। सम्राज्ञी का यान भी उपस्थित है।

[किरणें यान उठाकर सामने खड़ी हो जाती हैं।]

ज्योत्स्ना (यान पर बठती हुई) अच्छा, मैं भी तुम सब लोगा स विदा मागती हू। इस घडी भर के मधुर मिलन ने मुझे सदव के लिए तुम्हारे स्नेह पाश मे बाध दिया है। तुम लोगो से बिछुडते हुए मेरा हृदय व्याकुल हो रहा है। पवन तुम्हारी और सुरभि की सुखद स्मति मेरे हृदय पटल पर सदैव जीवित रहेगी।

पवन सुरभि पवन और सुरभि सदव सम्रानी के अनुचर रहेगे।

[किरणें यान क धो पर रखकर उडने का उपक्रम करती ह । ग्रोस यान को चारो ग्रोर से घेरकर गाते ह ।]

ग्रोस

गीत

छल छल, टल टल,
जीवन के पल
सजल सजल रे मूक ग्रश्रु दल ।
मधुर मिलन के मोती चचल,
विधुर विरह स पिघल पिघल गल,
छल छल, टल टन,
ग्रश्रु हार र बन जाते स्मति म गुथ ग्रविरल ।

पवन सुरभि

चल सुख चल दुख,
जीवन का मुख—
छल छल टल टल,
ज म मरण का विरह मिलन का हास ग्रश्रु का रे रगस्थल ।

यान धीरे धीरे उडकर ग्रोझल होने लगता है । किरणो का मधुर स्वर वायुमण्डल मे गूजने लगता है । ग्रोस एकटक ग्राकाश की ग्रोर देखकर गीत सुनते हैं ।]

गीत

प्रिय स्वग लोक का वास हमे,
प्रिय च द्रलोक का हास हमे ।
प्रिय शा त प्रस नाकाश हम
प्रिय भू का स्वल्प प्रवास हम ।

(धीरे धीरे सगीत ध्वनि विलीन होती है, परदा गिरता है।)

चार

रात्रि के ततीय प्रहर का शेपाश, भू लोक क एक सघन निजन वनप्रा त का दश्य, च द्रमा के ग्रह ग्रसित हा जाने के कारण भू लोक का एक भाग एकाएक तमसाच्छ न हो गया है, विपण्ण ग्र धकार म, किमाकार दानवा स खड वन के वक्ष बीच बीच म हिल-डुलकर ग्रस्पष्ट ग्रथ शू य इगित कर रहे है । वायु जैस भय स सिहर सिहरकर फिर फिर नि स्प द हो जाता है, निशीथ की ग्रगाढ निद्रा का प्रतिध्वनित कर घुग्घू की भीषण चीत्कार भावी दश्य का भयकर विज्ञापन दती हुई स नाटे म गूज गज उठती है । ग्रौर साथ ही बौने कद के गदबद ग्रादमी की ग्राकृति का एक उल्लू पड की डाल म धम्म स नीचे कूद पडता है । उसकी गोलाकार ग्राँखें दो उपरक्त चाँदा की तरह दीख रही हैं । उल्लू के कूदत ही एक ग्रात चीख सुनायी पडती है । पेड के नीचे का ग्र धकार मानो हिलने डुलने लगता है । यह ग्रदश्य तमसाकृति छाया है जा ग्रँधेरे म छिपी हुई वन के प्रा त म वक्षा के नीचे सोयी हुई थी ।

छाया (पेड के नीचे का ग्र धकार जसे बोल उठा हो) ग्राह, दुष्ट

ने कमर तोड़ दी।

उल्लू (भारी स्वर में) हा, हा, हा हा,! कौन? (ध्यानपूर्वक देखकर) आहा! तुम हो छाया मौसी?

छाया कौन छोकरा यह मुझे मौसी कहता है?

उल्लू यह लो! देख नहीं पाती क्या? आहा! बुढ़ापे में आँखें कितनी धोखा दे जाती हैं! मौसी, मैं हूँ उल्लू।

छाया (क्रोध से) उल्लू कहीं का! छोकरे ने, ऊपर से कूद-कर मेरी कमर के दो टुकड़े कर दिये!

उल्लू (हँसता हुआ) मुझे क्या मालूम था कि पेड़ के नीचे तुम सोयी हुई हो? देखूँ कहाँ कमर टूट गयी? (अँधेरे को टटोलकर) वाह मौसी तुम्हारे कमर भी हो जो मैं दो टुकड़े कर दूँ!

छाया मर कलमुँहे! मुझसे मजाक करता है! अरे छोकरे, पीठ, मेरी पीठ तो तोड़ डाली।

उल्लू गाली मत बको मौसी! तुम्हारा स्वभाव न जाने कभी क्यों इतना चिड़चिड़ा हो जाता है! लाओ, तुम्हारी पीठ मल दूँ। (पीठ मलता है) यह लो। अब उठो मौसी यह भी कोई सोने का वक्त है? देखो न, चारों ओर नीला नीला प्रकाश छाया हुआ है! रजनी नानी के समस्त घर अपने काम धंधों में जुटे हुए हैं।

छाया मैं क्या तेरी तरह देख पाती हूँ?

उल्लू आहा! तुम्हें खबर है मौसी, राहु काका चन्दा मामा के यहाँ धावा बोलकर उनकी अमृत की सुराही झपट लाये। चन्दा मामा ब्रह्मा दादा के पास फरियाद करने गये। दादा ने उनसे कहा, मौसी, कि वे इसकी चिन्ता न करें।

छाया रहने दे अपने काका-मामा की बातें। बातूनी छोकरा, सोने नहीं देता!

उल्लू अरे, असल बात तो सुन लो। हाँ, तो ब्रह्मा दादा ने चन्दा मामा को बताया, मौसी, आज असुर लोग अपना अमित उत्सव मनानेवाले हैं। और, इसीलिए वे अमृत छीन ले गये हैं। और मौसी, ब्रह्मा दादा ने कहा कि—

छाया उल्लू छोकरा! कै बार अब दादा दादा कहेगा?

उल्लू सुन तो लो मौसी! तो दादा ने, ब्रह्मा दादा ने कहा कि उस अमृत का असुरों पर बिल्कुल उलटा असर होगा। वे अमृत पीकर कई साल तक, बल्कि मौसी, दादा ने कहा कि असुर लोग अमृत पीकर कई युगों तक बेहोश पड़े रहेंगे, और इस बीच पृथ्वी में आदर्श युग रहेगा। कल का प्रभात उस युग का सोने का प्रभात होगा। (घन के अन्तराल की ओर संकेत कर) वह देखो मौसी सब के सब दानव पिशाच और भूत प्रेत इसी ओर आ रहे हैं! आह मौसी! कैसी कैसी विकराल सूरतें हैं! मुझे डर मालूम देता है! (चटपट पेड़ की डाल पर उछलकर गायब हो जाता है।)

छाया (चिढ़कर) दूर हट मेरे सामने से! छी छी-छी! छोकरा न जाने किन नरक के भूत प्रेतों की बातें कर रहा है! मारे डर के मेरे रोंगटे खड़े हो गये हैं। जाऊँ, और कहीं जाकर विश्राम करूँ।

(अदृश्य रूप से प्रस्थान)

[एकाएक वन के भारी निश्चेष्ट अन्धकार में भयानक खलबली एवं उथल पुथल मच जाती है, चारों ओर घर् घर् हर्-हर् का शब्द गूंज उठता है, वन प्रान्त सायँ सायँ सासँ भरने लगता है, पेड़ों की शाखाएँ सकपका उठती हैं, प्रगाढ़ निद्रा में सोये हुए पक्षीगण आर्त चीत्कार कर अपने अपने नीड़ छोड़कर भयभीत हो भाग खड़े होते हैं, समस्त वन भूमि भारी-भरकम पदाघातों से जैसे उद्वेलित हो उठती है। अनेकों कदाकार, कुरूप, भयंकर छायाकृतियाँ वन के सघन अन्तरालों एवं पृथ्वी के अँधेरे गर्तों और खोहों से बहिर्गत हो चारों ओर घूम घूमकर ताण्डव-नृत्य करने लगती हैं। ये कराला-कृतियाँ नर पशु की तामसी प्रवृत्तियों एवं सदाचार के अभाव से उत्पन्न होनेवाले विविध रोग, शोक, आपदाओं एवं यन्त्र णाओं के प्रचण्ड स्वरूप हैं, जो प्राकृतिक विकास नियमों के अनुरूप सत्प्रवृत्तियों का अधिक प्रचार बढ़ने पर, प्रयोजन न रह जाने के कारण पुनः तमोगुण में लय होकर सुप्तावस्था को प्राप्त हो जाते हैं। क्योंकि प्रकृति के अज्ञेय अन्धकार से स्थूल, क्रूर, विनाशकारी असत्प्रवृत्तियों का जन्म एवं विकास केवल प्रकृति की रचनात्मक सूक्ष्म सत्प्रवृत्तियों को जीवों के भीतर व्यक्त करने एवं तुलनात्मक संघर्ष द्वारा उनका विकास और रक्षा करने के लिए होता है। सृष्टि के विधान में तामसी प्रवृत्तियों का स्थान और उपयोगिता, अप्रत्यक्ष एवं निषेधक रूप से सृष्टि के विकास को सहायता पहुँचाना है। विश्व की बाह्य सत्ता तमोगुण में है, फलतः तामसी प्रवृत्तियाँ गौण रूप से सृष्टि का संहार करती हुई सूक्ष्म दृष्टि से सृजन करने में सहायक होती हैं। ये सृष्टि रूपी फल को चारों ओर से घेरे हुए कठोर छिलके की तरह हैं, जो जीवों के अज्ञान जनित समस्त आघात प्रतिघात सहकर अपने अन्तस्तल में सात्विक सूक्ष्म वृत्तियों के रस एवं माधुर्य की रक्षा करती हैं। इसीलिए मनोवैज्ञानिक घृणा, क्रोध, मद आदि वृत्तियों को प्रेम दया, आदर आदि का ही प्रतीप रूप बतलाते हैं। इनमें से कुछ के नाम ये हैं—घृणा क्रोध लोभ ईर्ष्या, दम्भ मोह, हिंसा कपट, मिथ्या, छल, स्वार्थ, कलह अत्याचार, क्रूरता पशुबल भेद भाव भ्रम, आसक्ति, दमितमन रूप गर्व, जाति द्वेष, धर्मान्धता रूढ़ि पूजा, अविश्वास, युद्ध, महामारी, प्लेग आदि संक्रामक रोग इत्यादि।

दीर्घकाल के प्रयत्न एवं संग्राम के बाद, मानव जाति के हृदय में विश्व-संस्कृति मानव प्रेम, सदाचार आदि सद्वृत्तियों

के नवीन बीजो के अकुरित हो उठने के कारण, पिछले युग की समस्त स्थूल प्रवृत्तियाँ, उपयुक्त छायाकृतियों के रूपो मे एकत्रित होकर इस दृश्य मे अपने आदि निवास तमोगुण मे लय हो रही हैं। अपने स्वभाव और कार्यों के अनुकूल इनके स्वरूप बड़े विकराल, भयोत्पादक, असुन्दर एव कठोर हैं। कुछ हिलते हुए अस्थि-ककाल मात्र हैं, कुछ वृहत महाकाय, कुछ दीर्घ किमाकार, कुछ अग हीन, कुछ कृश, कुछ एक-पाद, एक हस्त, कुछ बहु पाद, बहु हस्त, कुछ उग्र दन्त, उदग्र नख प्रचण्ड चक्षु विरूपाक्ष, शूपकर्ण उदग्रीव, प्रलम्ब बाहु, लोलकराल जिह्व इत्यादि। कुछ काले काले मोटे बालो और रोओ से आच्छादित, कुछ नीले, लाल, गहरे रगो की ज्वालाओ से वेष्टित, अस्थि, चम, रुण्ड मुण्डो से अलकृत हैं। इनके पास तरह-तरह के चमकीले अस्त्र शस्त्र हैं ये खोपडियों के पात्रो मे अमृत पान करते, हड्डियो को फट फटाकर ताल देते, एव अनेक ककश शब्द करते हुए नाचते गाते ह। अमृत का प्रभाव इनके नीले नीले ओठो को छूते ही, इनकी प्रकृति के अनुसार तीव्र मदिरा मे परिणत हो जाता है जिस प्रकार सूय का प्रकाश विविध रगो मे पडने पर उन्हीं रगो के स्वरूप मे प्रतिफलित होता है।]

प्रलय गीत

डम डम डम डमरु स्वर,
रुद्र नृत्य प्रलयकर!
कम्पित दिग्मू अम्बर,
ध्वस्त ग्रहमद डम्बर!

कर शूर, खर दुधर,
अध तमस पुत्र अमर!
नित्य सब शिव अनुचर,
भव भय तम भ्रम जित्वर!

मोह - मूढ सचराचर,
मोह - रात्रि रात्रिचर
हरते भव - मोह, लोह
लोह काटता खरतर!

जीवन - तरु मे शुभकर
कोमल कलि - कुसुमाकर,
आत्म - त्राण मे कठोर
हम खर - कण्टक परिकर!

हम अभाव - जनित, अपर,
हमसे सत् चित अक्षर,
नाम रूप गुण अन्तर
तम प्रकाश रूपान्तर!

झंझा हर जीर्ण पत्र
बोता नव बीज निरन्तर,
पाता नित सद् विकास
होता लय तम क्षर मर ।

[गीत नृत्य समाप्त होने पर असुर-वर्ग मदिरा की ज्वाला से उन्मत्त हो, और लगातार उछलने कूदने से क्लान्त एवं मत्तवत हो वन के सघन अन्तराल की ओर हटते हटते, गहरे दुर्भेद्य अन्धकार सागर में विलीन होकर अदृश्य हो जाते हैं ।

समस्त वन प्रान्त में पूर्ववत् निर्जन निस्तब्धता का साम्राज्य हो गया है । मन्द मन्द शीतल समीर के स्पर्शों से वन के पत्र मधुर अस्फुट मर्मर करने लगते हैं, जैसे दीर्घप्रयास के बाद वन भूमि मधुर, मनोरंजक, वार्तालापपूर्वक विश्राम सुख प्रकट कर रही हो । क्रमशः चन्द्रमा धीरे धीरे ग्रहण मुक्त हो छायातप से कानन प्रान्त के सघन अन्धकार को द्रवित करने लगता है । सद्य स्वस्थ किन्तु दुर्बल रोगी के मुख की पीली कान्ति की तरह चारों ओर एक क्षीण आभा फैल जाती है ।

मलिन विधुर वेश में, सोहनी गाते गाते विरहिणी युवती कोकी का प्रवेश, हलके पीले रंग की धोती जिसमें लाल काली हरी, पीली, नीली कई रंगों की धारियाँ हैं ।]

गीत

नाथ, हो स्वर्ण प्रभात ।
त्रस्त तिमिर-पीडित सचराचर,
जीवन - पथ अज्ञात ।
लिपटे नभ-अंचल में आँसू
अग जग के अवदात,
बन्दी है जग जीवन का अलि
खिले विश्व - जलजात ।
तुम प्रकाश, तुम हो जीवन धन,
स्वर्ण - सृष्टि के प्रात,
बरसे प्रेम प्रभा दिशि दिशि में,
हो आलोक प्रपात ।

(मन्द शिथिल पगों को बढ़ाते हुए कोकी का प्रस्थान)

[इस बीच में निखिल वन भूमि पूर्णेन्दु के रजत प्रकाश से प्लावित हो जाती है । चतुर्दिक पत्रों के कम्पित अधरों पर चाँदनी का चाँदी का समुद्र लहराने लगता है । चन्द्रिका के प्रभाव से पुनरुज्जीवित होकर छाया रुपहली घुंघराली अलकें छिटकाये हलकी रेशमी धूप छाँह की साड़ी पहने चंचल ओस के मोतियों से अलंकृत सुन्दर षोडशी अप्सरा के वेश में पुनः प्रवेश करती है ।]

छाया (अपने आप) रात भर न जाने कैसे ... दबाया ।

कभी देखती हू, एक निशिचर मेरी पीठ पर सवार है। कभी सुनती हू कि भूत प्रेत मुझे निगलने आ रहे है। ओह, बडा भयावना स्वप्न था। उसी उनीदी हालत मे भागते-भागते नदी के किनारे पहुची, तो आँखें खुल गयी। क्या देखती हूँ कि चारो ओर निमल चादनी छिटकी है। आकाश की परियाँ उतरकर, अपने रुपहले पख फैलाये, लहरो की चचल गिलह-रियो पर सवार हो, रलमल रलमल दौडकर जल क्रीडा कर रही है। पानी मे अपनी परछाइ देखी, तो अवाक रह गयी। जैसे मैं दूसरे ही स्वप्न लोक मे विचरने लगी होऊँ। क्या देखती हू, मैं एक अप्सरा बन गयी हूँ। रुपहली अलकें हो गयी हैं। अगो मे मोती झलमला रहे हैं। यह सौदय। यह रेशमी साडी। यह उम्र। ओह, बडी देर तक अपनी ही परछाइ से बातें करती रही। अपने आप बोलने, अपने मुँह अपनी प्रशसा सुनने को जी करता है। मैं कब कैसी हो जाती हूँ—अपने जीवन के इस रहस्य को मैं स्वय नही समझ पाती।

[सुदर युवक के वेश मे कोक का प्रवेश, रग बिरगी बूदों से रँगे रेशमी वस्त्र, पीठ पर उसी तरह के दो पख। छाया एक सुन्दर युवक को पास आते देखकर उस पर मुग्ध हो, एकटक उसकी ओर देखने लगती है।]

कोक (पत्रो के अन्तराल से छनती हुई चादनी मे खडी छाया को कोकी समझकर) तुम्हे कहाँ कहाँ खोज आया हूँ, प्रिये। घण्टो नदी किनारे बालू मे लोटता रहा। (पास आकर) हाय तुम्हारी यह क्या दशा हो गयी है। बाल बिखरे हुए हैं। (ओस-बूद देखकर) सारा आँचल आँसुओ से भरा हुआ है। जैसे तुम्हारा रोआ रोआँ रोता रहा हो। हाय, तुम इतनी दुबली कैसे हो गयी, चकवी। अग अग जैसे कुम्हला गये है। मैं यदि जानता कि मेरे बिना तुम्हारी यह दशा हो जायेगी, तो तुम्हे अकेली क्यो छोडता।

[छाया अपने को छिपाने एव मान दिखाने के अभिप्राय से पीठ फेर लेती है।]

कोक चकवी, प्रियतमे क्या रूठ गयीं।

छाया (विनोद के अभिप्राय से) रूठूगी नही, तो क्या? मुझे अकेली छोडकर किसके मुख-चन्द्र का अमृत पान करने गये थे?

कोक आज तुम्हे क्या हो गया, कोकी। (प्रेमाधिक्य से कोकी को कोको कहता है) जो कोक अपने एक पत्नीव्रत के लिए स्वग मे भी प्रसिद्ध है, जिसके प्रेम की गाथाएँ गा-गाकर मनुष्यो ने प्रेम करना सीखा है तुम्हें छोडकर, वह स्वप्न म भी पर-स्त्री से प्रेम कर सकता है? तुम्हारे अधरामृत के बिना यह पूनो की सुधा का ज्वार भी मेरी तपा तप्त नही कर सकता। (चन्द्र की ओर इगित कर) प्रिये इस चन्द्रमा की सृष्टि विधाता ने प्रेमियो के लिए ही की है। तुम्हारे साथ एकान्त मे नदी किनारे, दूध फेन सी सैकत शय्या पर, क्षण भर आत्म विस्मृत

होकर, एकटक तुम्हारे मुख चन्द्र को देखने एव अधर-सुधा पान करने की मेरी अतृप्त लालसा क्या इस जीवन मे कभी पूरी नही हो पायगी ?

[छाया के सामने जाकर उसकी कमर मे हाथ डालना चाहता है। छाया कुछ दूर हटकर, मुँह फिराकर खडी हो जाती है।]

कोक तुम्हारा प्रणय तो मान करना जानता ही नही था, चक्वी। मुझे भ्रम तो नही हो रहा है ? नही तो सच्चे प्रेम म यह आशका क्यो उठती ?

[पास जाकर छाया के कधे पर हाथ रखकर एकदम पीछे हट जाता है।]

(आश्चय से) अरे, यह तो चक्वी के कोमल गात का स्पश नही है। उसके सौ दय की कमनीयता और स्नेह का माधुय तो बिना स्पश किये ही मेरे शरीर को रोमाचित कर देता है। मुझे अवश्य भ्रम हो गया है।

[दूर से प्रभात-वाहक लावे का स्वर सुनायी पडता है।]

जान पडता है पौ फट गयी। जगल म पेडो की सघनता के कारण समय का अनुमान ही नही हो सका।

[वृक्षो के अतराल से द्वाभा का हलका नीला-पीला आभास झलकने लगता है। शीतल मन्द समीर के झोकों से अँधेरे से लिपी पुती पेडो की डालियाँ हिलने लगती हैं। वक्ष की आड से छाया हलके, ढीले, पीले रग के लबादे मे लम्बी, क्षीण, स्त्री आकृति के रूप मे प्रकट हो धीरे धीरे, वायु की गति के कारण झूलने लगती है। कोक उसे देखकर विस्मित एव भयभीत हो एकदम पीछे हट जाता है।]

कोक ओह। न जाने किस यक्षिणी के माया-जाल मे फँसने से बच गया!

(सहसा प्रस्थान)

छाया (आगे बढ़कर इधर उधर देखती हुई) न जाने कौन खेचर अपनी प्रेयसी की खोज मे भटकता हुआ यहा आकर मुझसे प्रणय याचना कर रहा था। मैंने भी खूब उल्लू बनाया। ज्यो ही मैंने प्रभात की लम्बी अँगडाई ली तो ऐसा डरा कि भागता नजर आया। चलू आज का दिन किसी रमणीय उपवन मे बिताऊँ।

(प्रस्थान)

[शन शन द्वाभा का मधुर पीलापन वन विटपों की हिलती हुई हरीतिमा के ऊपर बारीक रेशमी-पट की तरह झूलने लगता है। एक सुनहली अलकोवाले प्रसन्नमुख बालक के वेश म तुरही बजाते हुए लवे का गाते गाते प्रवेश सुरे रग के रेशमी वस्त्र, अरुण जलदो के पख गले मे चौडे लाल रिबन का बो, कमर मे सुनहली डोरी बँधी दायें हाथ मे लाल

कमल की कली, नेपथ्य में ड्रम, क्लेरिओनेट, पाइप आदि वाद्य बजते हैं।]

गीत

हो आलोक! हो आलोक!
इस जग के मलीन मुख से द्रुत
मिटे अँधेरे का भय, शोक!
हो आलोक! हो आलोक!
एक ज्योति के पाश में बँधे
भगिनि भ्रात से भू-स्वर्लोक!
हो आलोक! हो आलोक!
खिले पद्म सा ज्योति वन्त पर
जीव कोषमय यह जग ओक!
हो आलोक! हो आलोक!
मिलें प्रेम के स्वर्ण प्रात में
फिर भू नभ के कोकी कोक!
हो आलोक! हो आलोक!
नव ऊषा आशीर्वाद सी
उतर रही वह, लो अवलोक!

[गीत समाप्त कर चुकने पर लवा बार बार अपने हाथ की लाल कमल-कली की ओर देखता है, जिसकी पँखुड़ियाँ धीरे धीरे खुलने का उपक्रम कर रही हैं वह जसे उसका काल सूचक यन्त्र हो। द्वाभा कुछ गहरी हो, रक्तो त्पल वर्ण धारण करती है। सघन पत्रों के स्वप्न नीड़ों में सोये विहग जग जगकर कलरव करने लगते हैं। नेपथ्य से उनका प्रभात गीत सुनायी पड़ता है।]

गीत

कौन अप्सरि अज्ञात,
उतरती नभ से आभाकार
स्वर्ग - की - शोभा - सी साभार
फुल्ल मधुऋतु की सी सहार
विश्व श्री का कृश गात!
स्रस्त छाया-तम का कच भार,
नवाज सरोज उरोज उभार,
स्वर्ण विगलित तन छबि सुकुमार
श्वास सुरभित मृदु वात!
अर्चि मत चल-जल भृकुटि विलास,
अधर-पल्लव, स्मिति मुकुल विकास,
चतुर्दिक् राशि राशि हिम हास
अरुण पद-तल जलजात!
जगत जीवन की सी झंकार,

निखिल इच्छाओ की गुजार,
अपरिमित आशाचल विस्तार,
दगो मे नव युग प्रात ।

[सहसा बरगद की शाखाए हिलती हैं और पवन उनसे कूदकर नीचे उतरता है ।]

पवन (पूर्व की ओर देखकर) ओह, कब की पौ फट गयी, आज बडी देर म आँखें खुली । कल न जाने किन फूलो की मादक ग ध पी गया कि घडी भर भी शातिपूर्वक नही सो पाया । रात भर स्वप्न-लोक म विचरता रहा । न जाने कैसे-कैसे अलौकिक स्वप्न देखे । (ताली पीटकर) मैं, जो आजीवन क्वाँरा रहने की प्रतिज्ञा कर चुका हूँ, स्वप्न म क्या देखता हूँ कि एक अनिद्य सुर सु दरी से मेरी शादी हो गयी है । (हँसता है) अवश्य किसी अप्सरा या सुर बाला ने, स्वप्न पथ स उतरकर, मुझे मायाभिभूत कर लिया था । ऐसी रात ता आज तक कभी बीती ही नही । और, अभी न जाने किसके ग न की ध्वनि कानो म गूज रही थी कि नीद खुल गयी । (इधर उधर देखकर, लवे से) अहा आप कौन हैं, कोई राजपुत्र या देवकुमार ? अब भी क्या मैं उस इ द्रजाल के प्रभाव स मुक्त नही हो पाया ?

लवा (प्रस न मुख, पवन के निकट आकर) मैं ज्योतिमयी उषा का दूत हूँ, प्रकाश का स देश वाहक हूँ ।)

पवन आप ही ने गाकर मेरा सोने का सुख-स्वप्न भग किया ?

लवा (आश्चय से) सोने का सुख-स्वप्न भग किया ? मैं तो ससार के लिए सोने का प्रभात और सुख के स्वप्न लाया हूँ । आज का प्रभात स्वण का प्रभात है महाशय ! उषा स्वग से नवीन प्रकाश लेकर पथ्वी पर शुभागमन कर रही हैं । मैं आपको उसी का स देश देने आया हूँ । उषा की सोने की डाली नवीन आशा नवीन अभिलाषाओ स, नवीन रूप, नवीन रग नवीन ग ध नवीन कलि कुसुमो से भरी है । चलिए, देवी का स्वागत करें ।

पवन चलिए दूतवर ! क्या आप मुझे अपनी पीठ पर कूदने देंगे ?

(दोनों का प्रस्थान)

[यवनिका]

पाँच

उदयाचल का दश्य, प्रभात काल, स्निग्ध, प्रशा त, स्वर्णाभा से मण्डित उदयाद्रि, सोने के सुमरु की तरह, अपना जाज्वल्यमान उल्लग मस्तक, अपनी ही गौरव-गरिमा मे, निर्भीक हो, आकाश की ओर उठाये हुए है । शिखर पर विशाल विजय केतु मा नीलाकाश बालातप की वीचियो मे फहरा रहा है । चारो ओर फैला हुआ पलाश का प्रफुल्ल वन वस तागम से नवीन जीवन की ज्वालाओ मे सुलग उठा है । उपत्यका मे, सरोवर

की राशि-राशि गलित स्वर्ण जल, सौ सौ इच्छाकांक्षाओं में उमड़कर लोट लोट रहा है। पूर्वांचल के भाल पर उषा का, आधुनिक रुचि से निर्मित, कुसुमित लताओं से वेष्टित, सुरम्य भवन शोभा दे रहा है, जिसके झरोखों पर कोमल किसलयों के कुसुम्भी परदे धारवायु में हिल रहे हैं। गिरजे के ढंग की ऊँची उठी, तिरछी, सुकोण छत, नीलम की स्लेटों से पटी, दमक रही है। पूर्व की ओर, रक्त पद्मराग का विशाल प्रवेश द्वार है, जिसके सामने दूर तक फैला हुआ रमणीय उद्यान है। यत्र-तत्र हरित दूर्वा परिवृत, देशी विदेशी सुरंग कुसुमों की वर्ग वृत क्यारियाँ और लिपट कुंज एवं लता मण्डप बने हैं। बीच में अपने ही आवेश में उठकर चूर चूर होता हुआ सोने का फुहारा। इधर-उधर, लाल रंग की सर्पाकार पगडण्डियाँ।

उपवन में विविध वेशों में, हलके गहरे, रंग बिरंगे, ट्यूनिक, फ्रॉक, कुरते, साड़ी आदि पहने, देशी विदेशी फूलों के हँसमुख बालक और बालिकाएँ छोटे-छोटे गिरोहों में घूम फिरकर, परस्पर हास-परिहास, क्रीडा कौतुक, आमोद प्रमोद में निमग्न हैं। लम्बे-लम्बे ट्यूलिप, गोरे-गोरे नारसिसस, आसमानी बगनी हिएसिंथ, चम्पई पोटेनटिला, बड़े-बड़े रेशमी हालीहाक, तितलियों-सी पंख फैलाये आइरिस, सुनहले, डफोडिल, रंग बिरंगे पिटूनियाँ, जैरेनियम, डेजी, पैंजी, लार्कस्पर, कारनेशन, वायलेट, स्वीट पी तथा केना, पलाश, कचनार कनियार, माधवी, मालती, मोतिया, चम्पा, गेंदा, गुलाब, चमेली, जुही, कुन्द आदि अनेक रंगों के वस्त्र पहने, एवं अलकों में अपने अपने नाम के फूल खोसे, ओस बिन्दुओं की माला गूथते, भौंरों और तितलियों की पाँखों को बटोरकर पंखा करते, वार्तालापपूर्वक इधर उधर टहलते हुए प्रात क्रीडा कर रहे हैं। परदा उठता है।

[कुछ फूलों के बालक गाते-गाते आते हैं, और उसी प्रकार चले जाते हैं।]

गीत

मुकुलित तन हो, प्रमुदित मन हो,
सुभग सुरंग अंग, सौरभ घन हो।
वसंत शयन हो, तुहिन चयन हो,
मधुर मलय, मधुमय गुंजन हो।
नव-बचपन हो, नव यौवन हो,
क्रीडन, आलिंगन, चुम्बन हो।
नील गगन हो, नव मधुवन हो,
हास लासमय जग जीवन हो।

स्नोड्राप — तुम्हारी आँखें मुझे बड़ी सुन्दर लगती हैं, वायला।

वायलेट — तुम ऐसे ही भोले रहोगे क्या स्नोड्रॉप।

[दोनों के बीच में पैंजी आती है।]

स्नोड्राप — तुम्हारे पास बड़े ही सुन्दर फ्राक हैं, पैंजी। तुम्हारी रुचि बड़ी अच्छी है।

पेंजी (प्रसन्न होकर) कैसा आनन्द है ! मुझे तो तितली होना चाहिए था ।

[दूसरी ओर जाते हैं ।]

ट्यूलिप मैंने अपनी बड़ी सी हथेली की कटोरी मे तुम्हारे लिए कल रात बहुत से मोती इकट्ठा किये हैं, पोटेनटिला ! वही तुम्हें देने आया हूँ ।

[ओस के मोती देता है ।]

पोटेनटिला इस भद्रता के लिए धन्यवाद देती हूँ, ट्यूलिप ! तुम सबसे लम्बे भी तो हो, तुम्हारे सिवा यह काम और कौन कर सकता है ! (मोती देखकर) ओह, मैं कैसी सुखी हूँ ! न जाने हार गूथना मुझे इतना क्यो भाता है ।

ट्यूलिप इससे सुन्दर कोई मनोविनोद भी तो नही ! मुझे कल किरणा ने परी की कहानी सुनायी थी ।

पोटेन्टिला मुझे परियो की कहानियाँ बेहद पसन्द हैं, क्या तुम नही सुनाओगे ? तुम वही परी हो, पो !

[दोनो टहलते हुए जाते हैं ।]

फारगेट मी नाट मुझे भूल न जाना, प्यारी पी ! तुम्हारे कोमल स्वभाव की मधुरता ने मुझे मोल ले लिया है ।

स्वीट पी मैं जानती हूँ, नो ! तुम प्रेम के लिए सर्वस्व निछावर कर सकते हो ।

फारगेट मी नाट तुम्हारा प्रेम और विश्वास पाकर मेरा जीवन सफल हो गया ! मैं सदैव इस प्रेम का अमर स्मृति चिह्न बनकर जीवन व्यतीत करूँगा ।

[दोनों जाते हैं ।]

डफोडिल (दोनो हाथो से ताली बजाता) मुझे नाचना बड़ा अच्छा लगता है, बेहद अच्छा । यह जीवन का सुनहला पल बिना नाच कूदे, उदास मुख लटकाये बिता देना कैसी नादानी है !

पिटूनियाँ ठीक कहते हो, डफोडिल ! हँसी खुशी, रास-रंग मनाने के सिवा जीवन का और ध्येय ही क्या हो सकता है ? अपने ही सुख से खिलकर अपने ही सुख मे विलीन हो जाना ! आनन्द का एक क्षण,—यही तो जीवन है ? चलो मैं तुम्हारे साथ नाचूगा । तुम क्या हमारे साथ नही नाचोगी, डेजी ! तुम तो हमारे उपवन की तारिका हो ।

डेजी (प्रसन्न होकर) जरूर नाचूगी ।

डफोडिल तुम कैसी हँसमुख लड़की हो !

डेजी मैं शाम ही को सो जाती हूँ इसीलिए सुबह एकदम स्वस्थ और प्रफुल्ल होकर उठती हूँ ।

कार्नेशन प्रेम ही जीवन है ! प्रेम की मदिरा पीकर जब तक आँखें आरक्त नही हो उठती, तब तक जीवन का उपभोग कैसा ?

[डफोडिल, पिटूनियाँ एमेरन्थस, डेजी आदि नृत्य करते हैं ।]

संयुक्त हास - हास, लास - लास,
सास सास मे सुवास !
कुछ दल-दल मे रग-रग
पल-पल मे नव उमग !
कलि-कलि मे नव विकास,
जग चिर जीवन निवास !
कुछ हिल हँस लें मग सग,
जीवन चल - जल - तरग !
डाल डाल म विलास,
जीवन-क्षण हिम हुलास !
कुछ जीवन शाश्वत वसन्त,
जय जग-जीवन अनन्त !
कुछ जन्म मरण आस पास,
जीवन र मृत्यु ग्रास !
कुछ जीवन चिर-मुक्त द्वार,
जन्म मरण चल विचार !
सयुक्त आवागम - मुक्त - पाश,
जीवन अग जग प्रकाश !

हनीसकल तुम परियो की फुलवारी के लिए बनी हो, प्यारी आइरिस, तुम्हारी रेशमी सुकुमारता स्वर्गीय वस्तु है !

आइरिस मुझे यहाँ केवल तुम्हारी चूण अलका ने बाँध रखा है, ओनो डियर !

[दोनो टहलते हुए जाते हैं।]

रोज रुष्ट न हो, प्यारी लिली !

लिली मैं रुष्ट नही होती, रोज ! मैं चाहती हू, तुम प्रेम का सम्मान करो। प्रेम पर श्रद्धा रखो। प्रेम पाकर जब कोई उच्छखल और उन्मत्त होने लगता है तो मुझे अच्छा नही लगता। तुम बडे कामुक हो !

रोज मैं वसन्त का पुत्र हूँ लिली ! मेरी नाडियो मे जिस नवीन यौवन के रक्त की लालिमा दौड रही है, रोम्रो मे जिस रूप की ज्वाला सुलग रही है, उस पर भी कुछ ध्यान दो ! मेरी सास सास से केवल तुम्हारे प्रेम की सुगन्ध आती है।

लिली यह मैं जानती हूँ।

रोज तुम अनिन्द्य सुन्दरी हो प्यारी लिली ! (उसे बाँहों मे बाँध कर जोर से उसका मुह चूमता है) ज्यो ज्यो तुम युवती हो रही हो, तुम्हारे अग अग से फूटते हुए लावण्य विकास को देखकर मेरी पलकें प्रतिक्षण आनन्द और विस्मय से विस्फारित होती जा रही हैं।

[लिली लज्जाधीर हो सिर झुका लेती है, गुलाब उसे प्रेम विवश करने के लिए गाता है।]

गीत

सुखमा की जितनी मधुर कली,
उन सबमे सु दर सलज लिली।
वह छायातप मे सहज पली
अपनी शोभा से स्वय खिली।
वह तरुण प्रणय की पलको को
सौदय स्वप्न सी प्रथम मिली,
वह प्यारी, गोरी रूप परी,
जग मे मेरे ही सग हिली।

[दोनो का प्रस्थान]

[उषा, झरोखे से परदा हटाकर, अपना रक्तोत्पल सा सुन्दर मुख बाहर निकाल, मद मद मुसकुराती है। कुन्द जुही, पिटूनियाँ, नरगिस डेजी आदि उषा की ओर उँगली से इगित कर ताली पीटते हैं। कोई बाहर आने का सकेत करता है, कोई पुकारता है।]

कुछ फूल मम्मी! मम्मी!

कुछ फूल अम्मी! अम्मी!

उषा मेरा प्यार लो—मेरा प्यार लो! (हाथ बाहर निकालकर हिलाती है।)

[धीरे धीरे सब फूल झरोखे के सामने एकत्रित होकर गीत नृत्य करते हैं।]

गीत

लो, जग की डाली-डाली पर
जागी नव जीवन की कलियाँ।
मिट्टी ने जड निद्रा तजकर
खोली स्वप्निल पलकावलियाँ।
मलयानिल ने सरका उर स
उर्वी का तद्रिल छायाचल,
रज रज के रोए-रोएँ म
छ छू भर दी पुलकावलियाँ।
शशि किरणो ने मोती भर भर
गूथी सौरभ अलकावलियाँ।
गूजी, मधु अधरो पर मँडरा
इच्छाओ की मधुपावलियाँ।
श्री, सुख, स्वप्ना स भर लायी
लो, ऊषा सोने की डलिया,
मुखरित रखती जग का आँगन
य जीवन की नव रँगरलियाँ।

[अनेक चटकीले रेशमी रगों के वस्त्रों से अलकृत, नीली, पीली, लाल, हरी, बगनी एव मिश्रित वर्णों की तितलियाँ रग बिरगे पख फला, मुकुलवयसा बालिकाओं के

रूप मे प्रवेश करती हैं। फूलो के बालक एव तितलिया, भिन्न भिन्न जोड़ों मे बँटकर, परस्पर बाँहो मे बँधे एक दूसरे का मुख चूम चूमकर, सहज सुख व्यजित करते हुए, गीत नृत्य करते हैं।]

तितलियो का गीत नृत्य

जीवन के सुखमय स्पर्शो सी
हम खोल खोल पलको के पर,
उडती फिरती सुख के नभ मे,
स्मिति के आतप म ज्यो स्मितिचर।
पा मास चेतना की मानो
जड वृत-नीड से उड सत्वर
हम फूमी फिरती फूला सी
पखो की सुरँग पँखडिया पर।
पल पल चल पलको मे उडती
चितवन की परियो सी सुदर,
हम, शिशु से अधरो पर खिलती,
स्वप्ना की कलियो सी सुखकर।
चेतना रेशमी सुषमा की
सौ सौ रुचि, रग, रूप धरकर
उडती हो ज्यो रचना सुख मे,
रँग रँग जीवन के गति प्रिय पर।

[फूलों तितलियों का सयुक्त गान]

तितली हो जग मे मधुर फूल मे मुख,
जीवन मे क्षण-क्षण चुम्बन-सुख।
फूल हो इच्छाओ के चचल पर,
अधरो स मिलते रहे अधर।
तितली हो हृदय प्रणय मधु मे मधुमय,
उर सौरभ मे जग सौरभमय।
फूल हो सबके प्रिय स्नेही सहचर,
यह धरा स्वग सी हो सुखकर।

[गीत समाप्त होने पर दोनो मूक अभिनय कर अनेक हाव भावों से जीवम का उल्लास प्रकट करते हैं। कुछ लोग उषा को बुलाते हैं।]

कुछ फूल बाहर आओ ना, मम्मी।
तितलियाँ आकर हमारे साथ खेलो ना, जीजी।
उषा आती हू—आती हूँ। (झरोखे से मुख प्रदर्श हो जाता है।)
गेंदा तुम्हारी मित्रता से मैं अपने को गौरवान्वित समझता हूँ, मिस्टर डह्लिया।
डह्लिया (चाटुकारी से विरक्त हो) ओ, ऐसी बात है गेंदा।

[प्रभात किरणो के साथ उषा और अरुण का प्रवेश, प्रभात किरणें गुलाबी रेशम के वस्त्र पहने हैं किशोर-वयसा, स्मित मुख एव सद्य स्वस्थ। उषा अनिन्द्य सुदरी सद्य स्फुट,

गुलाब सा आनन, अधखुले नील-नलिन से नयन, तिमिर की दो रेखाओं सी भृकुटियाँ, पीली पीली घुंघराली केसरी अलकें, कीर की सी नासिका, चम्पक-वर्ण, मदनबान की कलियों सी उँगलियाँ, सोने की जरी की साड़ी जरी की कंचुकी, उठे हुए वक्षस्थल मानो चकवा चकवी के मधुर प्रभात मिलन हों। गले में झूलती हुई क्रमश: छोटे-बड़े मोतियों की एकावली, बायीं बाहु में कुहनी के पास से गुलाबी रेशमी डोरी में लटकी सुनहरी तार की डाली, जिसमें अनेक खिले-अधखिले कलि कुसुम भरे हुए हैं। अरुण —सुन्दर, स्वस्थ ऋषि कुमार-सा गेरुए रंग के रेशमी वस्त्र, कान्तिमान आनन। प्रभात किरणें उषा और अरुण को चतुर्दिक घेरकर गा रही हैं।]

गीत

तुम नील वृन्त पर नभ के जग,
उषे ! गुलाब सी खिल आयी !
अलसायी आँखों में भरकर
जग के प्रभात की अरुणाई !
लिपटी तुम तरुण अरुण उर से
लज्जा लाली की सी झाईं !
भू पर उस स्नेह मधुरिमा की
पड़ती सखि कोमल परछाईं !
तुम जग की स्वप्न शिराओं में
नव जीवन रुधिर सदृश छायी,
मानस में सायी, भावों की
ला अखिल कमल कलि मुसकायी !
आशाऽकांक्षा के कुसुमों से
जीवन की डाली भर लायी,
जग के प्रदीप में जीवन की
लौ सी उठ, नव छवि फैलायी !
[मनोहर रंगों के परों से विभूषित बालक बालिकाओं के रूप में प्रवेश कर, प्रभात विहग गीत-नृत्य करते हैं।]

गीत

जागो, जीवन के आतप में
आओ, हिल मिल खेलें जी भर,
गयी रात, त्यागो जड़ निद्रा,
खुला ज्योति का छत्र गगन पर !
चहकें जुट जग के आँगन में
हो निज लघु नीड़ों से बाहर,
एक गान हो यह जग-जीवन,
हम उसके सौ-सौ सुखमय स्वर !

सुख से रे रस लें, जीवन फल
छेद प्रेम की चचु स प्रखर,
डाल-डाल हो क्रीडा कलरव
शाख शाख हो इस जग की, घर !

मुक्त गगन है जग जीवन का,
उड़ें खोल इच्छाओ के पर,
हो अपार उडने की इच्छा,
है असीम यह जग का अम्बर !

(किरणें विहगों के बाहु पाश मे बँधकर गाती हैं।)

कनक किरण ! कनक वरण !
स्वर्णिम महि शतदल पर
शोभित लघु अरुण चरण !

कनक किरण, कनक वरण !
झुक झुर मुख चूम चूम
तृण तृण कण प्रीति भरण !

कनक किरण, कनक वरण !
दिशि धनु शर सी असख्य
द्रुत भव तम भीति हरण !

कनक-किरण, कनक वरण !
रवि छवि से स्मित लघु पर,
अप्सरि सी व्योम-तरण !

कनक-किरण, कनक वरण !
शतवर धत अक लसित
सस्मित शिशु विश्व शरण !

कनक किरण, कनक-वरण !
आतप से त्रस्त तिमिर,
जीवन से त्रस्त मरण !

[सब फूलो के शिशु उषा को चारो ओर से घेर लेते हैं। कोई उनकी साडी का छोर, कोई उँगलिया पकडकर अनेक प्रकार से अपना लाड-प्यार प्रदर्शित करते हैं। उषा किसी की ठोडी पकडती है, किसी का मुख चूमती किसी के माथे पर हाथ फेरती किसी का फ्राक, फीते का बो और ट्यूनिक की पेटी ठीक करती हुई मातृत्व का उपभोग करती है।]

सिरिस (छोटा सा इन्द्रधनुषी रेशमी रूमाल हिलाता हुआ) दखो अम्मी, इन्द्रधनुष पकड लाया हूँ।

कुन्द (आगे बढ़कर) मेरे दाँत दखो, मेरे स दाँत हैं किसी के ?

चम्पा मेरी सी सुन्दर हैं तुम्हारी उँगलिया ?

उषा (नरगिस से) और तेरे क्या सुन्दर हैं ? आँखें, क्यो रे नरगिस !

नरगिस (नरमाकर जुही की ओर इगित कर) देखो अम्मी, जुही कैसी सुन्दर लडकी है !

उषा और जुही तो तुझे प्यार नही करती रे नरगिस । कहती है, तू सांवला है ।

नरगिस (जुही से) तुम मुझे प्यार नही करती । क्यो जुही ?

[दोनों हाथ पकडकर जाते हैं।]

जुही प्यार क्यो नही करती । तुम्हार मुख का तिल कैसा सुदर लगता है । (दोना एक दूसरे का मुख चूमते ह ।)

[कुसुम्भी रग के वस्त्रो मे छोटे छोटे बालको के रूप मे पल्लवों का, एव रग बिरगे सुन्दर वस्त्रो मे, छोटी छोटी बालिकाओं के रूप मे कलियो का प्रवेश । दोनो एक दूसरे की बाँहो मे बँधकर गाते हैं।]

गीत नत्य

दोनो जीव निखिल भगिनि-भ्रात
पुरुष प्रकृति पिता मात ।
कलि जीवन कलि विविध वण,
किसलय जग तरु हम तरुण पण,
दोनो बहुमणि ज्यो जटित स्वण
शोभित नित सग जात ।
दोनो जीवन हो सफल, विफल
रहे, वहे सुख - परिमल
प्रेम - मधु - मधुर उर - तल
दल - दल हो सकल साथ ।

[गीत नत्य समाप्त हो जाने पर सब लोग परस्पर आमोद प्रमोद एव वार्तालाप करते हुए इधर उधर उपवन मे विचरने लगते ह ।]

उषा इस जीवन के पास कितन रूप रग कितन हाव भाव, कितना सुख और सौन्दय है ? यह रूप रग रुचि रखा का ससार ही मुझे सबस प्रिय है । इस जड मिट्टी के आवरण को फाडकर, जीवन की अमर उवरता, अपने ही सजन सुख के कारण, असख्य आकार प्रकार धारण कर, नित्य नव-नव कलि-कुसुमो, भावनाओ कल्पनाओ एव हासोच्छवासो मे फूट फूट पडती है । जीवन की अकलुष स्मिति मिट्टी के अस्थिर अधरो पर से मानो कभी कुम्हलाना ही नही चाहती । किसी अज्ञात सुख स्पश से यह निर्जीव, चेतना शून्य धूलि नयी नयी हरीतिमा मे, नव नव अकुरो मे निरन्तर रोमाचित होती रहती है । जीवन का यह आश्चयजनक अज्ञेय सजन रहस्य हृदय को विस्मय स अवाक कर देता है । केवल इसके सामने श्रद्धापूवक झुक जाने को जी करता है । इन नवीन आशा अभिलाषाओ एव उमगो स उल्लसित जीवन के नवीन शिशुओ के साथ ही मुझे सबस अधिक सुख मिलता है ।

अरुण तुम्हारा भाव प्रवण हृदय सष्टि के सौन्दय पर अत्य त अनुरक्त है प्रिय । गह और आँगन की कल्पना बडी ही सुन्दर और सुखमय कल्पना है । तुम जिस प्रकार सृजन के सौन्दय

पर मुग्ध हो, मैं उसी प्रकार सहार की निदयता स विस्मित हूँ। किस प्रकार यह दुख द्वद्व, पाप परितापमय, उग्र नृशस विनाश विधाता के इस मगलमय विधान को सहायता पहुचा रहा है, सूर्योदय स सूर्यास्त तक मैं यही सोचता हूँ, इसी का अन्वेषण करता हूँ। जब मैं इस श्री-सम्पन्न आँगन का लाँघकर बाहर पैर रखता हूँ, जहाँ दसा दिशाओ के अनेको चराचर मिलते हैं, तब मैं सकलन करना भूलकर विश्लेषण करने लगता हूँ। और तब जीवन के जिस कुरूप अस्थिपजर के दशन मुझे मिलते हैं, उसकी कदयता से मन का मोह मिट जाता है।

उषा मोह का मिटाना ध्येय नही है, नाथ! अनुरक्ति एव मोह को पहचानना ही ध्येय है। जड भी निर्मोही होते हैं, पर ज्ञान घृणा नही करता। इस रूप और रगो की सष्टि से अधिक मनोहर मुझे कुछ नही लगता। जीवन शक्ति के समस्त दशन, ज्ञान, विज्ञान, भावना, कल्पना एव गुणो की अन्तिम और ठोस परिणति इसी नाम रूप के जगत मे है। यही साकार सत्य है! विधाता की अनन्त क्रियात्मक कला—जन्म-मृत्यु, सजन-सहार—समस्त द्वन्द्व, इसी विभिन्नता के वचित्र्य से पूण, मूत विश्व के रूप मे चरिताथ हो रहे है।

अरुण तुम्हारा कहना सत्य है, प्रिये! चाहे रूप से अरूप की ओर देखें, चाहे अरूप से रूप की ओर, दोनो ही प्रकार से परमात्मा के आनन्दमय स्वरूप के दशन मिलते हैं।

[हरे हरे वस्त्र पहने छोटी छोटी दूब की बालिकाओं एव सफेद वस्त्र पहने छोटे छोटे ओस के बालकों का प्रवेश, दोनों परस्पर आलिगन-पाश में बँध, एक दूसरे का मुह चूम चूमकर नत्य करते एव गाते हैं।]

गीत

दूब बालाएँ
लघु लघु धर पग,
छा छा मग जग,
तिरती हम अनन्त जीवन मग!

ओस बाल
जीवन के चल,
हम लघु लघु पल,
हँस हँस नित भरते जग अचल!

दूब
छ छू कोमल
जीवन पद तल,
पुलकित खिल पडते दूर्वा दल!

ओस
चुटकी क्षण, क्षण,
दे - दे जीवन,
बरसाता लोकों के हिम कण!

दूब
हम जग पथ पर

बिछ - बिछ मृदुतर
भव पथिकों का लेती दुख हर !

ओस हम हिमन नभचर
उतर अवनि पर
धोते कलि-दलि का मुख कातर !

दूब तृण तण के वर
प्रभु करुणाकर
जीवन मोती से देते भर !

ओस पतित क्षुद्र जन
को करुणा घन
उठा, लगा उर करते पावन !

[नेपथ्य से पवन की वंशी ध्वनि सुनायी पडती है। पवन और लवे का प्रवेश।]

लवा स्वागत देवि, स्वागत !

उषा प्रसन्न रहो प्रकाश के सन्देश-वाहक !

पवन छोटी चाची ! चलिए, उस सरोवर के किनारे बैठकर आपको प्रेम की विश्वमोहिनी वंशी-ध्वनि पर मुग्ध, आनन्द और उल्लास से आत्मविस्मृत चराचरों का नृत्य दिखाऊँ।

उषा अच्छी बात है चलो।

(सब लोग सरोवर की ओर जाते हैं।)

[उद्यान के दक्षिण ओर गिरि उपत्यका में विशाल निर्मल सरोवर लहरा रहा है। जल का घूंघट हटाकर अर्ध-विकसित सरोज बालाएँ अनिमेष दृष्टि से सूर्योदय की प्रतीक्षा कर रही हैं।]

उषा ये चेतना शून्य पद्म-मुकुल भी निर्निमेष दृष्टि से प्रकाश की प्रतीक्षा कर रहे हैं ! समस्त चराचर एक ही नियम से परिचालित होकर एक ही ध्येय की ओर अग्रसर हो रहे हैं।

[पवन बाँसुरी में तान छेड़ता है, जिसकी ध्वनि से जल स्थल दोनों आनन्दोद्वेलित हो उठते हैं। सरोवर के वक्षःस्थल पर अनेक लहरें उठ उठकर नृत्य करती हुई दृष्टिगोचर होती हैं। और गिरि प्रान्त से अनेक वायु के झकोरे नृत्य करते हुए आकर उनसे मिल जाते हैं। लहरें नवयुवती बालिकाओं के रूप में वायु के झकोरे नवयुवकों के रूप में। लहरें मछलियों की आकृति की सुन्दर, सुरंग सलवारें पहने एवं हलकी सुरंग चूनरी ओढ़े हैं। वायु के झकोरे, जो अपने ही हलकेपन के कारण पानी में नहीं डूबते, हलके आसमानी धूप-छाँह के बारीक वस्त्र पहने हैं - दोनों एक दूसरे के बाहुपाश में बंधकर अंग-भंगी पूर्वक गीत नृत्य करते हैं।]

लहरों का गीत

अपने ही सुख से चिर चंचल
हम खिल-खिल पडती हैं प्रतिपल !

जीवन के फेनिल मोती को
ले-ले चल-करतल मे टलमल!
जाने किस मधु का मलय परस
करता प्राणो को पुलकाकुल
जीवन की लहलह लतिका मे
विकसा इच्छा के नव नव दल!
सुन-सुन मधु मुरली की मृदु ध्वनि
गृह पुलिन लाँघ, सुख से विह्वल,
हम हुलस नृत्य करती हिल मिल,
खस-खस पडता उर से अचल!
चिर जन्म मरण को हँस हँसकर
हम आलिंगन करती पल पल,
फिर फिर असीम से उठ उठकर
फिर फिर उसमे हो-हो ओझल!

हवा के झकोरों का गीत

हम चिर अदृश्य नभचर सुंदर
अपनी ही लघिमा पर निर्भर!
शोभित मृदु नीलांशुक तन पर,
स्मित तुहिन वाष्प से पुलकित पर!
अपने ही सुख से सिहर सिहर
नभ वीणा के-से स्वर्गिक स्वर
छा लेते हम जग का अम्बर
लहरा लहरो से लहरो पर!
अधरो म भर अस्फुट मर्मर,
साँसो से पी सौरभ सुखकर
फिरते रहते हम निशि वासर
चढ चित्रग्रीव चल जलदो पर!
हम साँस साँस मे लास अमर
करते, दुर उर उर के भीतर,
बनकर फिर झझा से दुधर
द्रुत जीर्ण जगत दल लेते हर!
खिल उठते चपल परस पाकर
पुलको से तृण तरुदल सत्वर,
नाचती सग विवसना लहर
बाँहों में कोमल बाँहें भर!

संयुक्त गीत

लहर — हम कोमल सलिल हिलोर नवल,
झकोर — हम मारुत मधुर झकोर चपल!
लहर — हम मुग्धा नव यौवन चचल,
झकोर — हम तरुण, मिलन इच्छा विह्वल!
लहर — हम लाज भीरु खुल पडता तन,
झकोर — सुंदर तन का सौंदय वसन!

लहर — [illegible] हुए मग सब सिहर सिहर,
झकोर — आकुल उर कांप रहा थर थर ।
लहर — [illegible]छवि, भार यह नव-यौवन,
झकोर — नवला का आश्रय आलिंगन ।
लहर — हम जल अप्सरि ।
झकोर — हम वर नभचर ।
दोनो — है प्रेम पाश स्वर्गीय, अमर ।

[दोनों गीत-नृत्य करते करते सरोवर मे श्रोझल हो जाते हैं । पवन बाँसुरी बजाना बन्द करता है । प्राची की ओर, गिरि शिखरों के अन्तराल से, उदित होता हुआ सूर्य बिम्ब दिखलायी पड़ता है । सरोवर मे कमल खिल गये हैं । मध्यवर्ती एक विशाल नीलोत्पल पर आकाश से मानो आलोक का एक जाज्वल्यमान निर्झर बरस पड़ता है, जिसके भीतर उज्ज्वल रश्मियों से निर्मित, देवबाला की तरह, प्रकाश की सूक्ष्म आभा मूर्ति दिखायी पड़ती है । सारा विश्व आलोक प्लावित हो उठता है ।]

उषा — कैसा दिव्य स्वरूप है ।

[सहसा वीणा की सी गुंजार सुनायी पड़ती है । चारों ओर से नीले पीले रेशमी वस्त्रों से भूषित भौंरों के बालक और बालिकाएँ आकर पख खोले, नीलोत्पल के चतुर्दिक मँडराकर गीत नृत्य करते हैं । ओस फूल, दूब, पल्लव किरणें आदि सब किनारे पर एकत्रित होकर मूक भाव-नृत्य-पूर्वक प्रार्थना मे सम्मिलित होते हैं ।]

गीत

अविचल, अतल, अकूल, अमल जल,—
विकसित जिसमें, जीवन शतदल
नाम - नाल पर विपुल रूप दल ।
बहु छवि, बहुरँग रुचि रंजित दल ।
प्रचुर कामना चय मरन्द कल,
गुंजित, पुंजित दिशि दिशि चंचल
अखिल चराचर आकुल अलिदल ।
सुख परिमल पुलकित भव - अंचल,
निखिल प्रेम मधुमय अन्तस्तल,
मधुरस पूरित, मुखरित प्रतिपल
विशद विश्व मधुमल गृह अविकल ।

[गीत अभी समाप्त नहीं होता यवनिका गिरती है ।]

श्री सुमित्रानंदन पंत

कौसानी, जि० अल्मोड़ा में जन्म २० मई, १९००। जन्म के छः घण्टे बाद माँ की मृत्यु। गोसाईंदत्त नामकरण। १९०५ में विद्यारम्भ। १९०७ में स्कूल में काव्यपाठ के लिए पुरस्कार। १९१० में अपना नाम बदलकर सुमित्रानंदन रखा। १९११ में अल्मोड़ा के गवर्नमेंट हाईस्कूल में प्रवेश। १९१२ में नेपोलियन के चित्र से प्रभावित होकर केशवर्धन। १९१५ से स्थायी रूप से साहित्य-सृजन। पहले हस्तलिखित पत्रिका 'सुधाकर' में कविताओं का प्रकाशन, और फिर १९१७-२१ के बीच 'अल्मोड़ा अखबार' तथा 'मर्यादा' आदि पत्रों में। जुलाई १९१९ में म्योर सेन्ट्रल कालिज, प्रयाग, में दाखिल हुए लेकिन १९२१ में असहयोग आंदोलन से प्रभावित होकर कालिज छोड़ दिया। १९३० में द्विवेदी पदक। १९३१ से '३४ और '३६ से '४० तक की अवधि कालाकाँकर में। १९३८ में 'रूपाभ' का सम्पादन, रवीन्द्रनाथ, कार्ल मार्क्स और महात्मा गांधी के विचारों का अवगाहन। १९४० में उदयशंकर संस्कृति केन्द्र में ड्रामा-कार्यक्रम। १९४३ में उदयशंकर संस्कृति केन्द्र के वैतनिक सदस्य बन और 'कल्पना' फिल्म के गीतों की रूपरेखा तैयार की, कुछ गीत भी लिखे। १९४४ में पाण्डिचेरी की यात्रा, अरविन्द की विचार-साधना से विशेष प्रभावित। १९४७ में सांस्कृतिक जागरण के लिए समर्पित संस्था 'लोकायन' की स्थापना। १९४८ में देव पुरस्कार, १९४९ में डालमिया पुरस्कार। १९५०-५७ में आकाशवाणी के परामर्शदाता। १९६० में 'कला और बूढ़ा चाँद' पर साहित्य अकादमी पुरस्कार। १९६१ में पद्मभूषण की उपाधि। १९६१ में रूस तथा यूरोप की यात्रा। १९६५ में उत्तर प्रदेश शासन की ओर से १०,०००रु० का विशेष पुरस्कार। १९६५ में ही सोवियतलैण्ड नेहरू पुरस्कार 'लोकायतन' पर। १९६७ में विक्रम, १९७१ में गोरखपुर, और १९७६ में कानपुर तथा कलकत्ता वि० वि० द्वारा डी० लिट० की मानद उपाधियाँ। दिसम्बर १९६७ में भाषा विधेयक के विरोध में पद्मभूषण की उपाधि का परित्याग। १९६९ में साहित्य अकादमी की 'महत्तर सदस्यता'। १९६९ में ही 'चिदम्बरा' पर भारतीय ज्ञानपीठ पुरस्कार मिला। २८ दिसम्बर, १९७७ को देहावसान।